भाव-चिन्तन

डॉ० दरवेश सिंह

- डा० दरवेश सिंह ने 'भाव–चिन्तन' के निबन्धों के माध्यम से हिन्दी–निबन्ध साहित्य की धरित्री पर उस सरस्वती सरिता को पुनः प्रवाहित किया है, जो आचार्य शुक्ल–युग के उपरान्त सूख गयी थी।

- यदि हम हिन्दी–साहित्य के निबंधकारों– पं० अम्बिकादत्त व्यास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० कुबेरनाथ राय के निबंधों के साथ डा० दरवेश सिंह के निबंधों की भाषा–अभिव्यंजना की तुलना करें, तो डा० सिंह के निबंध हमें पं० अम्बिका दत्त व्यास के निकट बैठे हुए दिखाई देंगे।

- 'भाव–चिन्तन' पुस्तक का लेखक अपने निबन्धों में प्रसाद गुण के कारण भावाभिव्यंजना में सावधान है अतः आनन्दानुभूति में सफल है। भावयोग और बुद्धियोग की भूमियों पर खड़े होकर यदि पाठक इन निबंधों को पढ़ेगा, तो निश्चय ही उसे लेखक की भाषाभिव्यंजना में चिन्तना के साथ भावना में रस की बूँदें भी मिलेंगी। चिन्तन के दर्शनरूपी जल में भावात्मक काव्यरूपी मधु की बूँदें मिलाकर इन निबंधों की वाक्यावली में लालित्यमय आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।

भाव-चिन्तन

(विचारात्मक एवं मनोवैज्ञानिक निबन्ध)

भाव-चिन्तन

(विचारात्मक एवं मनोवैज्ञानिक निबन्ध-संग्रह)

डा० दरवेश सिंह

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) -251001

卐 समर्पण 卐

जिनकी मीठी फटकारों ने मुझे,
जो दृष्टि प्रदान की,
उस दृष्टि का—
अपने चहेते दृश्यों, विषयों की ओर गमन,
यह **'भाव-चिन्तन'**
उन्हीं—
परम श्रद्धेय गुरुवर
साहित्यवाचस्पति डा० अम्बाप्रसाद जी 'सुमन' डी० लिट्०
के कर्मठ करों में
सादर ।

—दरवेश

० दृष्टि-अभिसार

o आत्म निवेदन

'भाव-चिन्तन' यह निबन्ध-संग्रह हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत है। कैसे हैं इसमें संकलित निबन्ध, इसका निर्णय तो मनीषी विद्वान् ही करेंगे। मैं क्या कहूँ? कुछ बातें हैं, जिन्होंने मुझे लेखन की ओर उन्मुख किया। संक्षेप में, मैं उन्हीं को निवेदित करना चाहता हूँ। मैंने कहीं पढ़ा था (संभवतः गुरुदेव डा० सुमन जी की किसी पुस्तक में) कि 'दुनिया में उसने बड़ी बात कर ली। अपने से जिसने मुलाकात करली।' ऐसे ही डा० इकबाल का यह शेर भी मुझे मथता रहा है कि—

"ढूँढ़ता फिरता हूँ ऐ इकबाल अपने आपको।
आप ही गोया मुसाफिर आप ही मंजिल हूँ मैं॥"

अपने आपको जानलेने की धुन मुझपर सवार हो गयी और है। पता नहीं कब मिलूँगा मुझे मैं और कैसे मिलूँगा? हाय! मैं खो गया हूँ!! ढूँढ़ने के रास्ते खोजे तो न भक्ति, न ध्यान, न योग—एक चिन्तन और लेखन से कुछ धुँधलका छटने की आशा बँधी। जीवन और जगत् मेरे गुरु बने तथा अनुभूतियों की अभि-व्यंजना मेरी साधना। अन्तर्मुखी मेरा स्वभाव है इसलिए मेरी समूची मानसिकता भावमय हो गयी। मनोभावों के इतने लोगों के दर्शन हुए हैं मुझे कि न तो उन सबको नाम दिये जा सकते हैं और न उनका चित्रण किया जा सकता है। सूत्र रूप में : भावों के अलावा संसार में मुझे कुछ और दिखायी न दिया—

"लो आओ तुम्हें बताऊँ तिलिस्मे जहाँ का राज।
जो कुछ भी है खयाल की मुट्ठी में बंद है॥"

आँखें बन्द करके जब-जब मैंने खयाल (चिन्तन और विचार) की मुट्ठी को खोला है तब-तब मेरे भीतर से एक भावबिम्ब उभर कर मेरे सामने आकार धर कर खड़ा हो गया है। मैंने प्रयास से नहीं लिखा, उस विषय-बिम्ब ने अपनी पोर-पोर का परिचय देकर मुझसे जबर्दस्ती लिखवा लिया है और जो लिखा गया है, वह शायद निबन्ध हैं। वैसे मैं अभी भी नहीं जानता कि निबन्ध क्या है?

मेरे अन्तःकरण से भावों की वेगमयी धाराएँ एक साथ फूटी हैं और विचारों के इतने रेले आये हैं कि उन्हें सम्हालना मुश्किल हो गया है, लेकिन बुद्धि और तर्क के किनारों ने उन्हें बाहर नहीं बहने दिया। ऐसा मेरा अपना विचार है।

बहु अधीत और बहुपठ मैं नहीं हूँ। चिन्तन की वीणा को ही मैंने इतना कसा है कि कभी-कभी तो लगा है कि सारे तार ही टूट जाएँगे। मेरा हृदय किसी भी चीज को शास्त्र से या पराये अनुभव से देखना पसन्द नहीं करता। मेरी आँख ने पहले अपने आपको देखा है, फिर अपनी धरती, परिवार, समाज, देश और परि-

स्थितियों को परखा है, तब मेरे चैतन्य का तौशन ऊपर को उड़ा है। आध्यात्मिकता की लगाम कहीं भी ढीली नहीं हुई।

पारिवारिक कलह, भाई-भाई के बीच मनमुटाव, बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता, हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टराजनीति, बढ़ती हुई विदेशी संस्कृति, अश्लीलता, मंदिर-मस्जिदों के झगड़, आतंकवाद आदि विषयों पर अधिकांश निबन्धों में मेरे आँसू बहे हैं। मैं सोचता रहा हूँ कि आज आदमी पशु पक्षियों से भी गया गुजरा हो गया है। हम जरा सोचें कि :

"परिन्दों में भला फिरकापरस्ती क्यों नहीं होती ?
कभी मंदिर पे जा बैठे कभी मस्जिद पे जा बैठे ॥"

इन सारी बातों को मैंने आदमी के मन की भीरती परतों को उघाड़-उघाड़ कर देखने का प्रयास किया है। कितना सफल है यह प्रयास ? इसे तो बुधजन ही जानें। मनोविज्ञान की भूमि पर पाँव टेक कर मैंने मानवीय और सामाजिक यथार्थ के दर्शन किये हैं। कोरे किताबी आदर्श मुझे भाये नहीं। इसलिए कुछ बातें किसी-किसी निबन्ध में उल्टी और अनर्गल भी लग सकती हैं। इन निबन्धों के माध्यम से प्रतिकूल में से अनुकूल को और असत् में से सत् को खोजने की चेष्टा की गयी है। अनुकरण मुझे रास नहीं आया।

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ ......' कबीर का यह वचन मेरा आदर्श रहा है। दूसरों के उद्धरण इन निबंधों में आ गये हैं। वे जाने कब-कब सुन-पढ़ कर अवचेतन में इकट्ठे होते रहे, जो अपनी अनुकूल भावस्थितियों और विचार सरणियों को देख अचानक कूद आये हैं। उद्धरण रटकर या सोचकर फिट नहीं किये गये हैं। मेरी अन्तर्मुखी संश्लिष्ट भाव-व्यंजना ने कहीं-कहीं रूपकों, सांगरूपकों की सृष्टि की है।

विषय, दृश्य या विचार नये और सर्वथा मौलिक नहीं होते। देखने की दृष्टि और उस पर चढ़ा हुआ स्वानुभव का रंग नया और मौलिक हो सकता है, जो सबका अलग होता है। जो बहुत पुरानी बातें कही जाती हैं, वे आज भी उतनी ही नयी हैं और आने वाले कल में भी उतनी ही नयी रहेंगी; क्योंकि नया सम्भवतः वही है, जिसे आदमी छोड़ नहीं पाता और जिसे छोड़ देता है या जिसे अपनाने में कोई विवशता होती है, उसी को पुराना कह दिया जाता है। दुर्गुणों को आम आदमी छोड़ नहीं पाता; क्योंकि ये सदा नये और आकर्षक लगते हैं और सद्गुणों को पहन नहीं पाता; क्योंकि ये सदा पुराने और विकर्षक लगते हैं। लेकिन पुराने में बड़ी जान है। मैंने उन्हीं शाश्वत पुरानों को नया बनाने की कोशिश की है। लोकोक्तियों और मुहावरों पर नव्य चिन्तन इसका प्रमाण है।

सत्य व्यक्तिगत होता है। जो जिसको दिखायी दे जाए, उसके लिए सत्य वही है। जो दिखायी न दे और अनुभव में न आये, वह होते हुए भी सत्य नहीं है। इसलिए जरूरी नहीं कि एक का सत्य किसी दूसरे के लिए भी सत्य हो। वैसे इस झूठी दुनिया में सत्य या तो मजाक है या फिर सफेद झूठ। हाँ उसी भावभूमि पर

पहुँचे हुए सच्चे भावक को वही सत्य दिखायी दे सकता है। मैंने इन निबंधों के माध्यम से कुछ-कुछ सत्य की झलक देखी है।

गिर-गिर कर जो अपने आप उठकर चलने लगता है और फिर प्रथम श्रेणी का धावक बन जाता है, प्रेरणा का सच्चा स्रोत वही है। मेरा बाहरी परिचय यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। मुझ जैसे किसी भाई को उससे थोड़ी सी भी प्रेरणा मिली तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

एक कहावत है कि 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़े।' मेरी उम्र के तीसरे वर्ष में मुण्डन संस्कार हुआ। इसके बाद जैसे ही मेरे नन्हें पैरों ने गलि-गलियारे नापने शुरू किये कि पोलियो (लकवा) के ओले पड़ गये। नये कोमल शरीर के सारे अंगपल्लव तहस-नहस हो गये। मैं लुंज-पुंज हो गया। माँ-बाप का पहला दुलारा बेटा था। मुझे लकवा क्या मारा, सारे घर को फालिज मार गयी। कोई नहीं कहता था कि यह बच्चा अपने आप उठ-बैठ भी पाएगा ? पर बलिहारी उस परमेश्वर की 'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै' और उसकी कृपा से, जिसके हाथों में कलम पकड़ने का भी दम नहीं था, वह एम० ए० तक पहुँचा और १९६९ में ७२% अंक प्राप्त कर विश्व विद्यालय टॉप कर गया। गुरुजनों ने उठाकर सीने से लगा लिया। उनकी आँखों का तारा बन गया। ईश्वर को तो ईश्वर मैंने गुरुओं को परमेश्वर माना है।

मेरा अनुभव है कि बाहरी विकृति या बाहरी कुरूपता बड़ी शक्तिशालिनी होती है, यदि वह भीतर से कुरूपता न समझी जाए तो। मैंने अपनी शारीरिक विकृति को विकलांगता नहीं, अपितु ईश्वर की अनुपम चित्रकारी समझा है, अद्वितीय विशेषता समझा है। माता-पिता और गुरुओं के अलावा अपने लिए दया शब्द मुझे गोली के मानिन्द लगता है। विकलांगता के आधार पर या दया के नाम पर मुझे कोई स्वर्ग का भी राज्य दे तो मुझे स्वीकार नहीं। अदीनता मेरी साँस है। कर्म मेरी धड़कन है। हिम्मत मेरी आत्मा है। जब तक दम में दम रहेगा, स्वाभिमान को गिरने न दूँगा और अभिमान को उठने न दूँगा। 'स्वावलम्बन' निबन्ध मेरा ही आत्म-परिचय है। मेरी आत्मा में घर करके बैठ गयी है यह बात कि—

"पानी है मंजिल अगर तो अपना रहनुमा आप बन।
डूबा है अक्सर वही, जिसको सहारा मिल गया॥"

उठ-उठ कर गिरा हूँ। गिर-गिर कर उठा हूँ। इतने झंझा, इतने तूफान आये हैं इस नन्हें से चिराग पर कि कभी-कभी तो लगा है कि अब बुझा कि तब बुझा ! लेकिन जब-जब यह दीपक बुझने को हुआ, तब-तब किसी अज्ञात सत्ता ने उसमें दो बूंद तेल टपका दिया और जब-जब किश्ती डूबने को हुई तब-तब किन्हीं अदृश्य हाथों ने लंगर थाम लिया। दूसरों के सामने अपना दुखड़ा रोने का जब-जब मन हुआ, तब-तब प्रसाद जी की इस पंक्ति ने आकर मेरे होठों पर उँगली रख दी कि—

"निकल मत बाहर दुर्बल आह, लगेगा तुझे हंसी का शीत।"

भीतर ही भीतर मेरी जिन्दगी मुझे आँसुओं के जाम पिलाती रही। एकान्त में वे जाम कभी छलके भी खूब हैं ! "जिन्दगी एक आँसुओं का जाम था।
पी गये कुछ और कुछ छलका गये।"

बचपन से ही मेरे लिए सुख-सुविधाओं की कमी नहीं रही, लेकिन मैंने अपने आप कुआँ खोद कर अपनी प्यास बुझानी चाही है। हर बात में दूसरों का सहारा मुझे स्वीकार नहीं। मनुष्य की कमजोरी का या परावलम्बी बन जाने का कारण वे बड़े लोग बन जाते हैं जो लाड़-प्यार में या हमदर्दी में बच्चे को ठंडे-गर्म से बचाते रहते हैं और कहते हैं कि जब तक हम हैं, तब तक तुम्हें क्या चिन्ता ? बस यह धीमा जहर बच्चे को निष्क्रिय और परोपजीवी बना देता है।

मैंने अपनी कमियों को देखकर यही सोचा कि मुझे इसीलिए अँधेरा दिखायी देता रहा कि किसी ने मेरे लिए पहले ही दीपक जला कर रख दिया था—आज मुझे बुझे हुए खाली पात्रों की चाह है, ताकि मैं एक नया दीपक जला सकूँ। मैं इसीलिए राख से जलता रहा कि किसी ने मेरे लिए पहले ही आग जलाकर रख दी थी,—आज मुझे गीली लकड़ियों का ढेर चाहिए, ताकि मैं एक नयी आग पैदा कर सकूँ !! मैं इसीलिए गुन नहीं पाया कि दूसरों के अनुभव पढ़ता रहा—आज मुझे कोरे कागज चाहिए ताकि मैं जीवन की किताब लिख सकूँ !! मैंने फूलों की ओर से इसीलिए मुँह मोड़ लिया था कि फूली हुई फुलवारी मुझे तैयार मिली थी,—आज मुझे काँटों की बाढ़ चाहिए, ताकि मैं एक नये उद्यान का अनुसंधान कर सकूँ !!

केवल धन के लिए, पद के लिए, झूठी प्रतिष्ठा के लिए हाथ पैर मारना या जरूरतों से अधिक संग्रह के पीछे मुझे आदमी की दरिद्रता दिखायी दी है। सम्पन्न वही है जिसका मन आध्यात्मिक है और विपन्न वही है. जो आकंठ भौतिकता में डूबा है। फिर तो जीवन, जीवन कहाँ ? एक सौदागरी है, जो अन्त में कफन के अलावा और कुछ देकर नहीं जाता।

'उम्र भर की यह मगर सौदागरी
बस कफन ही दे सकी इन्सान को।"

लगभग बीस वर्ष पहले मेरी लेखनी ने घुटनों चलना शुरू किया। वह कविता की भाषा में बोली, गीत, गजल और मुक्तकों की भाषा में बोली—तोतली भाषा में उसने कहानी भी कही; लेकिन उसका हकलाना-तुतलाना न छूटा; पर जब उसने निबन्ध की भाषा में बोलना शुरू किया तो लगा कि कुछ सध जाएगी। अब लगता है कि मेरी अभिव्यक्ति की विधा निबन्ध ही है और यही मुझसे मेरी मुलाकात कराएगी। लेकिन अभी ज़बान फर्राट नहीं है। जो कहना चाहता हूँ, वही नहीं कह पाता।

प्रदर्शन से मुझे चिढ़ है। मेरी एकान्त साधना हिचकोले खाती हुई चलती रही, बिना यह परवाह किये कि बिना कुछ किये लोग मुझे जानें, मानें और मेरी तारीफ करें। बिना काम किये नाम का विज्ञापन कोरा दम्भ है। फूल जब अपनी

पूर्णता में खिल जाता है तो हवाएँ उसकी गंध को दिग्दिगन्त तक फैला देती हैं। भौंरों और तितलियों को अपने आप पता चल जाता है कि कहीं कोई फूल खिला है। फूल को विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है :

'फूल डाली से गुँथा ही रह गया,
घूम आई गंध पर संसार में।'

संसार में तो नहीं, मेरे परिचितों और कतिपय पत्र-पत्रिकाओं तक थोड़ी-थोड़ी गंध पहुँचने लगी। कई तरह के अनुभव हुए। किसी का यह कथन भी सत्य मालूम हुआ कि 'शौहरत को हर कदम पे है दुश्मनी का खतरा।' उपेक्षा भी मिली। व्यंग्य भी कसे गये। मैं अकेला रह गया। परन्तु मेरा अनुभव और चिन्तन गम्भीर होता गया और आज एक शायर का यह कथन मेरे ऊपर बखूबी लागू हो रहा है कि—

"गये दिन कि तनहा था मैं अंजुमन में
यहाँ अब मेरे राजदाँ और भी हैं।"

मैं अपने उन परम आत्मीयों, मित्रों और पूज्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना यहाँ अपना परम धर्म मानता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुझे प्रेरणा दी, मेरा पथ-प्रदर्शन किया।

इन विद्वानों में गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूर्व आचार्य, हिन्दी गद्य-साहित्य के अधीती विद्वान् डा. रामचन्द्र जी तिवारी के चरणों में, मैं नमन करता हूँ, जिन्होंने अपने आवास पर, एक ही बैठक में मुझसे आठ निबन्ध सुने, सराहे और कुछ कमियों को सुधरवाकर सारे निबन्धों को पुस्तकाकार रूप में, हिन्दी जगत् के सामने लाने की सलाह दी।

हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य प्रो. सतीशचन्द्र जी सक्सैना का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे महाविद्यालय के शिक्षणेतर कार्यों से विरत रख मुझे लेखन चिन्तन का पूरा मौका दिया। सदा मेरी हिम्मत बँधाई। मुझे प्रोत्साहन देते रहे।

मेरे अग्रज-कल्प, हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री विजयरंजन जी वर्मा को मैं कभी नहीं भूल सकता, जिनको मेरे निबन्ध सुने बिना चैन नहीं पड़ता था। उनकी विवेकमयी टिप्पणियों ने मुझे राह दिखायी है। मर्म को पकड़ने वाली इतनी बारीक दृष्टि मैंने बहुत कम लोगों में देखी है।

अपने महाविद्यालय-परिवार के उन सभी बन्धुओं को मैं धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरे निबन्धों पर गोष्ठियाँ आयोजित करके मेरा मान बढ़ाया।

मुझे किसी लायक बनाने वाली, मेरी स्वर्गीया माँ की स्मृति को मेरे लाखों नमन। शान्त स्वभाव वाली मृदुभाषिणी, अपनी जीवन संगीनी का मैं ऋणी हूँ, जिसने घर की जरूरतों के लिए कभी मुझे परेशान न होने दिया। दोनों बच्चियों का तो मैं अपराधी हूँ कि अपने पढ़ने लिखने के पीछे, उन्हें कभी पढ़ाने नहीं बैठा।

'भाव-चिन्तन' के विद्वान् प्रकाशक आदरणीय बन्धुवर डा. कमल सिंह जी को तो धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, जिनके अथक प्रयास से यह पुस्तक हिन्दी जगत् के सामने आ सकी है।

उँगलियों पर गिनने लायक कुछ विद्वानों में अग्रगण्य, ऋषितुल्य गुरुवर डा. अम्बाप्रसाद जी 'सुमन' का तो मैं सात जन्मों तक ऋण नहीं उतार सकता, जिनकी फटकारों से मेरी आँखें खुलीं। 'भाव चिन्तन' की भूमिका लिखकर गुरुदेव ने टाट में रेशमी पैबन्ध लगाये हैं। हो सकता है कि पारस परस से कुधातु सुहानी हो जाए। उनके कर्मठ करों में यह पुस्तक समर्पित है—मेरा तन, मन, धन समर्पित है। "त्वदीयं वस्तु गोविन्द ... "

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
१९९४ ई०

विद्वज्जन कृपाकांक्षी
दरवेश सिंह
हिन्दी विभाग, जवाहर लाल नेहरू
पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, महाराज गंज
२७३३०३ (उ. प्र.)

० भूमिका

(साहित्य वाचस्पति डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', डी० लिट्०)

किसी भाषा के वाङ्मय की कलामयी ललित सामग्री **'साहित्य'** कहलाती है। साहित्य का लालित्य ही उसे 'वाङ्मय' से अलग सिद्ध करता है। साहित्य की सृष्टि गद्यात्मक भाषा में भी हो सकती है और पद्यात्मक भाषा में भी। पद्य में जब भावात्मक–कला–कल्पनामयी–संवेदनशीलता की संवृद्धि हो जाती है, तब उसकी संज्ञा **'कविता'** हो जाती है। संस्कृत साहित्य में **'काव्य'** शब्द का प्रयोग **'साहित्य'** के ही अर्थ में होता था। संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों ने गद्य को भी **'काव्य'** माना है। 'नाटक' की रचना गद्य और पद्य–दोनों में होती थी। 'नाटक' को 'काव्य' ही कहा जाता था। उक्ति है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्, तत्र रम्या शकुन्तला।"

संस्कृत में **प्रबन्ध** उस रचना को कहा जाता था, जो अपने मुख्य प्रयोजन को नहीं छोड़ती थी। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध' (सर्ग २/७३) में कहा है—

"अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः।"

—शिशुपाल वध सर्ग २/७३

(मुख्य प्रयोजन से सम्बन्ध न छोड़नेवाला प्रबन्ध कठिनाई से प्रस्तुत किया जाता है।)

विशेष रूप से बँधी हुई रचना **निबन्ध** कहलाती है।

तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' को **निबन्ध** भी कहा है और **प्रबन्ध** भी। तात्पर्य यह है कि तुलसी की दृष्टि में **निबन्ध** और **प्रबन्ध** एक–सी ही काव्य-रचनाएँ हैं अर्थात् जो काव्य-विधा **निबन्ध** है, वही **प्रबन्ध** है।

तुलसीदास 'रामचरितमानस' को **निबन्ध** कहते हैं—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषा**निबन्ध**मतिमंजुलमातनोति।"

—रामचरितमा० बाल० श्लोक ७

उसी 'रामचरित मानस' की रचना को तुलसी **प्रबन्ध** भी कहते हैं—

"जो **प्रबन्ध** बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥"

—मानस, बाल० १४/८

हिन्दी साहित्य के गद्य रचनाकारों ने अंग्रेजी के प्रभाव से निबन्धों की रचना एक विशेष विधा के रूप में मानी थी। उनकी दृष्टि में **निबन्ध** विषयिप्रधान रचना थी और **प्रबन्ध** विषयप्रधान रचना थी।

बेकन ने 'निबन्ध' को 'मस्तिष्क का बिखरा हुआ विचार' बताया था। निबन्ध-रचना में से उसके रचनाकार का स्वभाव भी झाँकता दृष्टिगोचर होता है। प्रबन्ध में लेखक विषय की शृंखलाबद्धता पर विशेष ध्यान देता है। शोध ग्रन्थों को **प्रबन्ध** कहना चाहिए। **प्रबन्ध** आकार में **निबन्ध** से बड़ा होता है। यदि 'ताजमहल' पर दो प्रबन्ध लिखे जाएँ, तो दोनों की बनावट एक-सी होगी, केवल बुनावट में अन्तर हो सकता है।

यदि 'ताजमहल' पर दो निबन्ध लिखे जाएँगे, तो उनकी बनावट और बुनावट में बहुत अन्तर होगा। यदि एक निबन्ध का रचनाकार गम्भीर होगा, तो उसके गम्भीर स्वभाव की झलक उसके निबन्ध में आएगी। दूसरे निबन्ध का रचनाकार यदि विनोदी स्वभाव का होगा तो उसके निबन्ध में विनोदशीलता की झलक मिलेगी।

जॉनसन ने 'निबन्ध' की परिभाषा लिखी थी, 'मुक्त मन की मौज'। निबन्ध की गद्य-रचना में रचनाकार को विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह इच्छानुसार उछल–कूद कर सकता है। निबन्ध–रचनाकार विषय–शीर्षक का एक सूक्ष्म विचार–सूत्र अवश्य पकड़े रहता है, इतना ही बन्धन 'निबन्ध' की सृष्टि में निबन्धकार का समझना चाहिए; बाकी तो वह मनमौजीपन से दौड़ लगाता रहता है। उस मनमौजीपन में निबन्धकार अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर विचार-धाराएँ प्रवाहित करता रहता है। कभी भावुक होकर, कभी तर्कशील होकर।

कुछ निबन्धकार **भावात्मक अभिव्यक्ति**, कुछ **विचारात्मक अभिव्यक्ति** और कुछ **उभयात्मक अभिव्यक्ति** करते हैं। कुछ सीधे–सरल ढँग की **वर्णनात्मक अभिव्यक्ति** के पक्षधर होते हैं। कुछ की अभिव्यक्ति **कथात्मक** भी होती है।

अभिव्यक्ति की शैलियाँ भी निबन्धकारों की अलग–अलग होती हैं। कोई अपनी अभिव्यक्ति **निगमन शैली** में करता है और कोई **आगमन शैली** में।

निगमन शैली (Inductive Style) का निबन्धकार पहले किसी सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है, फिर अन्त तक उसकी विवेचना में लीन रहता है। अर्थात् प्रथम निष्कर्ष फिर व्याख्या।

आगमन शैली (Deductive Style) का निबन्धकार पहले तथ्य उपस्थित करता है। फिर उन तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। निष्कर्ष में वह अपने उद्दिष्ट सत्य का उद्घाटन करता है। सारांश यह कि प्रथम व्याख्या, फिर निष्कर्ष।

मनु द्वारा 'मनुस्मृति में निर्दिष्ट 'मध्यदेश' की जनभाषा विकसित होते-होते ग्यारहवीं शती में **'हिन्दी'** नाम से विख्यात हो गयी थी। उन्नीसवीं शती से पहले तक 'हिन्दी' मुख्य रूप से पद्य में ही बोलती थी। उन्नीसवीं शती के उपरान्त उसने गद्य में भी बोलना आरम्भ कर दिया था। **वह बोलना व्यवस्थित था।**

सन् १८५० ई० में हिन्दी के आकाश में एक चमकता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ था, जिसने हिन्दी के गद्यात्मक रूप को भी चमका दिया था। भारत के उस इन्दु की ज्योति ने हिन्दी–गगन के अन्य कुछ नक्षत्र भी ज्योतिष्मान् बना दिये थे। उन ज्योतिष्मान् नक्षत्रों में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने अधिक ख्याति प्राप्त की थी। बाल कृष्ण भट्ट **'हिन्दी प्रदीप'** और प्रतापनारायण मिश्र **'ब्राह्मण'** पत्र भी निकालते थे। इन दोनों को वर्तमान हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का जनक कहा जा सकता है। निबन्ध विधा में जिस वैयक्तिकता की झलक अनिवार्य होती है, वह झलक भट्ट जी और मिश्र जी के निबन्धों में पायी जाती है। भट्ट जी का **'चन्द्रोदय'** शीर्षक निबन्ध और मिश्र जी का **'धोखा'** शीर्षक निबन्ध आज भी आदर्श निबन्ध माने जाते हैं। भट्ट जी के स्वभाव की गम्भीरता और मिश्र जी के स्वभाव का मस्तमौलापन उनके निबन्धों में पाठकों को स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान हिन्दी भाषा के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-गद्य में दो प्रकार की भाषा-शैलियाँ प्रस्तुत कर चुके थे—(१) भावावेश की शैली (२) तथ्यनिरूपण की शैली।

भारतेन्दु–युग के हिन्दी–निबन्धकारों को निबन्ध–लेखन के लिए दोनों प्रकार की शैलियाँ मिल ही चुकी थीं। अतः भावात्मक निबन्धों को वे भावावेश शैली में और विचारात्मक निबन्धों (चिन्तन प्रधान निबन्धों) को तथ्यनिरूपण शैली में लिखते थे। मिश्र जी के निबन्धों में भावात्मकता और भट्ट जी के निबन्धों में विचारात्मकता पायी जाती है। 'चन्द्रोदय' में उपमान-विधान का सौन्दर्य है।

भारतेन्दु–युग के मनोवैज्ञानिक निबन्धकारों में पं० अम्बिका दत्त व्यास का नाम शीर्षस्थ है। व्यास जी भारतेन्दु जी से आठ वर्ष छोटे थे। उन्होंने मनोवैज्ञानिक निबन्ध अधिक लिखे थे। उनमें **धैर्य, क्षमा** आदि शीर्षक निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु–युग के उपरान्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास में महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग आता है। इस युग में हिन्दी–गद्य का पर्याप्त परिष्कार हुआ। आचार्य द्विवेदी जी की 'सरस्वती' पत्रिका ने हिन्दी गद्य को व्याकरणसम्मत बनाया और उसमें प्रांजलता के दर्शन होने लगे। जो हिन्दी–गद्य फोर्टविलियम कालेज, कलकत्ता के तत्त्वावधान में लिखा गया था, उसका परिष्कृत और प्रांजल स्वरूप आचार्य द्विवेदी के प्रयास से उस स्तर पर पहुँच गया कि उसमें निबन्ध तथा समालोचना की आशाजनक सामर्थ्य हमें दिखायी देने लगी। तभी द्विवेदी युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों ने सच्चे अर्थों में निबन्ध–साहित्य की सृष्टि की। उन्होंने आलोचनात्मक निबन्धों के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे। उनकी चिन्तामणि भाग १ तथा भाग २ में उनके मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक निबन्ध संगृहीत हैं। उनमें काव्यशास्त्र के भावरस-सिद्धान्तों की मीमांसा भी है।

आचार्य शुक्ल गम्भीर स्वभाव के विनोदशील साहित्यकार थे। वे कभी

हँसते भी थे, तो मूँछों ही मूँछों में हँसते थे। उनका विनोद कभी–कभी हल्के व्यंग्य से भी भरा रहता था। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध हिन्दी–निबन्ध साहित्य की अमूल्य थाती हैं। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में उनके गम्भीर विनोदी स्वभाव की झलक कहीं–कहीं मिल जाती है। उसके कारण उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध कुछ व्यक्ति प्रधान रचना सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ हमारे पाठकों को यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि चिन्तामणि भाग-१ में शुक्ल जी के निबन्ध तीन प्रकार के हैं— (१) साहित्यसिद्धान्त विषयक (२) साहित्यालोचन विषयक (३) मनोविज्ञान विषयक।

क्रोध, लोभ, प्रेम, श्रद्धा आदि का विवेचनात्मक चिन्तन उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों का उदाहरण है। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को शुद्ध व्यक्तिप्रधान निबन्ध नहीं कहा जा सकता। **श्रद्धा, भक्ति, करुणा, प्रेम, लज्जा, ग्लानि** आदि भावों का बहुत गम्भीर एवं तुलनात्मक विवेचन किया गया है। उनकी शास्त्रीय व्याख्यात्मक विवेचना पाण्डित्यपूर्ण है। उनके निबन्ध दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान की भूमि पर लिखे जाने पर भी साहित्यिक सम्पत्ति ही माने जाते हैं। शुक्ल जी उनमें यत्र-तत्र गम्भीरता त्याग कर सहज बात-चीत, हास्य, व्यंग्य तथा मधुर संभाषण का भी पुट लगा देते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध कुछ-कुछ व्यक्ति प्रधान रचना की चमक-सी भी दिखा देते हैं। उन्होंने लिखा— "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है" एक स्थल पर लिखा—"प्रेम स्वप्न है और श्रद्धा जागरण।" ये मनोवैज्ञानिक कथन पंडितों के लिए हैं।

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध पूरी तरह से व्यक्ति प्रधान ललित निबन्ध नहीं हैं। इस कसौटी पर बाबू गुलाबराय जी के निबन्ध पूरी तरह खरे उतरते हैं। **'ठलुआ क्लब'** और **'मेरी असफलताएँ'** आदि निबन्ध–संग्रहों के निबन्धों को हम व्यक्ति प्रधान ललित निबन्ध कह सकते हैं। विस्तृत ज्ञान और संवेदना की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है "ललित निबन्ध"।

ललित निबन्ध में बहुल भाव-प्रवणता और विरल विचार–प्रबलता का सामंजस्य रहता है। भाषा–शैली ललित तथा कला कसी हुई रहती है। ललित निबन्धकार अपनी रुचि के अनुसार कुछ अन्य छुट–पुट विचारों को भी प्रस्तुत करता है। वह कभी अन्तर्यात्रा और कभी वहिर्यात्रा करता है। ललित निबन्ध में संवेदन-शीलता मुख्य और विचार-पक्ष गौण होता है। यदि विचार-पक्ष विस्तृत हो जाता है, तो ललित निबन्ध अपना वास्तविक अस्तित्व समाप्त कर देता है। ललित निबन्धकार का पाण्डित्य ललित निबन्ध में हृदय की मनोरम भूमि पर ही यात्रा करता है। ललित निबन्धकार सब कुछ कहते हुए भी अपने मूल विषय का छोर नहीं छोड़ता। वह अपने केन्द्रीय विषय को स्थापित करके अन्त तक ले जाता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ललित–निबन्धों में संवेदनशीलता का

प्राधान्य है, जो ललित निबन्ध का अपना विशिष्ट गुण है। भारतीय संस्कृति की पट्टिका पर विस्तृत ज्ञान-गरिमा के साथ कुबेरनाथ राय के ललित निबन्ध मार्के के हैं। भाव-प्रवणता विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों की विशेषता है।

जब ललित निबन्धकारों की चर्चा चल ही रही है, तब यहाँ यह कहना भी उचित है कि शिव प्रसाद सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, रामअवध शास्त्री आदि के ललित निबन्ध भी पाठकों को प्रभावित करते हैं।

हिन्दी का ऐसा कौन सुविज्ञ अधीती पाठक है, जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ललित निबन्धों में चित्रित भारतीय संस्कृति, मानवीय आस्था एवं स्वाभिमान तथा मनुष्य की अदम्य जिजीविषा से प्रभावित होकर अपनी छाती न फुलाएगा और आँखों में चमक न लाएगा।

हम देखते हैं कि पं० विद्यानिवास मिश्र से लेकर आज रामअवध शास्त्री तक के निबन्धों में कई प्रकार की आस्वाद्य ज्ञानगुरु सामग्री मिलती है। किसी में प्रधानता पाण्डित्य की है, तो किसी में विस्तृत ज्ञान की। किसी में रसज्ञता की रसवती धारा प्रवाहित है, तो किसी में लोक-जीवन का निश्छल सहज चित्रण है। यदि एक पुराणों तथा प्राचीन संस्कृत–प्रबन्ध काव्यों के सूत्रों की युगीन व्याख्या प्रस्तुत करता है, तो दूसरा प्राचीन सांस्कृतिक शब्दावली की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। उन प्रस्तुतियों पर सुविज्ञ पाठकों के हृदय और बुद्धि अपने को निछावर करते हैं।

ललित निबन्धों की सरिता को गहरी और वेगवती बनाया आचार्य हजारी प्रसाद दिवेदी, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र और विवेकी राय ने।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को तो ललित निबन्ध साहित्य का आदि पुरोधा ही समझिये। कुबेरनाथ राय ने ललित निबन्धों के द्वारा भारतीय संस्कृति की व्याख्या पाण्डित्यपूर्ण शैली में की है। श्री राय में बौद्धिकता एवं चिन्तन गूढ़ गम्भीर है। डा० विद्यानिवास मिश्र जनपदीय संस्कृति के भावात्मक चित्र खींचते हैं।

जो मनोवैज्ञानिक निबन्धों की सरस्वती पं० अम्बिकादत्त व्यास ने प्रवाहित की थी, उसे आचार्य शुक्ल ने गम्भीरनीरा बनाकर गरिमा प्रदान की। लेकिन वह सरस्वती फिर विलुप्त हो गयी। जहाँ सरस्वती नदी विलुप्त हुई, उस स्थान को **'विनशन'** कहते हैं। हिन्दी-निबन्ध साहित्य में आचार्य शुक्ल की चिन्तामणि भाग १ के ठीक उपरान्त स्थल को हम **'विनशन'** स्थान कह सकते हैं। इस रचना के उपरान्त किसी हिन्दी–निबन्धकार ने उस धारा को आगे नहीं बढ़ाया। यह अभाव हिन्दी पाठक को खटकता था।

मुझे परम प्रसन्नता है कि उस धारा को आगे बढ़ाने के लिए सन् १९९४ ई० में मेरे परम प्रिय शिष्य डा० दरवेशसिंह की लेखनी कटिबद्ध और सन्नध हुई।

प्रस्तुत पुस्तक (**भाव-चिन्तन**) के अधिसंख्यक निबन्ध मनोवैज्ञानिक हैं, जो सरल, सरस तथा साहित्यिक हिन्दी में लिखे गये हैं। डा० सिंह ने झण्डा पहली बार उठाया है; लेकिन अच्छी तरह उठाया है।

प्रस्तुत पुस्तक **'भाव-चिन्तन'** में कुल २६ निबन्ध हैं, उनमें १७ निबन्ध मनोविकारों से सम्बद्ध हैं। शेष ६ निबन्धों में भी कुछ निबन्धों के शीर्षक ऐसे हैं जो मनोविकारों से सीधे सम्बद्ध तो नहीं हैं किन्तु उनकी विवेचना में मनोवैज्ञानिक चिन्तन के छींटे पाये जाते हैं। इस तरह पूरी पुस्तक के लेखों की चिन्तनात्मक मीमांसा किसी न किसी अंश में मनोविकारों से ही सम्बन्ध रखती है।

स्थूल और शरीरी का वर्णन करना तथा परिभाषा देना सुगम है, लेकिन सूक्ष्म एवं अशरीरी का वर्णन करना तथा उसकी परिभाषा देना बहुत कठिन है। हम रेखा या बिन्दु की परिभाषा देने में कुछ न कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन रेखात्व और बिन्दुत्व की परिभाषा देना असम्भव-सा है। 'भाव-चिन्तन' के लेखों में लेखक डा० दरवेशसिंह ने 'रेखात्व' और 'विन्दुत्व' की परिभाषा देने का पर्याप्त अंशों में सफल प्रयास किया है। परिभाषा ही नहीं, उनमें परिव्याप्त गुणों का भी दिग्दर्शन कराया है।

'स्वभाव और आदत' शीर्षक निबन्ध में लेखक लिखता है :—

"**प्रकृति** स्वभाव का पर्यायवाची है और प्रकृति भी वह मूलभूत तत्त्व है, जिसमें विकृति न आए। यह प्रकृति बाहर की प्रकृति से भिन्न है। मनुष्य की प्रकृति उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—अन्तःकरण की इन चारों वृत्तियों के भीतर की, वह भावदशा है, जो अदृश्य है, अमूर्त है, अपरिवर्तनीय है और चेतन है।"

(स्वभाव और आदत)

इसी निबन्ध में लेखक आगे **'आदत'** के सम्बन्ध में उसकी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहता है—

"आदत में स्वयं की लाचारी या विवशता ही अधिक होती है, उचित-अनुचित का विवेक नहीं।"

(स्वभाव और आदत)

स्वभाव और **आदत** शब्दों की भेदक रेखाओं को स्पष्ट करने में लेखक का प्रयास बहुत कुछ स्वीकृति का सिर हिलवा देता है। ऐसे भाववाचक संज्ञा शब्दों का अन्तर स्पष्ट करना सरल नहीं है। उर्दू-हिन्दी के कोश भी ऐसे शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं कर सके हैं। अरबी शब्द **आदत** के समानान्तर ब्रजभाषा या खड़ी बोली हिन्दी में **'टेव'** शब्द है। **स्वभाव** संस्कृत का शब्द है। इसके समानान्तर अरबी शब्द **फ़ित्रत** है—इसे हिन्दी-शब्द कोशों में **फितरत** रूप में लिखा गया है।

मुस्तफ़ा खाँ मद्दाह अपने उर्दू-हिन्दी-शब्द कोश में अरबी शब्द **'आदत'** का अर्थ लिखते हैं—प्रकृति, स्वभाव, ख़स्लत, व्यसन, लत, अभ्यास, मश्क। अरबी

शब्द **फ़ित्रत** का अर्थ लिखते हैं—प्रकृति, नेचर, स्वभाव, आदत, उत्पत्ति, पैदायश, धूर्तता, चालाकी, शरारत।

ज्ञानमंडल काशी से प्रकाशित 'वृहत् हिन्दी कोश' में हिन्दी शब्द **टेव** का अर्थ लिखा है—लत, आदत, स्वभाव।

सारांश यह कि **स्वभाव, आदत, टेव** की अर्थच्छवियों की कोशों में स्पष्टता नहीं है। पाठक की बुद्धि इन शब्दों के सही अर्थ कोशों से नहीं पा सकती। वास्तव में **स्वभाव** प्रकृतिजनित है; **आदत** या **टेव** मनुष्य पर संगति का प्रभाव है। **लत** घटिया आदत है। ऐसी अर्थभेदक रेखाएँ खींचना आसान काम नहीं है।

'मनोविकार' के स्वरूप को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करते समय लेखक का चेतन मन दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्यशास्त्र, भाषाशास्त्र आदि का भी सहारा लेता है। मीमांसा के समर्थन के लिए हिन्दी के प्राचीन कवियों की कविताओं के उद्धरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। उन कवियों में कबीर, तुलसी, रहीम और प्रसाद विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

'भाव-चिन्तन' पुस्तक का लेखक अपने निबन्धों में पहले एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है, फिर उसकी विवेचना में अन्त तक लीन रहता है। इस तरह लेखक की लेखनी **निगमन शैली** में विषय का प्रतिपादन करती हुई दृष्टिगत होती है।

निगमन शैली का निबन्ध-लेखक प्रथम निष्कर्ष प्रस्तुत करके तदुपरान्त उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही मूल भारतीय शैली है। हमारे वैदिक ऋषि भी वेद-मंत्रों की अभिव्यक्ति में प्रथम निष्कर्ष, फिर व्याख्या प्रस्तुत किया करते थे।

ऋग्वेद (ऋक्० १०/१२१/१) के प्रजापति सूक्त में हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में कहा गया है—"ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

—ऋक्० १०/१२१/१; यजु० अ० १३/मंत्र ४

उपर्युक्त मंत्र में पहले कहा गया—"अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत, जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्" अर्थात् सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ था, वही सम्पूर्ण उत्पन्न भूतों का एक स्वामी था। यही मंत्र का निष्कर्षात्मक अंश है। इसके उपरान्त "स दाधार ..... विधेय" जो कहा गया है वह तो निष्कर्ष की व्याख्या है।

यही निगमन शैली यजुर्वेद के निम्नांकित मंत्र में है—

"ओ३म् विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रन्तन्न आसुव॥" —यजु० अ० ३०/३

"हे सवितृदेव ! सम्पूर्ण पापों को दूर करो"—यही निष्कर्ष है। फिर शेष मंत्रांश तो व्याख्या है।

सारांश यह कि जो मूल भारतीय कथन शैली है, वही डा० दरवेशसिंहने अपने इन निबन्धों में अपनायी है।

अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से हम डा० दरवेशसिंह को आचार्य शुक्ल और महीयसी महादेवी वर्मा की शैली का अनुगमन करते हुए देखते हैं।

'प्रतिशोध' शीर्षक निबन्ध में लेखक लिखता है—

"प्रतिशोध क्रोध का क्रियात्मक रूप है"

(प्रतिशोध)

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि भाग १' में लिखा है—

"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

अभिव्यक्ति और **अभिव्यंजना** की अवधारणाओं में अन्तर है। जब लेखक अपने भाव का संप्रेषण सीधी-सरल भाषा में सामान्यतया अभिधा का सहारा लेकर करता है, तब उस प्रसादगुणपूर्ण संप्रेषण को **'अभिव्यक्ति'** कहते हैं, लेकिन जब लेखक की भाषामयी संप्रेषणा शिल्पविधान के रथ में बैठकर चलती है और अलंकार, ध्वनि, प्रतीक, लक्षणा, व्यंजना आदि का चमत्कार दिखाती है, तब वह संप्रेषणा **'अभिव्यंजना'** कहलाती है। लेखक के कई निबन्धों की भाषा में अभिव्यंजनामयी संप्रेषणा के दर्शन होते हैं। लेखक 'प्रतिष्ठा' निबन्ध में कहता है—

"मन की रस्सी का झूला भ्रम के पेड़ पर डालकर बड़ी लम्बी पैंगें बढ़ाती है प्रतिष्ठा।"

(प्रतिष्ठा)

उपर्युक्त वाक्य में रूपक अलंकार तो है ही, साथ में 'प्रतिष्ठा' कर्तृवाचक संज्ञा शब्द को वाक्यान्त में प्रस्तुत करके उसको प्रभावी बना दिया है। 'प्रतिष्ठा' को पैंगें बढ़ाती हुई प्रस्तुत करके उसके अभिमान भरे उल्लास के मनोराज्य को अभिव्यंजित कर दिया है।

'उपाधि' के स्वरूप की मीमांसा करते हुए निबन्धकार डा० दरवेशसिंह ने लक्ष्यार्थ प्रधान दो विरोधी क्रियाओं के माध्यम से अपनी बात कही है—

"उपाधि लेकर आदमी का नाम तो फैल जाता है, पर आत्मा सिकुड़ जाती है।"

(प्रतिष्ठा)

'चिन्ता' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने 'चिन्ता' प्रतीयमान के लिए अवधारणा को विस्तार देने के लिए चार प्रतीक प्रस्तुत किये हैं— **(१) छड़ी (२) छैनी (३) मशाल (४) रस्सी**। लेखक लिखता है—

"चिन्ता एक ऐसी **छड़ी** है, जो सोये हुए को जगाती है; जगे हुए को आगे बढ़ाती है और बढ़े हुए को मंजिल तक पहुँचाती है। अपूर्णता का बोध कराकर पूर्णता की ओर ले जाती है। यह चिन्ता आलस्य और प्रमाद को काटने की **छैनी** है। अँधेरे में भटकनेवाले के लिए एक **मशाल** है। अवनति की खाई में गिरते हुए को ऊपर चढ़ाने के लिए एक रस्सी है।"

(चिन्ता)

उपर्युक्त उद्धरण में 'चिन्ता' के लिए चार प्रतीकों की प्रस्तुति करके जो बिम्ब-सृष्टि हुई है, उससे अनुभूति रमणीय और प्रभावी बन गयी है। जो बिम्ब

योजना रसास्वाद कराती है, उसे ही आचार्य शुक्ल **विभावन-व्यापार** कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि अगोचर चित्तवृत्ति का गोचर-रूप-विधान ही विभावन-व्यापार कहलाता है।

डा० दरवेश सिंह के इन निबन्धों में यत्र-तत्र विभावन-व्यापार के भी दर्शन होते हैं।

वही साहित्यकार सच्चे साहित्य की सृष्टि कर सकता है, जिसके विषय के चरण अर्थात् भाव के पाँव तो समाज की इसी धरती पर हों, लेकिन उसकी अभिव्यंजना आकाशोन्मुखी हो।

महाकवि तुलसीदास ने 'दोहावली' (दोहा-५३५) में कहा है कि नाचता हुआ मोर तभी शोभा को प्राप्त होता है, जब उसके पाँव तो धरती पर हों, और चन्द्राकृति पंख अर्धचन्द्राकार रूप में आकाश में फैले हुए हों। सुविज्ञ लेखक ने इस सिद्धान्त को अपने मानस-पटल पर पहलें अंकित किया है, तदुपरान्त निबन्धों की सृष्टि करने के लिए लेखनी उठायी है। उसने मानव-मन के दुरित को दूर करने तथा भद्र को लाने के लिए लिखा है—

"वैर की भाषा जलाती है और प्रेम की भाषा फूल-सा खिलाती है।"

(भाषा विघटन की परिभाषा)

'वैर' 'दुरित' है. **प्रेम** 'भद्र' है। 'दुरित' के दूर होने पर ही 'भद्र' आ सकता है। यजुर्वेद (अ० ३०/मंच ३) के ऋषि ने भी सविता से प्रार्थना की थी कि हे सविता देव! हमारे दुरितों को दूर करो और फिर भद्रों को लाओ—

"ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।

यद्भद्रन्तन्न आसुव॥ —यजु० अ० ३०/३

डा० दरवेशसिंह के 'भाव-चिन्तन' के 'लेख' वास्तव में **'निबन्ध'** हैं, 'लेख' नहीं।

'लेख' और **'निबन्ध'** में मुख्य अन्तर यह है कि किसी लेख का लेखक कहीं से कुछ सामग्री लेकर उसें केवल व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत कर देता है। दैनिक समाचार पत्रों में पर्याप्त संख्या में 'लेख' मुद्रित किये जाते हैं? 'निवन्ध' लगभग नहीं। निबन्ध तो बहुत कम।

'निबन्ध' में पूर्व अधीत तथा अनुभूत विचारों को ग्रहण करके पहले पचाया जाता है, फिर अपने ढंग से संपुष्टि करते हुए उन्हें अभिव्यक्त या अभिव्यंजित किया जाता है। डा० दरवेशसिंह ने एक मनोविकार को दृष्टिपथ में रखकर उसकी तर्कों से तथा साहित्यिक प्रमाणों से पुष्टि की है। मूल भाव-सूर्य से जितनी किरणें निकल सकती हैं, उन्हें अपने पाठकों को दिखाया है। उनके निबन्धों में विषय का प्रतिपादन बिखरा हुआ नहीं, अपितु नुकीला है। इसलिए 'भाव-चिन्तन' की सामग्री सही अर्थों में **'निबन्ध'** है अर्थात् विशेष रूप से बँधाहुआ (कसाहुआ) विषय-प्रतिपादन।

डा० दरवेशसिंह के ये 'निबन्ध' 'ललित निबन्ध' नहीं हैं। सीधे-सीधे शुद्ध निबन्ध हैं, नुकीली मीमांसा वाले निबन्ध हैं।

ललित निबन्धकार अपने निबन्ध में मूल विषय के खूँटे से बड़ी लम्बी रस्सी द्वारा बँधा रहता है। इसलिए पर्याप्त दूरी तक घूम लेता है।

ललित निबन्धकार अपने निबन्ध में अपने विषय का पल्ला पकड़कर अनेक भिन्न प्रकरणों की बातें चलाता है। तरह-तरह के प्रसंगों को लेकर कल्पना के घोड़े दौड़ाता है। पाठक को ऐसा भी लगता है कि ललित निबन्धकार सांस्कृतिक तथा पौराणिक सन्दर्भों की व्याख्या आज के जीवन की नयी दृष्टि से कर रहा है। वह पाठक की आत्मीयता अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव भी लालित्यपूर्ण शैली में कहता चलता है। यह सब कुछ करते हुए ललित निबन्धकार मूल विषय के खूँटे से अवश्य बँधा रहता है।

'ललित निबन्ध' की जो विशेषताएँ तथा लक्षण ऊपर हमने बताये हैं, वे हमें कुबेरनाथ राय के निबन्धों में पूरी तरह मिल जाते हैं। ऐसे निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्टतः दिखायी दे जाता है।

यदि हमारे पाठक डा० दरवेशसिंह के निबन्धों में ललितनिबन्धों की विशेषताएँ देखने का प्रयास करेंगे, तो उन्हें निराश ही होना पड़ेगा। डा० दरवेश सिंह तो अपने इन निबन्धों में मूल भाव को 'मुख्य प्रतिभा' के रूप में प्रारम्भ में प्रस्तुत करते हैं, फिर अपने अध्ययन के आधार पर उसकी 'उपपत्ति' प्रस्तुत करते हुए अपने लक्ष्य को प्रमाणित कर देते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उनके निबन्ध आकार में आवश्यकता से कुछ बड़े हो गये हैं। लम्बे निबन्धों में पाठकों को कुछ ऊब-सी हो सकती है।

लोक और परलोक को समझने की मुख्य दृष्टियाँ दो ही हैं—(१) **भावना दृष्टि** जिसका सम्बन्ध काव्य और कला से है। (२) **चिन्तना** दृष्टि जिसका सम्बन्ध दर्शन और विज्ञान से है।

पश्चिम के विद्वान् टी० एस० इलियट ने कहा था कि "भारतीय कविता पाठक को भावयोग से और पश्चिम की कविता पाठक को बुद्धियोग से जोड़ती है।" इलियट ने हाथ उठाकर शुद्ध मन से यह भी उद्घोष किया था कि "पश्चिमीय अर्थ में कवि होना कोई खास बात नहीं है; खास बात है भारतीय अर्थ में कवि होना।"

भावनादृष्टि एवं चिन्तनादृष्टि से अथवा कहिए कि भावयोग एवं बुद्धियोग की भूमियों पर खड़े होकर यदि डा० दरवेशसिंह के निबन्धों को पाठक पढ़ेगा, तो उसे इस लेखक की भाषाभिव्यंजना में चिन्तना के साथ भावना के रस की बूँदें भी मिलेंगी। चिन्तन के दर्शनरूपी जल में भावात्मक काव्यरूपी मधु की बूँदें मिलाकर इन निबन्धों की वाक्यावली में लालित्यमय आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।

लेखक छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी बात कहता है, जिन्हें पाठक जल्दी समझ

जाता है—"आँसू यथार्थ है और मुस्कान आदर्श। आँसू मौलिक और सहज स्वाभाविक हैं और मुस्कान ऊपर से ओढ़ी हुई।"

(आँसू और मुस्कान)

उपर्युक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य में तो लेखक **'ओढ़ी हुई'** के उपरान्त **'होती हैं'** क्रिया भी नहीं लिखता। व्यर्थ शब्द फेंकना उसे अच्छा नहीं लगता।

प्रस्तुत निबन्धों का लेखक जानता है कि गद्य को काव्यात्मक बनाने वाला प्रमुख साधन मानवीकरण है। अतः कहीं-कहीं इन निबन्धों की भाषा मानवीकरण अलंकार से भी अलंकृत रहती है। वह मानवीकरण लक्षणा और व्यंजना की अभिव्यंजना में सहायक सिद्ध होता है। **'चोरी'** निबन्ध में लेखक लिखता है—"बुराई भलाई के वस्त्र पहनकर ही दुनिया को डराती है।"

(चोरी)

ऐसे वाक्य पाठक को एक क्षण के लिए पकड़कर बैठ जाते हैं। महात्मा गांधी ने 'हरिजन' में लिखा था—"झूठ के पाँव नहीं होते, वह सत्य के कन्धों पर बैठकर चलता है।"—इसमें काव्यात्मकता है।

निबन्ध-लेखक डा० दरवेशसिंह जब किसी भाव की मीमांसा करते-करते बुद्धि से हृदय की भूमि में विचरण करने लगते हैं, तब उनका गद्य तुकान्त कविता का भी रूप यदा-कदा सहज में ही ग्रहण कर लेता है। जैसे—

"जिसे आँसू याद हैं उसकी मुस्कान मदीली नहीं हो सकती
जिसको दिन का ख़याल है उसकी रात नशीली नहीं हो सकती

(स्वावलम्बन)

प्रस्तुत निबन्धों के भाव-चिन्तन की यात्रा में लेखक के स्मृति-पटल पर मात्र हिन्दी कवियों के समानान्तर भावों के उद्धरण ही नहीं उभरे हैं, अपितु उर्दू के शायरों के भी समानान्तर-भाव बड़ी नज़ाकत और शोख़ी के साथ वसीअ तख़ैयुल के गुल खिला देते हैं। 'स्वभाव और आदत' शीर्षक निबन्ध में लेखक बुरी आदत के सम्बन्ध में अथवा कहिए कि बेशुऊर आदमी के सम्बन्ध में लिखता है—

"जो जाम छू दिया हो किसी बेशुऊर ने;
उस जाम से शराब छलकती ज़रूर है।"

(स्वभाव और आदत)

कुछ निबन्ध ऐसे हैं, जिनमें लोकोक्तियों में अन्तर्निहित भावों पर भी प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्य में लेखक का यह नया ही प्रयोग है। यह मंगलाचरणीय भाव-मीमांसा नीराजना तक चलती रही, तो इन निबन्धों का लेखक इस शैली का हिन्दी में जनक माना जा सकता है। पाठक इसे मेरी अतिशयोक्ति न समझें।

वामन, मम्मट आदि आचार्यों को प्रमाण मानकर हम कह सकते हैं कि कोई साहित्यिक रचना अलंकाररहित तो हो सकती है, लेकिन गुणरहित नहीं हो सकती। गुण रस के उत्पादक होते हैं।

ओज, माधुर्य और प्रसाद नामक गुणों में आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण का लक्षण बताया है कि जिस रचना का भाव और अर्थ पाठक के चित्त में ऐसा व्याप्त हो जाता है, जैसे सूखे ईंधन में अग्नि अथवा स्वच्छ (धुले हुए) वस्त्र में जल, वह प्रसादगुणमयी कहाती है।

प्रसादगुणमयी भाषा लिखनेवाला लेखक यह चाहता है कि मैं ऐसी भाषा लिखूँ, जिसका अर्थ मेरे पाठकों को तुरन्त सुस्पष्ट होता चले और वे आनन्दानुभूति करते चलें। 'भाव-चिन्तन' के निवन्धों का लेखक प्रसादगुण के इस महत्त्व को समझता है और अपनी भावाभिव्यंजना में सावधान है। वह अपनी बात साहित्य के सभी पाठकों से कहना चाहता है।

हिन्दी के कुछ निबन्धकार ऐसे भी हैं जो अधिकांश में पंडितों के लिए लिखते हैं, वे निबन्धकार पंडितप्रिय तो हो सकते हैं, लेकिन लोकप्रिय नहीं।

निबन्धकार डा० दरवेशसिंह यह मानते हैं—

"अपना लिखा हम आप ही समझे तो क्या समझे।
मज़ा कहने का तब है एक कहे और दूसरा समझे॥"

यदि हम हिन्दी-साहित्य के निम्नांकित तीन निबन्धकारों के निबन्धों को अपने समक्ष रखें—(१) **पं० अम्बिकादत्त व्यास** (२) **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** (३) **डा० कुबेरनाथ राय**; फिर डा० दरवेशसिंह के इन निबन्धों को भी रखें। तदुपरान्त भाषा की अभिव्यंजना की तुलना करें, तो डा० दरवेशसिंह हमें पं० अम्बिकादत्त व्यास के निकट बैठे हुए दिखाई देते हैं। आचार्य शुक्ल और डा० कुबेरनाथ राय की भाषा के अन्तर्गर्भित अर्थ को तो वही पाठक समझ सकता है, जिसकी बुद्धि का तीसरा नेत्र खुल गया हो।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में ही जब **मन, चित्त** और **बुद्धि** की अवधारणाओं के विषय में मतैक्य नहीं है, तब 'भाव-चिन्तन' के निबन्धों में मनोविकारों के सम्बन्ध में लेखक की कुछ मान्यताओं तथा उपस्थापनाओं से पाठक यदि सहमत न हों, तो आश्चर्य की बात नहीं। फिर साहित्य के विद्वानों एवं अधीती सुविज्ञ पाठकों को इस तथ्य से भी अवगत होना चाहिए कि 'भाव-चिन्तन' के निबन्धों के माध्यम से डा० दरवेशसिंह प्रथम बार हिन्दी साहित्य में ग्रन्थ-लेखक के रूप में प्रविष्ट हो रहे हैं। लिखते-लिखते ही लेखनी मँजा करती है।

डा० दरवेशसिंह मेरे परमप्रिय शिष्यों में रहे हैं। यह मेरी एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं के मेधावी छात्रों में चमकते हुए छात्र थे। इनकी मेरे प्रति श्रद्धा-धारा और इनके प्रति मेरी वात्सल्य-धारा का सुमधुर संगम होता रहा है और अब भी है। गोस्वामी तुलसीदास जी की अर्धाली के उत्तरांश—

"जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ"

—मानस, किष्कि० १४/३

का पाठ प्रियवर दरवेश करते रहे हैं और जीवन के कर्म में उसे उतारते भी रहे हैं।

'भाव-चिन्तन' का लेखक स्वभाव से गम्भीर और विनयशील है। विनयशीलता के साथ-साथ स्वाभिमान को लेखक ने कभी नहीं छोड़ा। स्वभाव की गम्भीरता, विनयशीलता और स्वाभिमानिता की कुछ झलक **'भाव-चिन्तन'** के निबन्धों में मिलती है; इसीलिए मनोविकार सम्बन्धी इन लेखों को वास्तविक **निबन्ध** कहा जा सकता है। इन निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की कुछ छाप है।

डा० दरवेशसिंह ने 'भाव-चिन्तन' के निबन्धों के माध्यम से हिन्दी-निबन्ध साहित्य की धरित्री पर उस सरस्वती सरिता को पुनः प्रवाहित किया है, जो आचार्य शुक्ल-युग के उपरान्त सूख गयी थी।

मैं अपने प्रिय शिष्य डा० दरवेशसिंह के लिए माता वीणापाणि से प्रार्थना करता हूँ कि उनका सारस्वत यज्ञ अमर रहे और इस सोपान-पथ से प्रियवर डा० दरवेशसिंह और भी दिव्यतर, सारस्वत लोकों के दर्शन करें।

"सर्जनं परमं तपः"

शुभैषी
—अम्बाप्रसाद 'सुमन'

ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड
सहारनपुर–२४७००१ (उ० प्र०)

१. स्वभाव और आदत

मनुष्य की हर क्रिया-प्रतिक्रिया से उसकी आदत का पता चलता है। तत्त्वदर्शियों ने जब मानव की उत्तम, मध्यम और अधम कोटियाँ निर्धारित की होंगी तो आदतों पर भी उनका ध्यान अवश्य रहा होगा। आदत सोच का व्यवहृत रूप है। जिसके व्यवहार से, किसी दूसरे को कोई कष्ट या हानि न हो, उसकी आदत अच्छी बताकर, सराहना की जाती है और जिसके व्यवहार से दूसरों को परेशानी हो जाए, उसकी आदत खराब बताकर, निन्दा की जाती है। अर्थात् आदत अच्छी भी होती है और बुरी भी। अच्छी आदत 'स्वभाव' की ओर सरक जाती है और बुरी आदत 'लत' या 'व्यसन' की ओर—पर, आदत स्वभाव नहीं होती। अपनी आदत स्वयं के लिए तो सुखकारिणी और दुःखदायिनी होती ही है, यह दूसरों के लिए भी हितकर और अहितकर हो सकती है। मनुष्य चाहे किसी और का गुलाम न हो, पर अपनी आदत का गुलाम अवश्य होता है—चाहे अच्छी का, चाहे बुरी का !

कुछ आदतों के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—एक जल्दबाज, दूसरे लेटलतीफ़ या दीर्घसूत्री और तीसरे मध्यममार्गी। इन तीनों में से पहले और दूसरे अर्थात् जल्दबाज और दीर्घसूत्री अपनी आदत से मजबूर होते हैं, जो जीवन में सफल कम और असफल अधिक रहते हैं। लाभ इन्हें कम मिल पाता है, हानि अधिक उठानी पड़ जाती है। तीसरे, स्वभाव को उपलब्ध मध्यम मार्गी हैं, जिन्हें धीर, सूझबूझ वाले, विवेकी और संयमी कहा जाता है। ये आदत के गुलाम नहीं होते, आदत इनकी गुलामी करती है; इनके अनुसार चलती है। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। उतावले और दीर्घसूत्री अधिक होते हैं। उतावलापन और दीर्घसूत्रिता दोनों आदतें हैं।

स्वभाव, प्रकृति, आदत, लत, व्यसन आदि शब्द समानार्थी से लगते हैं, लेकिन इनमें अर्थभेद है **स्वभाव** वस्तुतः आत्मभाव है। आदत मन से और स्वभाव-आत्मा से सम्बद्ध है। आत्मा का अंश होने के कारण स्वभाव, बीज रूप में सदा भीतर छिपा रहता है। स्वभाव आदिम है, शाश्वत है, निर्विकार है और अपरिवर्तनीय है। जैसे भाव और विचार की अभिव्यक्ति भाषा से होती है, वैसे ही स्वभाव की अभिव्यक्ति का साधन आदत है। आदतें और लतें स्वभाव को ढके रहती हैं। स्वभाव का अनुभव से पता चलता है और आदत का अच्छे-बुरे व्यवहार से। जैसे आत्मा शरीर के रथ में बैठकर चलती है, वैसे ही स्वभाव भी आदतों की सवारी पर बैठकर बाहर निकलता है। आदत स्वभाव का आवरण भी है। स्वभाव जब भी बाहर निकलेगा, वह आदत के रूप में ही दिखायी देगा।

प्रकृति स्वभाव का पर्यायवाची है और प्रकृति भी वह मूलभूत तत्त्व है, जिसमें विकृति न आए। यह प्रकृति, बाहर की प्रकृति से भिन्न है। बाहर की प्रकृति तो पेड़-पौधे, लता-फूल, नदी-पहाड़, बादल-वर्षा, सर्दी-गर्मी आदि का सामूहिक रूप है। यह बाहर की प्रकृति, वातावरण, पर्यावरण, देश-काल, स्थिति और परिस्थिति आदि नामों से भी जानी, मानी जाती है, जो दृश्यमान है, मूर्त है, परिवर्तनीय है, जड़ है और तुरन्त प्रभावोत्पादक है; लेकिन यह मनुष्य की प्रकृति उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, अन्तःकरण की इन चारों वृत्तियों के भीतर की, वह भावदशा है, जो अदृश्य है, अमूर्त है, अपरिवर्तनीय है और चेतन है। यह प्रकृति जब मन की आँख से देखती है, तो बाहर की प्रकृति का कभी कोमल, कभी कठोर, कभी मधुर, कभी तिक्त रूप दिखायी देता है; लेकिन स्वयं यह अविकृत है।

स्वभाव की सबसे मोटी पहचान है कि उसमें ऊब नहीं होती। जिस भाव या मनःस्थिति से आदमी ऊब जाए, वह उसका स्वभाव नहीं हो सकता। आदमी सुख से ऊब जाता है, दुःख से ऊब जाता है; लेकिन आनन्द से नहीं ऊबता। अतः सुख-दुःख स्वभाव नहीं,—मूलभाव या मनोविकार हैं; लेकिन आनन्द स्वभाव है। आदमी क्रोध से ऊब जाता है, घृणा से ऊब जाता है, कामवासना से ऊब जाता है, मैत्री और वैर से ऊब जाता है अतः ये सब स्वभाव के अन्तर्गत नहीं; लेकिन पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम से नहीं ऊबता आदमी। अतः प्रेम स्वभाव है। आदमी आदतन युद्ध और संघर्ष प्रिय है; लेकिन समाधान सदैव शान्ति में ही होता है; अतः क्रोधी और झगड़ालू स्वभाव नहीं होता। स्वभाव शान्ति है। सब मिलाकर स्वभाव का स्वभाव है—सत्, चित् और आनन्द। इनको उपलब्ध हुआ व्यक्ति समरसता के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है, जिसकी दृष्टि के आगे से सारे भेद गिर जाते हैं।

स्वभाव समरसता है, समभाव है—अति पर जाना उसका धर्म नहीं है। हममें से अधिकांश अतिवादी होते हैं कि या तो कुछ करेंगे नहीं—सिर्फ सोचते रहेंगे, कुढ़ते रहेंगे, परिस्थितियों को दोष देते रहेंगे और नौ दिन में अढ़ाई कोस चलेंगे। या फिर हड़बड़ी में इतने जोर शोर से करेंगे कि थोड़े समय में ही हाँफ जाएँ, थककर चूर-चूर हो जाएँ, घुटने टेक जाएँ और कछुआ-खरगोश की कहानी बन जाए। ये दोनों अतियाँ हैं। इनमें पहली दीर्घसूत्रिता और दूसरी उतावली या जल्दबाजी है। इसीलिए कहा गया कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'।

'अति' का अर्थ है कि या तो इतना गिर जाना कि फिर उठा न जाए, या फिर इतना उठ जाना कि गिरने से कोई बचा न पाए। या तो इतना मीठापन कि दुनिया साबित निगल जाए, या फिर इतना कड़वापन कि कोई देखना भी पसन्द न करे! या तो इतना ढीलापन कि कोई खनक भी न उठे, या फिर इतना तनाव कि सारे तार ही टूट जाएँ। या तो इतना बरसना कि सब कुछ डूब जाए, या फिर

इतना सूखा कि एक बूँद पानी न मिले। या तो इतनी चुप्पी कि स्वाभिमान भी मिट जाए या फिर इतना बोलना कि कानों में रुई ठूँसनी पड़े। यही सोचकर रहीम को लिखना पड़ा होगा कि—

"अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप॥"

अति सीमातीत अवस्था का नाम है और यह अवस्था शुभ भी होती है और अशुभ भी। दुख सीमातीत होता है तो सुख बन जाता है और सुख सीमातीत होता है तो दुख। शत्रुता कहीं है नहीं, यह सीमा तोड़कर आई हुई मित्रता ही है। जीवन में हर अनुकूल स्थिति सीमा लाँघकर प्रतिकूल बन जाती है। अति का आचार फिर अत्याचार कहा जाता है। किसी ने कहा है—

"अति की भली न बात कोउ, कैसीहू संसार।
होत तुरत आचार हू, अति सों अत्याचार॥"

जीवन एक तराजू है। दोनों अतियाँ इस तराजू के दो पलड़े हैं। स्वभाव बीच का काँटा है। जब तक पलड़े ऊँचे-नीचे होते रहेंगे, तब तक काँटा स्थिर नहीं होगा और जब तक काँटा स्थिर नहीं होगा, तब तक सौदा सही नहीं तुल पाएगा। अतियों के दोनों पलड़े बराबर हो जाने के बाद, काँटे का मध्य में स्थिर हो जाना ही स्वभाव को उपलब्ध हो जाना है। मध्य की सही स्थिरता बुद्ध की 'मध्यमा प्रतिपदा है, जिसको उन्होंने 'सम्यक्' कहा और यही कबीर की सहज समाधि है।

आत्मभाव या स्वभाव से विवेक की किरणें निकलती हैं, जिन किरणों के प्रकाश के सामने न तो आदतों की लाचारी होती है और न लतों का विषाद; न तो चिन्ता होती है और न पश्चात्ताप; न तो जल्दबाज़ी की हड़बड़ी होती है और न दीर्घसूत्रिता की जम्हाई लेती हुई जड़ता।

आदत मन की वह वृत्ति या प्रवृत्ति है, जो किसी भी कार्य या व्यवहार को प्रतिपादित करने के लिए, विधि, तरीके या कार्य-प्रणाली के रूप में, सायास या अनायास अपनायी जाती है और फिर प्रयोग करते-करते वह गले पड़ जाती है—सहज, स्वचालित बन जाती है। अर्थात् हमारे मन की वह वृत्ति या सोच, जिसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए हम विवश भी हों—और उस समय कुछ चेत हो जाए तो करने में हिचकिचाएँ भी। कर भी डालें और करने के बाद, परिणाम के अनुसार प्रसन्न भी हों या पछताएँ भी। करने के पहले ना समझी रहे, ठोकर लगने के बाद अथवा सफल होने के बाद समझ आये, लेकिन थोड़े दिन बाद भूल जाएँ और फिर नासमझी में उतर कर वही करें। ये बातें आदत के अन्तगत होती हैं। आदत में स्वयं की लाचारी या विवशता ही अधिक होती है, उचित अनुचित का विवेक नहीं। यदि परिणाम शुभ हो तो अच्छी आदत, और अशुभ हो, तो बुरी आदत।

स्थायी स्वभाव को व्यक्ति चाहे उपलब्ध हो, या न हो; लेकिन आदत बचपन से ही पकड़ लेती है और फिर उसी प्रकार छूटनी मुश्किल हो जाती है—जिस प्रकार नीचे स्थान से बहनेवाला पानी, नदी या नाले का रूप बना लेता है।

बाद में लाख प्रयत्नों के बाद भी नदी मिटती नहीं। आदत विकल्प से बदल तो सकती है, लेकिन फिर विकल्प भी आदत बन जाता है। दूसरे स्थान से मिट्टी खोदकर पाटी तो जा सकती है नदी; लेकिन जिस स्थान से मिट्टी खोदी जायेगी, वह स्थान नदी बन जायेगा—पानी आखिर जायेगा कहाँ ? या तो जीवन (पानी) ही सूख जाए तो ही आदत (नदी) मिट सकती है या फिर विवेकमय दृढ़ संकल्प से। धूमपान की आदत छोड़ने के लिए आदमी तम्बाकू खाने का विकल्प अपनाता है तो तम्बाकू खाना आदत बन जाती है। तम्बाकू की आदत को छोड़ने के लिए आदमी पान सुपारी का विकल्प अपनाता है तो पान की आदत पड़ जाती है। विकल्प, आदत की दवा नहीं, अपितु होने वाली या बनने वाली दूसरी आदत की सम्भावना है। इसकी दवा तो संकल्प ही है। आदत कभी भुलायी नहीं जाती और स्वभाव सदा याद नहीं रहता।

स्वभाव निसर्गतः होता है और सबका एक होता है। आदत समाज, परिवेश और संगत से बनती है और सबकी अलग-अलग होती है। रात को छह-सात घन्टे सोना स्वभाव है, लेकिन दिन में सोना आदत और चौदह-पन्द्रह घन्टे तक कुम्भकरण की तरह पड़े रहना लत। जीवन ऊर्जा के लिए भोजन करना स्वभाव है, लेकिन भोजन करने के बाद मिठाई खाना आदत और दिन भर बकरी की तरह चरते रहना लत ! कर्म करना स्वभाव है, लेकिन कर्म करने का तरीका आदत और कुकर्म करना लत या व्यसन। मौन स्वभाव है, लेकिन बोलना आदत सौर अनाप-शनाप बकना लत ! स्मृति स्वभाव है, लेकिन भूल जाना आदत और सदा बेहोश रहना लत ! समता की स्थिति स्वभाव है, लेकिन कभी-कभी उद्वेलित होना आदत और सदा उद्विग्न या चिड़चिड़ा बना रहना लत। सोच समझकर अहंकार रहित कथन स्वभाव है, लेकिन तुरन्त बिना विचारे निर्णय दे देना आदत और अपने ही निर्णय को श्रेष्ठ करार देना लत। क्षण में ठण्डा, पल में गर्म हो जाना, चिढ़ना, कुढ़ना, पछताना आदि बातें आदतों के अन्तर्गत हैं। आदत का विलोम स्वभाव होना चाहिए। अर्थात् जो बदलती रहे, लेकिन बदल कर भी फिर वही रंग दिखाये, वह आदत और जो एक रस रहे, वह स्वभाव ! पुरानी आदत स्वभाव जैसे लगने लगती है, लेकिन स्वभाव नहीं होती। स्वभाव सागर का तल है तो आदत ऊपर की लहरें।

लत या व्यसन : आदत अपने आपको दो रूपों में बाँटती है। उसका एक रूप ऊपर उठकर स्वभाव का दामन थाम लेता है और दूसरा रूप नीचे गिरकर लत और व्यसन की कीचड़ में लिथड़ जाता है। लत और व्यसन दोनों लगभग समानार्थी हैं और कृष्णार्थी हैं। हेठापन सूचित करने वाले जितने भी—अन्, अप्, अव्, कु, दुर्, दुस्, निर्, निस् आदि उपसर्ग हैं, वे अपना अर्थ लत या व्यसन व्यंजित करने वाले शब्दों में भरते हैं।

शौक-शौक में, खेल-खेल में, जान बूझकर या अनजाने में—प्रयोग करते-करते

जिन हानिकारक पदार्थों या कर्मों की समय असमय अर्ज महसूस होने लगे और बिना उनके प्रयोग के चैन न मिले,—ऐसी मानसिक अर्ज लत या व्यसन कही जाती है।

लत लाभ की आशा से पड़ती है, लेकिन परिणाम होता है हानि। सुख की आशा से मुँह लगती है लत, लेकिन परिणाम दुख होता है, क्षय होता है, पतन होता है। अच्छी आदत में स्वास्थ्य के और बुरी आदत या लत में बीमारी के बीज समाये रहते हैं। लत या व्यसन कुमार्गोन्मुखी ही होते हैं। सुल्फा, भाँग, मद्यपान, धूम्रपान, हैरोइन, नशीली ड्रग्स, चोरी-डकैती, लाटरी, सट्टा, जुआ, चुगली, मुकदमे-बाजी, परपीड़न, घूसखोरी आदि लत या व्यसन हैं, जो व्यष्टि और समष्टि के लिए केवल घातक हैं, हानिकारक हैं। व्यसनी व्यक्ति, अपने भीतर, धीरे-धीरे निन्दा, घृणा और समाज की भर्त्सना के जीवाणुओं को संचित करता रहता है। भीतर से उसे व्यसन खा डालते हैं और बाहर से समाज की धिक्कृति।

लत आदमी को निर्लज्ज, बेशर्म और दुस्साहसी वना देती है। लत का शिकार एक ही आदमी सारे परिवार को ले डूबता है। बच्चे भूखे मरने लगते हैं। शिक्षा-दीक्षा हो नहीं पाती और फिर वे भी दुष्कर्म में उतर जाते हैं। पत्नी खूब झींकती है, कुढ़ती है, पिटती है और फिर तंग आकर या तो भाग जाती है या आत्महत्या कर लेती है या फिर भ्रष्ट हो जाती है। माँ-बाप जन्म के साथी होते हैं, कर्म के नहीं—यही सोचकर या तो वे ऐसे कपूत की मौत की प्रतीक्षा करने लगते हैं या फिर अपनी। भाई-बंधु, नाते-रिश्तेदार तो कौन किसका हुआ है ? सब स्वार्थ के सगे हैं—

"बनी के चेहरे पर लाखों निसार होते हैं।
बनी बिगड़ जाती है तो दुश्मन हज़ार होते हैं।"

कुछ कवियों, लेखकों, चिन्तकों, दार्शनिकों आदि में धूमपान, सुरापान, भाँग आदि की लत होती है। यद्यपि ऐसे लोग विष खाकर, संसार को अमृत प्रदान करते हैं, लेकिन अपने आपको तो खोखला और जर्जर कर लेते हैं और अन्त में पश्चात्ताप की आग में जलते हुए, असमय में काल-कवलित हो जाते हैं। लत हर हालत में कहीं न कहीं विनाश ही ढाती है। लत और व्यसन में अन्तर भी है, लत स्वयं के लिए ही अधिक घातक होती है, जबकि व्यसन समाज और देश के लिए भी। व्यसन लत से भारी है।

लत या व्यसन में ऊब भी होती है, पश्चात्ताप भी होता है और अनुताप भी होता है, लेकिन ऊबने, पछताने या कुढ़ने से लत छूटती नहीं। वस्तुतः यह ऐसी मानसिक और शारीरिक प्यास होती है, जो पश्चात्ताप के पानी से थोड़ी देर के लिए शान्त हुई सी, छूटी हुई सी लगती है, लेकिन कुछ ही समय बाद फिर-प्यास लग आती है और फिर वही आचारण शुरू हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि आदमी आदत से मजबूर होता है। मनुष्य के व्यक्तिगत दैनिक क्रिया-कर्म से लेकर उसके हर, करणीय-अकरणीय, अच्छे और बुरे कर्मों पर आदत की छाप लगी

रहती है। आदत में व्यक्तित्व समा जाता है। अथवा व्यक्तित्व के लिहाफ पर आदत का खोल चढ़ा रहता है।

आदत चाहे अच्छी हो, चाहे बुरी, वह पहचान का प्रतीक बन जाती है। आवाज, लय और तर्ज में भी आदत समाहित हो जाती है और इन्हें सुनकर ही हम पहचान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति बोल रहा है या गा रहा है। इसी प्रकार किसी की चाल-ढाल, पहनाव-उढाव देखकर भी हम पहचान जाते हैं कि अमुक व्यक्ति हो सकता है। बहुत परिष्कृत शब्दों में आदत को शैली भी कहा जा सकता है। शैली अर्थात् एक ढँग–कथन का भी और चलन का भी–जिसमें 'चयन' भी होता है, क्योंकि आदत अक्सर दूसरों को देखकर चुनी या अपनायी जाती है; इसमें–'विचलन' भी होना है, क्योंकि आदत उठाती भी है, गिराती भी है; इसमें–'समानान्तरता' भी है, क्योंकि आदत समतामूलक भी होती है और विरोधमूलक भी। यह 'विम्ब' विधायिनी भी है, क्योंकि इसमें ठसक, मिजाज, अकड़, नरमी, शालीनता, सनक, पिनक, भोंदूपन, भोलापन, जिद, झक आदि बड़ी आसानी से कौंधा मार जाते हैं।

शैली और आदत में सूक्ष्म अन्तर भी है। शैली अमूर्तशील से आती है और आदत मूर्त व्यवहार या आचारण से। शैली कथ्य के कथन का ढँग है और आदत, चाल-चलन का। शैली, शब्द विन्यास, वाक्य विन्यास, उदात्त भाव और विचारों के संयोजन-सौन्दर्य को प्रकट करती है और आदत लिखने, पढ़ने, चलने, फिरने, सोने, उठने, बैठने के तरीके को। हर कवि और लेखक का रचना विधान, शैली है और वे किस तरह लिखते हैं ? यह आदत जैसे कोई मेज-कुर्सी पर लिखते हैं, कोई चारपायी या तखत पर बैठकर लिखते हैं, कोई लेटकर लिखते हैं, कोई खड़े-खड़े लिखते हैं। डा० अम्बाप्रसाद जी सुमन ने कहा है कि आ० शुक्ल लेटकर लिखते थे; डा० नगेन्द्र खड़े-खड़े लिखते हैं और स्वयं सुमन जी तखत पर बैठकर लिखा करते हैं[१] ये आदते हैं। इसी प्रकार बसों और रेलगाड़ियों में रात-दिन चलने वाले परिचालकों की आदत चलते-चलते, खड़े-खड़े लिखने की हो जाती है। हर आदमी में ऐसी आदत नहीं होती। शैली भी आकर्षक और उबाऊ हो सकती है और आदत भी मनमोहक या अखरने वाली। आदत सिर्फ तरीका नहीं है, वह तरीके का तरीका है।

नकल करना भी आदत है। किसी की चाल-ढाल, वेश-भूषा और आचरण आदि आदि को देख बहुत से लोग उसकी नकल करने लगते हैं। अभिनय का संसार–प्रशिक्षित नकली आदतों का संसार है। सम्मोहन भी, जो नहीं है, वह होने की आदत बना देता है। आजकल खेल-जगत् और सिने जगत् इतने हावी हैं कि घर-घर और गली-गली, कपिलदेव, संजयदत्त और श्रीदेवी घूम रहे हैं। नकल करते-करते, नकल की आदत पड़ जाती है और आदमी नकली हो जाता है। टेढ़ा चलते-चलते, टेढ़ेपन की आदत पड़ जाती है और आदमी टेढ़ा हो जाता है। गाली बकते-बकते,

१–'मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र' (डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन')

गाली की आदत पड़ जाती है और आदमी गाली बकने लग जाता है। पुलिस वालों के मुँह से उनके माँ-बाप, बीवी-बच्चों के सामने भी गालियाँ निकल जाती हैं; फिर कितने ही दाँतों से होठ काटें, आदत के अनुसार गाली निकल ही जाती है। क्या करें बेचारे आदत से लाचार हैं।

उतावलापन और दीर्घसूत्रिता : दोनों एक दूसरे के विलोम हैं। एक जल्दबाजी की हद है और दूसरी प्रमाद और आलस्य की। दोनों में तीन भाग आदत और एक भाग लत मिली रहती है। एक थकी हुई हँफनी है, दूसरी अँगड़ाई लेती हुई जम्हाई।

उतावली या जल्दबाजी, बहुत पुरानी बचपन की आदत है। बहुत छोटा बच्चा भी कभी शान्त नहीं लेटता। इतनी जल्दी-जल्दी हाथ पैर फेंकता है कि किसी बड़े आदमी को देखकर ही थकान होने लगे। उतावलेपन की शुरूआत यहीं से हो जाती है। बाद में चलकर बच्चे का बिम्ब कुछ ऐसा बनता है कि, उठाया--पटका, झटक दिया; खींचा-झिंझोड़ा, तोड़ दिया; चीरा-फाड़ा, फेंक दिया; उठा-भागा, गिर पड़ा; रोया-झींका, हँसने लगा; लड़ा-झगड़ा, खेलने लगा। यही बिम्ब उतावलेपन की सटीक परिभाषा है। बचपन की यह तथाकथित उतावली मूलतः चंचलता या चुलबुलापन है। बड़े लोगों वाली जल्दबाजी यह नहीं है। बच्चे का यह चुलबुलापन आदत कम, स्वभाव अधिक है—इसीलिए यह क्षम्य भी है। जो बच्चे चुलबुले नहीं होते उन्हें भोंदू, गँव्वले और—गोबर-गणेश कहा जाता है। वे जीवन भर सुन्न-सपाट और काहिल ही बने रहते हैं, ठंडे बैल की तरह। बच्चे के लिए चुलबुलापन आवश्यक भी है।

बाद में चलकर–बड़े होने पर, यही चुलबुलापन जल्दबाजी की आदत बन जाता है। बचपन तो बीत जाता है, लेकिन अधिकांश लोगों में यह जल्दबाजी आजीवन बनी रहती है और दोष या बुरी आदत कहला कर, आदमी की तरफ उँगली उठवा लेती है। अधिकतर तो हानि ही कराती है लेकिन कभी-कभी लाभ भी करा देती है यह !

उतावलापन या जल्दबाजी, मन की ऐसी बेचैनी मिश्रित हड़बड़ी है, जो व्यक्ति को, जहाँ है, वहीं नहीं रहने देती; जो करता है, पूरे मन से उस कार्य को नहीं करने देती। वह बैठता है तो यह भगाती है–वह भागता है तो यह ठोकर लगा कर गिराती है। होश उड़ाए रहती है। सामने कुछ और होता है, दिखाती कुछ और है। सारे संसार को पकड़ने की कोशिश कराती है, लेकिन एक–तिनका भी हाथ नहीं आने देती। जल्दबाज आदमी को आधी से संतोष नहीं होता तो पूरी के लिए दौड़ता है। पूरी को प्राप्त करने की पात्रता नहीं होती तो उससे निराश होकर, फिर लौटकर, आधी के लिए लपकता है, लेकिन तब तक आधी भी हाथ से निकल जाती है। जल्दबाजी शरीर से अधिक मन की उड़ान है। शरीर स्थिर भी

रहे, तब भी मन में भागमभाग मची रहती है। अधकचरापन इसकी रीढ़ है। असल में जल्दबाजी, मन की भागमभाग या चलाचली है।

उतावली या जल्दबाजी में तन-मन की अतिशय चंचलता, बेचैनी, अधीरता, असंतोष, तुरन्त फल-प्राप्ति की उत्कट चाह–जूड़ी की सी प्यास, झूठा यश और मान अर्जित करने की अविवेकमयी त्वरा, भीतर की हबड़-तवड़ और बाहर की उठा-धरी आदि तत्त्व निहित रहते हैं,—जो आदमी को सोचने-समझने का मौका नहीं देते, किसी अनुभवी से उचित सलाह लेने के लिए रुकने नहीं देते, आने वाली आपदा की कल्पना तक नहीं करने देते; अधिकतर भूल ही कराते हैं, अदूरदर्शी भी बनाते हैं और घाटे में भी रखते हैं।

यद्यपि, उतावलापन और दीर्घसूत्रिता दोनों बुरी आदतें हैं और दुर्गुणों में इनकी गणना होती है; लेकिन संसार में कोई ऐसा भाव या पदार्थ नहीं जिसमें केवल गुण ही हों अथवा केवल अवगुण ही हों। अवगुणों और दुर्गुणों को दोष ही बताया जाता है, लेकिन इनमें से 'अव' और 'दुर' उपसर्गों को यदि हटा दिया जाए, तो शेष 'गुण' ही रह जाता है। यहाँ हटाने और अपनाने में 'हंस-वृत्ति' की आवश्यकता है। जिसमें है यह हंस-वृत्ति, वह दुर्गुणों में से भी गुणों को छान लेता है और जिसमें नहीं है यह, वह सद्गुणों को भी दुर्गुणों में घोलकर घमंजा कर देता है। तुलसीदास जी ने भी कहा है :

"जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि बिकार।" —(तुलसी, मानस)

अतः किसी आदत, वस्तु, भाव, विचार या परिस्थिति का दुरुपयोग किया जाए तो वह दुर्गुणों में और सदुपयोग किया जाए तो वह सद्गुणों में आ जाती है। जल्दबाजी और दीर्घसूत्रिता दोनों ही, देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के आधार पर गुण-अवगुण मिश्रित आदतें हैं—हानिकर भी और लाभकर भी; शुभ भी और अशुभ भी; त्याज्य भी ग्रहणीय भी; अभिशाप भी और वरदान भी। ये दोनों हानिकर या पतन-शील नहीं होती हैं,—जहाँ जल्दबाजी का काम हो, वहाँ देर कर दी जाए और जहाँ देर से, सोच समझकर चलना हो, वहाँ जल्दबाजी कर दी जाए।

जैसे शुभ कार्य के सम्पादन में, किसी निर्दोष अथवा अबला की जान या लाज बचाने में, लड़ाई-झगड़े की जगह से भागने में, विघटनकारी तत्त्वों से दूर होने में, बुरी संगत या असद्विचारों से बचने में, रोग के निदान में, कर्ज के उतारने में, बाढ़ और आग में घिर जाने पर, गुणों के ग्रहण में और अवगुणों के त्याग में,—जल्दबाजी घातक नहीं, त्याज्य नहीं, पतनशील नहीं, दुर्गुण नहीं; अपितु शुभ है, कल्याणकारी है, सद्गुण है। लेकिन सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता आवश्यक है, अन्यथा, जान बचाने के लिए की गयी जल्दबादी ही जान ले लेती है। जैसे मकान में लगी हुई आग में घिरा हुआ व्यक्ति, उससे जान बचाने के लिए, तीसरी मंजिल से कूद

जाए, तो बचेगी जान ? अथवा पीछे पड़े हुए हत्यारों से जान बचाने के लिए, कोई अनाड़ी गहरी नदी में कूद जाए–तो बच पायेगी जान ? यदि इधर कुआ और उधर खाई हो तो, न जल्दबाजी काम आती है और न दीर्घसूत्रिता ।

जिस प्रकार विष को उतारने के लिए विष ही उपचार होता है और काँटे को निकालने के लिए काँटा ही साधन होता है, उसी प्रकार जल्दबाजी से होने वाली हानि का कारण यदि जल्दबाजी ही है तो उस हानि का निवारण भी जल्दबाजी से ही होता है । अर्थात् जल्दबाजी यदि रोग भी है तो इलाज भी है । जैसे आती हुई रेलगाड़ी को पकड़ने की जल्दबाजी में, किसी उतावले व्यक्ति का पैर, प्लेटफार्म से फिसल जाए और वह नीचे पटरी पर गिर पड़े, तो उठने और चढ़ने में यदि उसने दूनी जल्दबाजी से काम न लिया, तो वह कुचल कर मर जाएगा । यहाँ जल्दबाजी के कारण ही वह मर सकता था तो जल्दबाजी के कारण ही वह बच सकता है ।

आवश्यकता और समय के अनुसार, जल्दबाजी और दीर्घसूत्रिता दोनों, आदमी को कारगर भी बनाती हैं और बेकार भी कर देती हैं । ऐरे-गैरे लोग, स्याह सफेद करके, छलाँग लगाकर, आगे बढ़ जाते हैं और ज्यादा काबिल की पूँछ, पच्चीकारी में, बाल की खाल निकालने में, वहीं का वहीं धरा रह जाता है । आजकल के 'बफर डिनर' (खड़खाना) में जल्दबाज, फटा-फट खाकर किनारे जाते हैं और संकोची, जब तक हाथ बढ़ाता है, तब तक डोंगा-पटोंगा खाली मिलते हैं ।

भाषा विज्ञान का 'प्रयत्न लाघन' प्रकारान्तर से जल्दबाजी ही है । सूत्र, वृत्ति, सूक्ति, मंत्र, जप, अखंड-कीतन, अखंड-रामायण-भागवत-पाठ', सत्यनाराथण की कथा आदि कर्मकाण्डों की धमनियों में जल्दबाजी का ही खून दौड़ता है । जल्दबाजी यदि उच्चरक्तचाप (हाई ब्लड प्रैशर) है तो दीर्घ सूत्रिता अति निम्न रक्त-चाप (लो ब्लड-प्रैशर) मुहावरे, कहावतें, समास आदि विस्तीर्ण के संक्षिप्तीकरण हैं और इस संक्षिप्तीकरण में जल्दबाजी का भी कुछ न कुछ अंश रहता है । ये बातें 'उतावलापन नाश का कारण है', इस कथन के अपवाद हैं ।

दीर्घसूत्रिता :—दीर्घसूत्रिता तन और मन की ऐसी शिथिल, उत्साह रहित और सिकुड़ी हुई चेष्टा और वृत्ति है, जिसे कितना ही ठेलो, गति नहीं पकड़ती—अपितु घिसटती रहती है; कितना ही जलाओ, बाती की तरह जलती नहीं—अपितु गीली लकड़ी की तरह सुलगती रहती है; कितना ही उकसाओ, सरसराती नहीं, अपितु उमसती रहती है और कितना ही जगाओ—उठती नहीं अपितु करवट बदलती रहती है । वस्तुतः दीर्घसूत्रिता, केंचुआ-वृत्ति है कि दो सूत चलती है और आठ सूत सिकुड़ जाती है ।

शारीरिक शैथिल्य से जब मानसिक लापरवाही का विवाह हो जाता है तो इन दोनों के संयोग से दीर्घसूत्रिता नाम की पुत्री पैदा होती है । इसके जवान होने पर जिन लोगों को इससे प्रेम हो जाता है, वे दीर्घसूत्री कहे जाते हैं ।

दीर्घसूत्री व्यक्ति के सामने, रास्ता ही रास्ता होता है, मंजिल कोहरे से ढकी

रहती है। वह रेंगता है,—चलता नहीं, अतः मंजिल पर पहुँचता भी है तो बड़ी मुश्किल से। वह बहुत बड़े-बड़े काम करने के मंसूबे तो बाँधता रहता है, लेकिन कर नहीं पाता और करता भी है तो कोई काम पूरा नहीं होता। दुविधा की स्थिति उसे सदा घेरे रहती है कि करूँ कि न करूँ; जाऊँ कि न जाऊँ। इसीलिए उसकी किसी भी क्रिया में सफाई और खुलापन नहीं होता, अपितु एक उलझाव बना रहता है। वह खुलकर रो भी नहीं सकता,—सुबकता है; वह खुलकर हँस भी नहीं सकता,—होठ फैला देता है; वह खुलकर कह भी नहीं सकता,—बुदबुदाता है। उसके भीतर से यही तकिया-कलाम निकलता है कि 'देखा जायेगा'—लेकिन कभी देखा नहीं जाता। लंवित और लंवित ही करते जाना; टालना और, टालते ही चले जाना उसकी आदत बन जाती है। झट-पट की अनुगूँज उसके भीतर से नहीं निकलती। 'नौ दिन चलै अढ़ाई कोस' मुहावरा दीर्घसूत्रियों को देखकर ही बना होगा। इसीलिए ऐसे व्यक्ति को छोड़ सब आगे निकल जाते हैं। भगवान बुद्ध ने कहा था :

"सोते हुओं को जागने वाला और प्रमादियों को अप्रमादी व्यक्ति, उसी प्रकार पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाता है, जिस प्रकार कमजोर घोड़े को पीछे छोड़कर बलवान घोड़ा तेजी से आगे निकल जाता है।"

दीर्घसूत्रिता—आलस्य और प्रमाद, इन दोनों की सीमातीत अवस्था का नाम है। यह कहानी इस अवस्था का पूरा चित्रांकन करती है—दो आलसी एक आम के पेड़ के नीचे रात भर पड़े रहे। सुबह हुई और उस पेड़ से एक आम टूट कर एक आलसी के पास आ गिरा। उसने दूसरे से कहा कि जरा इस आम को उठाकर मुझे दे दे। दूसरे ने कहा कि उठाले अपने आप। पहला बोला कि बड़ा आलसी है रे तू कि अपने मित्र के लिए इतना भी नहीं कर सकता। दूसरे ने कहा कि तू कम आलसी है क्या कि कुत्ता रात भर मेरे ऊपर मूतता रहा और तू पड़ा-पड़ा देखता रहा। हटा नहीं सकता था।

यह हाल है, इन दीर्घसूत्रियों का। कितना मन मोहेंगे ये किसी का ? कितना स्थान बनाएँगे समाज में ये अपना ? कितना उद्धार करेंगे ये जगत् का ? ऐसा व्यक्ति सामने आ जाए तो लोग आँखें बचा लेते हैं। नमस्कार करने में भी डरते हैं कि पकड़ लेगा तो आसानी से पिंड नहीं छोड़ेगा।

वह घर में रहेगा तो बाहर को भूल जायेगा और बाहर रहेगा तो घर को भूल जायेगा। कुछ खरीदने जायेगा तो घंटों सोचेगा कि कौन सी चीज खरीदूँ ? सारी चीजों की उलट-पुलट कराकर, दुकानदार से माथा ठुकवाकर, अन्त में खरीद-कर लायेगा सुई। जोतेगा सौ गज,—काटेगा गजभर। चलेगा दिन भर—पहुँचेगा कोसभर। लक्ष्य होगा कहीं और,—अटक जाएगा कहीं और !! बनाने चलेगा मकान—बन जायेगी दुकान। कहना चाहेगा माता की,—कह जायेगा मसानी की।

इस प्रकार तीन तरह के लोग हुए—मध्यममार्गी, जल्दबाज और दीर्घसूत्री। मध्यममार्गी लगातार इकसार चलता है, जल्दबाज उखड़कर भागता है और दीर्घसूत्री

रंगता है। मध्यम मार्गी सोच-समझकर करता है, जल्दबाज छोड़ता-लपकता है और दीर्घसूत्री सोचने और करने के बीच में टँगा रहता है। मध्यम मार्गी खाता है, जल्दबाज सटकता है और दीर्घसूत्री चींगता है। मध्यममार्गी पीता है, जल्दबाज गटागट डोकता है और दीर्घसूत्री चुसकता है। मध्यममार्गी कहता है, जल्दबाज बकर-बकर करता है और दीर्घसूत्री चुभलाता है।

एक में समता है, दूसरे में विषमता है और तीसरे में उदासीनता है और जड़ता है। एक समशीतोष्ण है, दूसरा अति का गर्म और तीसरा अति का ठण्डा, एक नौ दिन में नौ कोस चलने के पक्ष में रहता है, दूसरा ढाई दिन में नौ कोस चलने के और तीसरा नौ दिन में ढाई कोस चलने के पक्ष में।

दीर्घसूत्रिता की आदत द्वापर के 'द्रौपदी के चीर' और 'अश्वत्थामा के घाव', मुगलकालीन 'बीरबल की खिचड़ी' जैसे मुहावरों की और आजकल की अदालतों में चलने वाले मुकदमों की सटीक व्याख्या प्रस्तुत करती है–कि–न तो द्रौपदी का चीर खिंच पाया, न अश्वत्थामा का घाव कभी भर पाया और न आजकल के मुकदमे खतम होने का नाम लेते हैं। ठीक इसी प्रकार आलसियों का काम भी कभी समाप्त नहीं होता।

दीर्घसूत्रिता में मुख्य रूप से प्रमाद अर्थात् मानसिक लापरवाही और आलस्य अर्थात् शारीरिक शिथिलता तथा गौण रूप से अकर्मण्यता, उदासीनता, निरुत्साह, हीनभावना, भय, कायरता, ठंडापन, हताशा संकोच आदि तत्त्व घुले रहते हैं, जो व्यक्ति की गति की दुर्गति कर देते हैं; सफलता को असफलता में बदल देते हैं; लाभ होने की स्थिति में हानि करा देते हैं।

लेकिन, हे दीर्घसूत्रियो ! अपना यह 'केंचुआ और कछुआ-पुराण' पढ़कर, तुम्हें अधिक माथा पीटने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अभी कुछ ऐसे काम–बाकी हैं, कुछ ऐसी बातें बाकी हैं, जिन्हें करने या अपनाने के लिए तुम्हारा—सो-सो कर चलना, रो-रोकर करना और गिड़गिड़ा कर हथियार डाल देना ही रंग दिखाएगा। उन कामों में, जल्दबाज लोग, साँपों की तरह मारे जाएँगे, भगाये जाएँगे और यदि पूजे भी जाएँगे तो केवल डर की वजह से। जबकि केंचुओं की तरह तुम जैसे दीर्घसूत्री दवा बन जाएँगे, जमीन को मुलायम करेंगे—फासफोरस बनाएँगे। अर्थात् दीर्घसूत्रिता गुण बन जाएगी,—लाभ कराएगी। इन कामों में दीर्घसूत्रिता त्याज्य नहीं है। याद रखना कि—जब बुरा वक्त आये तो तुम सिकुड़ जाना, अपने हाथ-पैरों को कछुए की तरह भीतर समेट लेना, जहाँ जिस हालत में हो, वहीं थिर हो जाना—और रहीम की बात सार्थक हो जाएगी कि—

"रहिमन" चुप ह्वै बैठिए देखि दिनन कौ फेर।"

यदि तुम मूर्ख भट्टाचार्य हो, कुछ नहीं जानते और विद्वानों की सभा में–फँस जाओ तो कुछ भाखना मत, बस गम्भीर मुद्रा धारण कर लेना और चेष्टा या इशारों से ही काम लेना,—तुम्हारी अति की चुप्पी कालिदास की विद्वत्ता बन जाएगी।

यदि कभी जीवन की विकट समस्याएँ पूरा मुँह फाड़कर तुमको लीलने के लिए या उड़ाने के लिए आँधी की तरह आयें, तो तुम शुतुरमुर्ग की तरह आँख मींचकर रेत में ढुक जाना—तुम उड़ने, उखड़ने से बच जाओगे। आँधी तो थोड़ी देर में उतर ही जाएगी, क्योंकि डर और झर सदा नहीं रहते।

वहीं जाने के लिए, यदि तुम्हारे सामने, बहुत तेज गति वाले वाहन में बैठने की बात हो तो, तुम अपनी आदत के ही समान मंद गति वाले वाहन से ही जाना,—दुर्घटना बच जाएगी और तुम साबित के साबित गंतव्य पर पहुँच जाओगे!

यदि कोई तुमसे, अत्यन्त क्रोध से उबलते हुए व्यक्ति के सामने जाने के लिए कहे, भयंकर आग में जाने के लिए कहे, अथाह पानी में कूदने के लिए कहे अथवा हिंसक पशुओं के सामने निहत्था जाने के लिए कहे तो तुम पूरी तरह से जूआ डाल देना, हाथी से चींटी हो जाना, जमीन पकड़ लेना और कहावत चरितार्थ हो जाएगी कि 'जान बची और लाखों पाये, लौटके बुद्धू घर को आये।'

कोई तुम्हें, चोरी, हत्या, बलात्कार आदि अधर्म के कार्य करने के लिए कितना ही प्रोत्साहित और पुरस्कृत करे, तुम अपनी आदत से बाज मत आना, हिलना ही मत—पाप, अपा-अपा करके तुमसे दूर भागेगा!! ये बातें 'दीर्घसूत्री विनश्यति' कथन के अपवाद हैं।

इन स्थितियों और परिस्थितियों में जितनी ही देरी, जितना ही आलस्य और जितनी ही जड़ता दिखायी जाएगी, उतनी ही वह वरदात्री बन जाएगी! लेकिन फिर भी उसमें विवेक, आशा, धीरज, सूझ-बूझ और दूरदर्शिता का बना रहना और थोड़ा शऊर सलीका भी आवश्यक है। ये गुण जल्दबाज और आलसी दोनों के लिए ही आवश्यक हैं—अन्यथा वे जो भी काम करेंगे, वह बिगड़ ही जाएगा और उस काम पर उनकी आदत की छाप उसी प्रकार छूट जाएगी, जैसे किसी शायर की यह पंक्ति कहती है कि—

"जो जाम छू दिया हो किसी बेशुऊर ने,
उस जाम से शराब छलकती ज़रूर है।"

□

२. चिन्ता

मन की धरती में इच्छा के दबे हुए बीज को, जब बुद्धि, चेत और सम्बन्ध-ज्ञान का खाद-पानी मिलना शुरू हो जाता है तो कालान्तर में चिन्ता का पादप— उगता है। इस पौधे में निराशाओं के पल्लव फूटते हैं; काम और कुंठाओं की टहनियाँ निकलती हैं। व्याकुलता, बेचैनी, तड़प, आहों और कुछ कर डालने की भावनाओं की इसमें कलियाँ आती हैं। इसकी दो शाखाएँ होती हैं—एक इष्ट-कारिणी चिन्ता की, जो चिन्तन-मनन का नाम बनकर आनन्दमय कर्म के फूल खिलाती है और दूसरी अनिष्ट कारिणी चिन्ता की, जो सोच-फिक्र का नाम बनकर बिना कोई फूल खिलाए, शोक और दुखभरी आहों की लू से झुलस जाती है।

इस प्रकार चिन्ता श्लेषार्थी शब्द है, जिसका एक अर्थ सोच, शोक और परेशानी भरा निष्क्रिय विचार है और दूसरा अर्थ, चिन्तन-मनन युक्त क्रियाशील करने वाला विचार है। वैसे चिन्ता, दुख के ही परिवार का एक सदस्य है और लोक में शोक-दग्ध रखनेवाले मनोभाव के रूप में ही जाना जाता है। सर्जन के लिए प्रेरित करने वाली विवेकमय विचार-सरणि को विद्वान् लोग 'चिन्तन' कहते हैं।

चिन्ता हो या चिन्तन, एक दाहकत्व अथवा एक आग दोनों में ही होती है, लेकिन एक अन्तर के साथ! शोकाकुल करने वाली चिन्ता में तो वह आग होती है, जो असावधानी, भूल या अज्ञान से घर में लग जाती है और सब कुछ भस्म कर डालती है; लेकिन चिन्तन-मनन वाली चिन्ता में वह आग होती है, जो इन्जन में भाप बनाकर, उसे चलाने के लिए जलायी जाती है।

अतः अप्राप्त की प्राप्ति के लिए अथवा प्राप्त के विनाश से उत्पन्न मन की एक ज्वलनशील, दाहक या उद्विग्न करदेनेवाली विचारधारा या तड़प या लगन चिन्ता है। चिन्ता आश्रय के माथे पर पड़ी हुई सिलवटों से, सिकुड़ी हुई भौंहों से, तीव्र उच्छ्वासों से, करवटें बदलने से, एकान्त में बैठने या अन्यमनस्क घूमने से, होठों के बुदबुदाने से, तिनका नोंचने से या पत्थर उछालने से जाहिर होती है। इसके आलम्बन दृश्य-अदृश्य दोनों हो सकते हैं। अतीत की असफलताओं की यादें, वर्तमान में बिगड़ा हुआ अथवा अधूरा काम तथा भविष्य की आकांक्षाएँ आदि बातें, चिन्ता में चिराग को जलाये रखने वाले तेल का काम करती हैं।

चिन्ता दुःख को व्यक्त करने वाला या सुख-प्राप्ति की बेचैनी की पहचान कराने वाला पहला व्यक्त लक्षण है। चिन्ता पैदा करने वाला कारण उपस्थित होते क्षण ही चिन्ता पैदा नहीं हो जाती। उस समय तो बुद्धि पर एक कोहरा सा छा

जाता है; सोच विचार बन्द हो जाते हैं; किंकर्त्तव्य विमूढ़ता घेर लेती है। उस क्षण विशेष के बीत जाने पर, एकान्त मिलने पर—फिर से मन में उसी क्षण विशेष का चित्र उभरता है, वह चित्र इतना पारदर्शी, साफ और प्रभावकारी होता है कि व्यक्ति में एक तड़प, उद्विग्नता और विभिन्न प्रकार की टीसों को उखाड़ देता है और चिन्ता के दोनों रूपों का आरम्भ यहीं से हो जाता है। क्योंकि मनुष्य की एक विशेषता यह भी है कि वह कहने के बाद ही, बिना कहे, असली कथ्य को भीतर ही भीतर कहा करता है; देखने के बाद ही, बिना देखे, असली दृश्य को भीतर ही भीतर देखा करता है और घटना-दुर्घटना के बीत जाने पर ही, उसके सुखद या दुःखद पक्षों पर, भीतर सोच विचार किया करता है; लेकिन फिर भी यदि वह बाहर व्यक्त रूप में कहदे या देखले, तो पुनः वह सब अनकहा और अनदेखा हो जाता है और लौटकर वही कहने या देखने का सिलसिला भीतर फिर से चालू हो जाता है। यह अविरल आकुल सिलसिला भी चिन्ता है।

यही सिलसिलेवार चिन्ता आगे चलकर, नाना प्रकार के मनोविकारों को जन्म देकर या जगाकर मनुष्य को गिराती भी है और उठाती भी है। पर-चिन्ता, पतन की जड़ है और आत्म या अध्यात्म चिन्ता, अभ्युत्थान की। पदार्थ की चिन्ता लोभ को जगाती है और 'केहि कर लोभ विडम्बना कीन्हि न येहि संसार।' स्त्री की चिन्ता काम-वासना को जगाती है और 'को जग काम नसाव न जेही।' अपनों की चिन्ता मोह को जगाती है और 'मोह सकल व्याधिन कर मूला।' शत्रु की चिन्ता भय, क्रोध, वैर और प्रतिशोध को जगाती है और 'क्रोधः पापस्य कारणम्।' पद और प्रतिष्ठा की चिन्ता अन्याय, अनीति, अधर्म, शोषण और मद को जगाती है और 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।' आत्म चिन्ता ध्यान और बोध का दीया जलाती है। बुद्ध ने कहा था 'अप्पदीपो भव।' परमात्म चिन्ता भक्ति, प्रेम और ज्ञान को उपलब्ध कराती है—ईश्वर में मिला देती है— 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।' कहने का भाव यह कि लोक और परलोक का सारा वितान चिन्ता के ठाठ पर तना है।

मनोविकारों में लोभ, मोह, काम, क्रोध, भय आदि तो मात्रा भेद से पशु-पक्षी सभी में पाये जाते हैं, लेकिन चिन्ता ही एकमात्र ऐसा मनोभाव है, जिसका अधिवास सिर्फ मनुष्य में ही है। पशुओं से मनुष्य में जो भिन्नता के बिन्दु हैं, वे हैं,—बुद्धि, चेत और सम्बन्ध-ज्ञान। अतः स्पष्ट है कि चिन्ता वहाँ है, जहाँ बुद्धि-विवेक है; चेत है और सम्बन्धों का ज्ञान है। मनुष्य में भी चिन्ता-जन्म के साथ नहीं, चेत के साथ पैदा होती है। चेत पैदा न होने तक मनुष्य और पशुओं की वृत्तियों में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता।

छोटे बच्चों में चिन्ता नहीं होती, क्योंकि बच्चों में चेत नहीं होता। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होने लगता है; जैसे-जैसे उसमें चाह और इच्छाओं का फैलाव होने लगता है; ज्यों-ज्यों उसे सुख-दुख की अनुभूति होने लगती है; जैसे-जैसे उसका सम्बन्ध-ज्ञान विकसित होने लगता है; किशोरावस्था के मादक झोंके जैसे-जैसे उसे

गुदगुदाने लगते हैं और खोने का दुख और पाने की ललक ज्यों-ज्यों उसे व्याकुल करने लगती है—त्यों-त्यों चिन्ता बाँह पसारे उसे अपनी अटारी पर आने का आमंत्रण देने लगती है और पहली चिन्ता उसमें काम-वासनामयी हिलोर बनकर उठती है। फिर तो चिन्ताओं का ऐसा जाल फैलता चला जाता है कि जीवन के अन्तिम क्षण तक मनुष्य उसमें से निकल नहीं पाता अपितु और उलझता चला जाता है—

"को छूट्यौ इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात॥" (बिहारी)

गहनतम चिन्ता उन चीजों की होती है, जो मनुष्य के पास नहीं होतीं—या तो खो गयी होती हैं या फिर अभी मिली नहीं, जिनकी अभीप्सा बनी हुई है और भविष्य में जिनके मिलने से लाभ की आशा है। अर्थात् चिन्ता दो ही कालों की ओर अधिक खिचती और तनती रहती है—अतीत की ओर या भविष्य की ओर। वर्तमान चिन्ता को कम सँभाल पाता है। वर्तमान की चिन्ता होती भी है तो उतनी कसक-दार नहीं, सिर्फ आयी-गयी, क्योंकि अधिकांश लोग वर्तमान में जगते ही नहीं; जब उनकी आँखें खुलती हैं, तब तक वर्तमान व्यतीत होकर अतीत बन जाता है। वर्तमान में बिगड़े हुए काम को देखकर आदमी चिन्तित होता है, लेकिन इस चिन्ता में बिगड़े को सुधारने के सपने भी होते हैं। सपनों में आशा और सम्भावना छिपी रहती है और सम्भावना सदा भविष्योन्मुखी होती है।

वर्तमान में स्थित चीजों की भविष्योन्मुखी चिन्ताएँ और भी बहुत हैं, जैसे—बच्चे नहीं हैं तो उनके होने की चिन्ता और हो जाएँ तो उनकी शिक्षा-दीक्षा, रोजगार और शादी व्याह की चिन्ता। सुख है तो उसे बनाये रखने की चिन्ता और दुःख है तो उसे दूर करने की चिन्ता। वर्तमान चिन्ता की कसक को अनुभव करने का क्षण है।

सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों का निवास पैसे में है और पैसे की चिन्ता सभी को होती है। पैसा न हो, तो चिन्ता और हो, तो चिन्ता। धन का अर्थ ही चिन्ता है। आवश्यकता से अधिक धन की चिन्ता गलत कार्य कराती है और वांछित योग्यता से रहित, पद की चिन्ता भी दूसरों का दिल दुखाती है, नीति-न्याय के मानदण्डों को तोड़ती है। यह चिन्ता आदमी के भीतर की वह उमस है, जो अपने को भी सुलगाती है और दूसरों को भी झुलसाती है। सचल और अचल बेकरारी है। धड़कन की तरह सबके भीतर यह चलती रहती है—खयाल करें तो पता चलता है; न करें तो पता नहीं चलता, लेकिन चलती हर समय रहती है। आँसू की तरह सबके भीतर बंद रहती है—दुःख का ताप हो तो पिघलकर बाहर आ जाती है और सुख की शीतलता हो तो जमी रहती है। दुःख की इच्छा की तरह इसका सुख होता है और सुख की इच्छा की तरह इसका दुःख। अर्थात् दुःख को कोई नहीं चाहता, फिर भी कोई न कोई दुःख आदमी को घेरे रहता है और सुख को सभी चाहते हैं, फिर भी सुख टिक नहीं पाता।

काल-बोध और अनुभूति-क्षमता, भिन्न-भिन्न प्रकार की चिन्ताओं को जगाने

तथा उनके रूपान्तरण में, बहुत कुछ सहायता करते हैं जैसे, दिन निकला तो काम की चिन्ता और रात आयी तो आराम की चिन्ता ! सर्दी आयी, गरम चीजों की चिन्ता और गर्मी आयी, ठण्डी चीजों की चिन्ता ! बरसात की अलग चिन्ताएँ। चिन्ता जब अपना हाथ आगे बढ़ाती है अथवा जब अपने आप को क्रियाओं या चेष्टाओं के द्वारा व्यक्त करती है तो उसमें से अमीरी-गरीबी, अनिवार्य आवश्यकता और विलासिता, जवानी और बुढ़ापा, सद्भाव और शत्रुता आदि साफ झलक जाते हैं। चिन्ता भाव-अभाव और व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विषय-सूची या भूमिका है। अतीत की चिन्ता में से अनिष्ट और मृत्यु की ध्वनि निकलती है और भविष्य की चिन्ता में से आशा और जीवन की सुनहली किरणें ! प्रसाद जी के मनु के मुख से यही ध्वनि निकली थी—

"उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।" (प्रसाद, कामायनी)

पशु-पक्षियों और बच्चों में चिन्ता न होने का एक कारण यह भी है कि न तो उनमें काल-बोध होता है और न मनुष्य की सी विवेकमयी अनुभूति-क्षमता ! केवल भौतिक मौसमी प्रभाव के कारण ही उनमें शारीरिक बचाव, छिपाव, स्वेद, रोमांच आदि पैदा होते हैं और मौसम तथा परिस्थिति बदल जाने पर विलुप्त हो जाते हैं। इनमें न तो अतीत होता है और न भविष्य ! केवल वर्तमान की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए बोध रहित बेचैनी होती है और इसीलिए ये आज और अभी में तृप्त रहकर चिन्ता से सदा अलक्षित रहते हैं; जबकि मनुष्य के पैर तो वर्तमान की चट्टान पर रहते हैं पर उसका मन अतीत और भविष्य के शून्याकाश में झूलता रहता है। मनुष्य कल (बीते) और कल (आने वाले) में ही खिंचता रहने के कारण चिन्ता का लक्ष्य बना रहता है।

लोक और साहित्य में, चिन्ता के सम्बन्ध में, परिणाम के अनुसार विरोधाभासी कथन मिलते हैं। एक ओर इसके लिए कहा जाता है कि 'चिन्ता चिता से बढ़कर है।' चिता तो मुर्दा व्यक्ति को ही जलाती है, लेकिन चिन्ता जीवित व्यक्ति को जला डालती है। साहित्य में भी इसी तरह चिन्ता को अनिष्ट कारिणी बताकर मनुष्य को इससे बचने के उपदेश दिये गये हैं। कबीर कहते हैं—

"चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआ बे परवाह।
जिनको कछु न चाहिए, सोई साहंसाह॥"

तुलसीदास ने लिखा कि "चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया।" प्रसाद जी ने भी इसे विश्वरूपी वन में भयंकर व्याली के समान बताया—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा अरी विश्व-वन की व्याली।"

इन सभी उक्तियों का सार यही है कि 'चिन्ता नहीं करनी चाहिए।' निश्चिन्त रहना चाहिए। दूसरी ओर मनुष्य से यदि कहीं चूक हो जाए; कोई काम बिगड़ जाए अथवा कोई लापरवाही हो जाए तो कहा जाता है कि तुम्हें बिल्कुल

चिन्ता नहीं ।' 'थोड़ी बहुत चिन्ता-फिक्र होती, तो काम न बिगड़ता, नुकसान न होता ।'

निष्कर्षत : जीवन और जगत् के लिए चिन्ता, व्यक्ति, कार्य और परिस्थिति भेद से त्याज्य भी हैं और ग्राह्य भी हैं। दोनों प्रकार के विरोधाभासी कथनों के आधार पर, चिन्ता के पूर्वोक्त दो भेद हो जाते हैं—(१) इष्टकारिणी चिन्ता और (२) अनिष्टकारिणी चिन्ता ।

(१) इष्टकारिणी चिन्ता (चिन्तन)

कुछ भूल हो जाने पर सुधारने के लिए, कुछ छूट जाने पर प्राप्त करने के लिए, पीछे रह जाने पर आगे बढ़ने के लिए, कुछ न कर पाने पर, करने के लिए— भीतर की एक कोंच, एक लगन—सजग या नियमित रहने के लिए उकसाकर सदा तत्पर और गतिशील रखने वाली फिक्र, इष्टकारिणी चिन्ता है। मनुष्य की जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिए यह आवश्यक है। जागरूकता की कुंजी है यह। यह ऐसी फिक्र है, जिसकी दाहकता में कुछ-कुछ आशा और कर्म के प्रति तत्पर रहने की उत्साहमयी प्रेरणा भी छिपी रहती है।

कहा जा सकता है कि यह चिन्ता, एक ऐसी छड़ी है, जो सोये हुए को जगाती है; जगे हुए को आगे बढ़ाती है और बढ़े हुए को मंजिल तक पहुँचाती है। अपूर्णता का बोध कराकर पूर्णता की ओर ले जाती है। यह चिन्ता, आलस्य और प्रमाद को काटने की छैनी है। अँधेरे में भटकने वाले के लिए एक मशाल है। अवनति की खाई में गिरे हुए को, ऊपर चढ़ाने के लिए एक रस्सी है। यह चिन्ता चिन्तन और चैतन्य की जननी है। इसमें ईर्ष्या का अंश अधिक होता है, जलन का नहीं। ईर्ष्या-दूसरों को आगे बढ़ते देखकर, उसका अनिष्ट चाहने वाली एक अन्तः वर्तिनी एषणा है और जलन दूसरों की उन्नति को देखकर और स्वयं के उठ न सकने के कारण होने वाला आत्म-संताप है। इसमें दूसरों को हानि पहुँचाने तथा कोसते रहने की वृत्ति भी होती है। इच्छाओं में से निकलकर, क्रियाओं को पार करती हुई यही चिन्ता आदमी को ज्ञान तक ले जाती है।

इसी में सर्जन के बीज हैं, विकास है और विस्तार है; अपूर्ण के अहसास से पूर्ण की ओर जाने की आकुली हट है; अज्ञान का भान होने पर ज्ञान प्राप्त करने की प्यासी जिज्ञासा है; असत्य की पहचान होने पर सार और सत्य की ओर अटूट-प्रमाणभरी कर्मण्यता है—जिससे मनुष्य का विकास और उत्थान होता है। इसी के लिए संभवतः प्रसाद जी ने लिखा होगा कि—

"बुद्धि मनीषा मति आशा चिन्ता कितने हैं तेरे नाम।" —(कामायनी)

अर्थात् इस इष्टकारिणी चिन्ता में, तर्क-वितर्क करने वाली बुद्धि; मनन चिन्तन करने वाली मनीषा, वर्तमान का चिन्तन करने वाली मति और भविष्य का चिन्तन करने वाली आशा भी समाहित है।

अतः स्पष्ट हुआ कि इष्टकारिणी चिन्ता बुद्धिमानों, मनीषियों, मतिमानों, विवेकियों और सवेदनशीलों की ऐसी चिन्ता है, जिसमें लोककल्याण, त्याग और परोपकार में परिणत होने वाला चिन्तन समाया रहता है। इसी में जब जीवमात्र के प्रति दया का भाव घुलकर घनीभूत हो जाता है तो यह करुणा बन जाती है। इसी से बाल्मीकि की रामायण, कृष्ण की गीता, बुद्ध की करुणा, महावीर का शील-सदाचार, जीसस की बाइबिल, मुहम्मद की कुरान, गांधी की अहिंसा, शुक्ल जी की चिन्तामणि और प्रसाद की कामायनी निकलकर आयीं।

इसमें एक आवेग, एक उद्वेग, कुछ करने की एक बेचैनी और एक विशिष्ट प्रकार का असन्तोष होता है। एक कमी, एक अभाव व्यक्ति को हर समय सालता रहता है कि जो कुछ हुआ, वह काफी नहीं है—कुछ और इससे भी अच्छा होना चाहिए ! जितना जान गया हूँ मैं, वह तो कुछ भी नहीं है—कुछ और जानना है मुझे ! जहाँ हूँ, वह मेरी मंजिल नहीं है—अभी मुझे और आगे जाना है ! जो हूँ, वह मैं नहीं हूँ—जो नहीं हूँ, उसी को मुझे खोजना है !!

इसी प्रकार की चिन्ता की हर साँझ, सवेरे की भूमिका है; हर रात दिन का प्राक्कथन है; हर निराशा आशा का द्वार है; हर पतझड़ बसंत की सूचना है। यही चिन्ता कामायनी के मनु को आनन्द के शिखर पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी बनी थी। चिन्ता का यह रूप राख से ढका अँगार है, बस कुरेदकर उसे सक्रिय करने की जरूरत है—और ज्वाला धधक उठेगी। कोहरे से ढका प्रातःकाल है, बस सूरज निकलने की देर है—और अँधेरा छट जाएगा।

हमारे यहाँ मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाले कुछ प्रतीक, जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि का उल्लेख किया जाता है और इनको स्वर्ग में देवताओं के पास बताया जाता है। असल में न तो मूर्त पदार्थ है और न इनका कोई अस्तित्व है। बल्कि ये सब विवेकमय अनथक प्रयास से भरी—इष्टकारिणी चिन्ता के ही अलग-अलग नाम हैं। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जिसने भी जिस चीज की चिन्ता की और फिर उसकी प्राप्ति के लिए अटूट प्रयास किया—उसे वही मिला। जिन्होंने धन की चिन्ता में हाथ-पैर मारे और स्याह-सफेद किया, वे धनवान् हो गये। जिन्होंने पद-प्रतिष्ठा के लिए जी-जान एक किये और छल-कपट तथा चाटुकारिता से काम लिया, वे पदासीन हो गये। जिन्होंने जनता और देश की चिन्ता में संघर्ष किया, वे शहीद हुए और अमर हो गये। जो बोध और ईश्वर प्राप्ति की चिन्ता लेकर—साधना में तपे, वे बुद्ध हुए और ब्रह्म हो गये। कवि, कलाकार और पहलवान; चोर, चाटुकार और कातिल; भक्त, दार्शनिक और वैज्ञानिक आदि सब इस चिन्ता की भट्टी में तपकर ही बाहर आये हैं।

मनुष्य अकूत शक्तियों का ज्वालामुखी है और चिन्ता इस ज्वालामुखी के विस्फोट का पहला पलीता है। प्रसाद जी ने कहा था—

"ज्वालामुखी स्फोट के भीतर प्रथम कम्प सी मतवाली।" (कामायनी)

अतएव चिन्ता एक ऐसा ज्वलनशील मनोभाव है, जो निष्क्रियता की वर्फ पाकर पश्चात्ताप से जलाता है और क्रियाशीलता की गर्मी पाकर आनन्दमय ठंडक देता है। जिनको कोई चिन्ता नहीं होती, वे या तो कबीर जैसे शाहंशाह संत होते हैं या फिर एक कवि द्वारा बताये गये महामूढ़ कि—

"सबसे भले मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति।"

(२) अनिष्टकारिणी चिन्ता (सोच, शोक)

लोगों की जबान से जिस चिन्ता का नाम अक्सर सुना जाता है, वह यही चिन्ता है। यह शोक, सोच-फिक्र और परेशानी लिये हुए व्यक्ति के भीतर का दाह है। यह व्यक्ति के भीतर की ऐसी न दिखाई देने वाली लपट है, जो धीरे-धीरे उसे खोखला कर डालती है। इसमें से जीवन की किरणें नहीं, मौत की परछाइयाँ निकलती हैं। इसके भँवर जाल में आया हुआ आदमी वैसे ही देखते-देखते विलीन हो जाता है, जैसे गहरे पानी में गिरा हुआ वह अनाड़ी, जो न तो उल्टे-सीधे हाथ पैर मारकर तैर पाता है, न किनारे के घास-पात को पकड़ बाहर आ पाता है और न किसी को आवाज लगा पाता है, बल्कि वहीं का वहीं गोता खाता हुआ डूब जाता है।

इसी चिन्ता को सभी निषिद्ध बताते हैं, क्योंकि यह काहिलों, कर्महीनों, असन्तुष्टों और आलसियों की निष्क्रिय छटपटाहट है। इसमें दूसरों के उत्थान से जलन और अपने पतन से कुढ़न भी होती है। काल्पनिक गतिशीलता तो इसमें होती है, लेकिन शारीरिक जड़ता और मानसिक उत्साहहीनता आदमी को दबोचे रहती है—कर्म की ओर प्रेरित नहीं करती। इसमें से सावधानी, जागरूकता और चैतन्य के स्वर नहीं फूटते, अपितु विस्मृति, अवसाद और अस्त व्यस्तता की या बेहोशी की ध्वनि निकलती है। जैसाकि प्रसाद कहते हैं—

"विस्मृति आ अवसाद घेर ले नीरवते ! बस चुप कर दे।" (कामायनी)

इसका परिणाम यही होता है कि आदमी निष्क्रिय हुआ कुढ़ता रहता है, चिढ़ता रहता है—हताश और निराश हुआ पड़ा रहता है। उसके हृदय का प्रेम और उल्लास सूख जाता है। गति रुक जाती है। प्रकृति मुरझा जाती है। उसकी साँझ का कभी सवेरा नहीं आता; रात का कभी दिन नहीं निकलता। उसके पतझड़ में कभी बसंत नहीं आता। उसके आँसू और हाय में, अतीत को समेटे हुए एक कराह उठती है कि, "हम कौन थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी।" लेकिन न तो अतीत से वह कोई सबक लेकर वर्तमान को सँभाल पाता है और न भविष्य के सुनहले सपने देखकर मुग्ध हो पाता है, अपितु अपने तन-मन को घुन लगी लकड़ी की तरह जर्जर बना लेता है।

फलतः आधि और व्याधि दोनों प्रकार की बीमारियाँ, इस चिन्ता के झरोखे से कूदकर आदमी को पकड़ लेती हैं। आधियों में विक्षिप्तता, पागलपन, चिड़चिड़ापन

आदि इस चिन्ता देवी की सेवा से प्राप्त फल हैं और व्याधियों में सिरदर्द, चक्कर, कब्ज, हृदयरोग, पीलिया, टी बी, ऐनिमिया आदि भी इसी की कृपा के प्रसाद हैं।

यह चिन्ता शरीर से शक्ति, कान्ति और तेज को निचोड़ लेती है। असमय बुढ़ापे में ढकेल देती है। बुद्धि और विवेक को कुंद कर देती है। जीवित व्यक्ति को लाश में बदल देती है। इसीलिए इसकी उपमा चिता से देकर कहा जाता है कि 'चिन्ता चिता से बढ़कर है।'

३. आशा

हर डूबने वाले के चित्त को किनारा खींचता रहता है; हर मरने वाले के मन को जीवन पुकारता रहता है तथा चिन्ता और निराशा के तपाये हुए हर व्यक्ति के हृदय पर काल्पनिक खुशी की एक अदृश्य लहर पोंछा फेरती रहती है। यथार्थ से दूर यह काल्पनिक किनारा, माना हुआ यह बहुरंगी जीवन और चार दिनों की चाँदनी जैसी यह खुशी की लहर ही आशा है। आशा, अर्थात् जो नहीं है पास—उसकी आकांक्षा का आरोप करके, थोड़ी देर के लिए अपनी वास्तविक स्थिति को भुलाकर, कल्पित जगत् के सुख की लालसा।

मतलब यह कि आशा रुग्ण चित्त को राहत देने के लिए स्वप्न, कल्पना, भ्रम, भ्रांति, कामना, तृष्णा आदि के मिश्रण से बनी हुई ऐसी औषध (रस) के समान है, जो रस कहलाते हुए भी रेत सी सूखी और विरस है; जो निदान करते हुए भी रोग को समाप्त नहीं कर पाती; जीवन की उम्मीद बँधाते हुए भी उसे रोक नहीं पाती; शीतलता देकर भी ताप से बचा नहीं पाती और धीर बँधाते हुए भी अधीरता को तोड़ नहीं पाती। अथवा केवल खयालों की ऐसी बगिया है आशा, जिसमें लगता तो ऐसा है कि बड़े रंग-बिरंगे फूल खिले हैं पर कोई गन्ध नहीं आती; बड़ी हरियाली सी लगती है—पर कोई पेड़-पौधा नजर नहीं आता; बड़े अजूबे बिहंग कलोलें करते हैं—पर कोई चहक सुनाई नहीं देती।

अथवा डूबनेवाले के लिए एक ऐसा किनारा है आशा, जो न दिखायी देता है, न कभी हाथ आता है,—लेकिन किसी भी तरह अपनी ओर आने के लिए खींचता रहता है। एक ऐसी खुशी की अनुचारी है आशा, जो न पकड़ी जाती है, न मिलती है,—लेकिन रोते हुए के आँसू पोंछती रहती है। एक ऐसा संगीत है आशा, जिसका न कोई साज है, न आवाज—लेकिन आदमी के कानों में रस घुलता रहता है।

बिना फूल की डाल को, फूल आने की उम्मीद में, पकड़े रहना—सींचते रहना आशा है। बिहारी ने कहा था—

"इहीं आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वै हैं फेरि बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल॥" (बिहारी)

फूल भी आते हैं, पराग और रंग-गंध के साथ, लेकिन फिर झड़ जाते हैं। फिर आते हैं—फिर झड़ जाते हैं—अन्त में निफूल होकर ही सूखता है गुलाब और अतृप्त ही मरता है मधुप! क्योंकि—

"विकसते मुरझाने को फूल; उदय होता छिपने को चन्द।
शून्य होने को भरते मेघ; दीप जलता होने को मन्द॥" —(महादेवी वर्मा)

कबीर ने कहा था 'माया महाठगिनि हम जानी।' यह माया आशा ही है, जो परिणाम से अवगत कराकर, भ्रान्ति का सहारा लेकर, जीवन भर आदमी को लूटती रहती है, मृग मरीचिका की ओर दौड़ती रहती है और उसमें असन्तोष की भूखी भूख तथा प्यासी प्यास जगाये रखती है। ऐसा जादू डालती है यह कि आदमी का दिशा-ज्ञान खो जाता है—उसका असली धरातल छूट जाता है और जहाँ कोई अपना नहीं है, वहाँ मान लेता है कि सब कुछ मेरा है; जहाँ झूठ के सिवाय और कुछ नहीं है, वहाँ मान लेता है कि सब कुछ सत्य है; जहाँ सब कुछ अँधेरा ही अँधेरा है, वहाँ प्रकाश की आशा है। यह प्रकाश तो केवल भ्रम है। जब तक दीप जले हैं, तब तक प्रकाश दिखाई दे रहा है। दीप बुझने की देर है कि अँधेरा तैयार खड़ा है। आशा प्रकाशित अँधेरा है।

चिन्ता की वायु रहित कोठरी में, बाहरी अँधेरे से भी घना, निराशा का अँधेरा पैदा होता है। इस अँधेरे से घिरे व्यक्ति के मन में धीरे-धीरे कहीं दूर एक दीया टिमटिमाता है। यह काल्पनिक दीया ही व्यक्त भाषा में आशा है। अर्थात् आशा चिन्ता और विषाद से उत्पन्न निराशा के अंधकार से घिरे हुए व्यक्ति की प्रकाश-कल्पना है। यह प्रकाश मिल भी सकता है और नहीं भी। मिल भी जाए तब भी इस बाहर के प्रकाश का परिणाम तो पीड़ा और अंधकार ही है—ठीक सपनों की तरह !

सपने दो तरह से देखता है आदमी—सोते हुए और जागते हुए। आशा—जागे हुए व्यक्ति का सपना है और सपनों का सार क्या है ? सिर्फ आशा भरी निराशाओं के जाले हैं सपने; इच्छाओं के जल रहित झाग हैं; कामनाओं के अदृश्य बबूले हैं; तृष्णाओं के झूठे राजमहल हैं—जो आँखें बन्द रहने पर दिखायी देते हैं और झूठी खुशी से मुग्ध करते हैं, लेकिन आँख खुलने पर लुप्त हो जाते हैं और सच्चे दुःख से तड़प जाते हैं। चिन्ता से थोड़ी देर उबरने के लिए आदमी स्वप्न, कल्पना अर्थात् आशा की शीतल छाँव में पहुँचकर कुछ राहत की साँस लेता है। इच्छाओं की भूख को मिटाने की कल्पना में और चिन्ताओं की आग को बुझाने वाले खयाली पानी में आशा बैठी रहती है।

आशा बहु आयामी या बहुरूपिया मनोभाव है, जिसमें जिजीविषा, उत्साह, प्रेरणा, महत्त्वाकांक्षा, जिज्ञासा, रहस्य, उल्लास और सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों का भी योग रहता है। आशा मनुष्य की प्रेरक शक्ति है। गतिशीलता आशा का शरीर है, उत्साह की उमंग इसकी आत्मा है, भावुकता इसका हृदय है, स्वप्न कल्पना इसकी बुद्धि है, कर्म इसके हाथ हैं और त्वरा इसके पाँव हैं। अर्थात् आशा जड़ता को तोड़कर शरीर को गतिशील कर देती है; बुझे मन में उत्साह और उल्लास की ज्योति जगा देती है; कुरूपों को भी सजा-धजा कर सुन्दर बना देती है; हाथों को कुछ करने के लिए उकसा देती है और पाँवों में चलने के लिए गति भर देती है।

विश्व की सारी योजनाएँ, सारे मंसूबे, सारे निर्माण, सारे अनुसंधान, सारी

प्रगति और सारे संग्रहों के पीछे आशा है। अतः आशा जीवन की रुकी हुई गाड़ी में लगने वाला एक मीठा ढक्का है—भले ही यह गाड़ी इस ढक्के से रेगिस्तान में पहुँच जाए या झरनों के बाग में ! फिर भी—

आशा में गति है—ठहराव नहीं; सुख की संभावित सरिता बहती है इसमें दुःख की सिकता नहीं उड़ती; आमोद है इसमें—कुंठा नहीं; उत्साह है इसमें—डर-संकोच नहीं। यद्यपि आशा कुछ भी नहीं है, सफेद झूठ के सिवाय, फिर भी इसी से जीवन है—जगत् है इसीलिए कहा जाता है 'आस है तो साँस है' और 'आशा पर संसार टिका है।' जीवन के पहियों की धुरी है। लोक और समाज के सम्बन्धों की संचालिका है। स्वार्थ के सम्बन्ध हैं। फल की आशा से, कर्म हैं। मोक्ष की आशा से, धर्म हैं। पद की आशा से, राजनीति है। धन की आशा से, पद है। वासना की आशा से, प्रेम है। मंजिल की आशा से, यात्रा है। किसान की खुशहाली आशा है; भिखारी की भीख आशा है; लेखक का यश आशा है; रोगी का स्वास्थ्य आशा है। अकेले के लिए साथी आशा है; बचपन में माँ-बाप आशा हैं; यौवन में स्त्री के लिए पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री आशा है; बुढ़ापे के लिए धन और सन्तान आशा है और संकट में भगवान् का नाम आशा है। लेकिन ये सारी आशाएँ नदी किनारे बनाये हुए रेत के महल हैं। बाढ़ आयेगी और सबको अपने साथ बहा ले जाएगी। यही सब जानकर विद्यापति ने कहा था—

"माधव हम परिनाम निरासा।"

इसमें सन्देह नहीं कि आशा मनुष्य में संकटों और विरोधों से टक्कर लेने की अद्भुत क्षमता भर देती है और अन्त की ओर जाने वालों के भीतर से भी एक ध्वनि गूँज उठती है कि—

"अभी न होगा मेरा अन्त
अभी-अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त।" (निराला)

लेकिन जब बसन्त आ गया है तो पतझड़ को भी आने से कोई रोक नहीं पायेगा। फिर इस कवि की ध्वनि भी बदल जाएगी। आशा को उलट कर निराशा सामने खड़ी हो जाएगी। तब यही कवि एक शाश्वत सत्य का उद्घाटन करते हुए कहेगा कि—

"स्नेह निर्झर बह गया है
रेत सा तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है "अब यहाँ पिक या शिखी,
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—जीवन बह गया है।"

सूख गये बाग-बगीचे ! झड़ गये फूल और पत्ते !! उड़ गये कोयल, मोर,

चकोर !!! सारी आशा की बहारें सपना हो गयीं। सब कुछ चला गया, पर 'आशा तू न गयी इस मन से।' कबीर ने भी यही कहा था—

"माया मरी न मन मरे, मर-मर गये सरीर।
आसा तृस्ना ना मरी कह गये दास कबीर।"

न तो आशा कभी मरती है और न निराशा कोई अलग है। हारी हुई, थकी हुई या पराजित आशा का नाम ही निराशा है। किसी खास अवधि तक, किसी के मिलने की प्रतीक्षा में, आशा है और उस अवधि के बीत जाने पर, वही निराशा बन जाती है। फिर भी निराशा के अंधकार में डूबे हुए व्यक्ति के भीतर, रह रह कर आशा भी कोंधती रहती है। उसके यथार्थ को सपना—धोता रहता है; अधीरता ही धीर बँधाती रहती है; व्याकुलता ही साँसों को अटकाये रहती है। 'कामायनी' के मनु के हृदय में आशा यही कर रही थी—

"यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल सदय हृदय में अधिक अधीर।
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही, आशा बनकर प्राण समीर।" (प्रसाद)

काम, क्रोध, भय आदि तो मनुष्य के सीधे और अकृत्रिम दुश्मन हैं। इनकी पहचान में आदमी जरा कम धोखा खाता है; लेकिन आशा मित्र का वेश बनाये हुए, मनुष्य की भयंकर शत्रु है—सोने की कटार है। आशा का ही दूसरा नाम धोखा है, प्रवंचना है, मीठा जहर है। आशा सभी करते हैं. लेकिन इसके स्वरूप को जानना बड़ा मुश्किल है। इसको पूरी तरह जान लेना ही निराशा का उपचार है।

आशा दुष्पूर्ण इच्छाओं को पूरी करने वाली युक्तियों की कल्पना है और कल्पना का अर्थ है अपने अनुसार बनाया हुआ हवाई महल, जिसका न तो–यथार्थ से कोई संबंध होता है और न सत्य से। कल्पना से अधिक सेंत की चीज संसार में और कोई नहीं। इसके लिए न तो कोई श्रम करना पड़ता है, और न कोई त्याग; न कोई संघर्ष करना पड़ता है और न कोई उपकरण जुटाने पड़ते हैं। बैठे-बैठे, बिना कुछ करे-धरे, कोई कुछ भी कल्पना कर सकता है—कोई रोकने-टोकने वाला नहीं। एक भिखारी राजा होने की कल्पना कर सकता है, एक कमजोर पहलवान होने की कल्पना कर सकता है। आशा में से आशा फिर आशा की पर्त में से आशा निकलती हुई यह जो अपना अन्तिम विराट् रूप प्रस्तुत करती है, उसका नाम है तृष्णा ! अर्थात् तृष्णा आशा का विकसित पुष्ट रूप है, जिसका परिणाम होता है—दुःख और विनाश ! कबीर ने तृष्णा का बड़ा सुन्दर चित्र बनाया है—

"की तृस्ना है डाकिनी की जीवन की काल।
और और नित प्रति चहै जीवन करै विहाल।"

सुख और दुःख, इन दोनों की संयुक्त अनुभूति, जिस प्राणी को चंचल और जड़ बनाती है, उसका नाम मनुष्य है और मनुष्य में इन दोनों के आने, जाने और रहने की न कोई सीमा है और न समय ! पता नहीं कब एक को धक्का देकर दूसरा सवार हो जाए ? सुख आता है,—बिना बुलाये आशा चली आती है और आदमी

जीने की लालसा से भर उठता है। जीने की लालसा मोह और लोभ पैदा करती है। लोभ-मोह की चादर अस्थाई खुशी, जिजीविषा और आसक्ति आदि के ताने-बाने से बुनी जाती है। अतः सुख आशा का मूल मन्त्र है।

दुःख आता है,—विना बुलाये निराशा चली आती है और निराशा, विराग, निष्क्रियता, हतोत्साह, कुंठा, हत्या और आत्महत्या की ओर ढकेलती है। अतः दुःख निराशा का मूल मन्त्र है।

आशा का हर कदम **'उस'** की ओर उठता है और हर चेष्टा **'वह'** को **'यह'** बनाने में लगी रहती है; परन्तु जैसे ही 'वह' 'यह' बन जाता है, त्योंही फिर आशा की डग आगे बढ़ जाती है और जो 'है', 'वह' इसका नहीं रह पाता। अर्थात् मन जिसकी प्राप्ति के लिए बेचैन रहता है, उसकी प्राप्ति होने के बाद, फिर उससे भागने लगता है। जिस 'मनु' का मन, 'श्रद्धा' के, पराग के परमाणुओं से रचित बिजली के फूल जैसे शरीर के स्पर्श के आकर्षण से भरा था, वही श्रद्धा के मिल जाने के बाद, उसको बासी समझ कर, इड़ा की तर्क जाल जैसी अलकों में उलझने के लिए भाग गया। अतः यथार्थ आशा को ध्वस्त कर देता है और आशा अनुभव का अतिक्रमण कर जाती है।

जिस प्रकार पानी का कोई रूप, रँग और आकार नहीं होता, जिस बर्तन में डाल दिया जाए अथवा जैसा रँग मिला दिया जाए—पानी वैसा ही रूप-रँग अखि-त्यार कर लेता है। ठीक ऐसे ही आशा भी आकांक्षा के अनुसार अपना रूप-रँग बदल लेती है। वांछित वस्तु की प्राप्ति की कल्पनामयी ललक 'आशा' है। आकांक्षा ही आशा का आवरण है, रूप है और रँग है।

जिस वस्तु को प्राप्त करने की आशा बँधी है, उस वस्तु की प्राप्ति का निश्चय भले ही न हो, लेकिन आशा संदिग्ध स्थिति में भी निश्चय के काफी अंश को अपने भीतर सँजोकर रखती है। हम अपने किसी प्रिय बीमार व्यक्ति को पत्र में लिखते हैं—'आशा है आप स्वस्थ होंगे' या 'आशा है आपको मेरा पूर्व पत्र मिल गया होगा।' यद्यपि ऐसी स्थितियों में भीतर कोई सन्देह सा भी तैरता रहता है, लेकिन फिर भी आशा भविष्योन्मुखी, बहुत कुछ निश्चय प्रधान, हृदय की रागात्मिका वृत्ति है।

अनुकूलता की संभावना, आशा और प्रतिकूलता की संभावना, आशंका है। आशा और आशंका दोनों एक दूसरी की विलोम हैं। आशंका भविष्य के प्रति भय के निश्चय से युक्त अपकर्षक, विरागात्मिकावृत्ति है। आशा आगे की ओर प्रेरित करती है तो आशंका पीछे की ओर खींचती है। आशा हृदय को उल्लसित करती है तो आशंका संदिग्ध और भयभीत करती है। आशा की आवाज होती है—'ऐसा होगा, वैसा होगा' या ऐसा हो-वैसा हो' और आशंका की भीतरी ध्वनि है—'कहीं ऐसा न हो कि ·····।' कभी-कभी आशा और आशंका दोनों साथ-साथ गलबाँही डाल कर भी चलती हैं।

आशा को केन्द्र मानकर संसार में दो तरह के लोग, दो तरह की विचार-धाराएँ और दो ही तरह के दर्शन पैदा हुए—एक आशावादी और दूसरे निराशावादी।

आर्य संस्कृति में आशावादी दृष्टिकोण प्रधान है और श्रमण संस्कृति निराशावाद पर खड़ी है। आशावादी, दुःख के बाद आनेवाले सुख की संभावना में, विषम परिस्थितियों से जूझकर, अपने आपको बचाये रखने का संदेश देता है। समूचे आशावाद का निचोड़ प्रसाद जी ने अपने इन शब्दों में भर दिया है :

"दुःख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील, छिपाये है जिसमें सुख गात ॥" (कामायनी)

आशावाद का आदिम सूत्र है 'जीवेम शरदः शतम्।' (वेद)

अतः आशावादी, धूप-ताप सहकर छाँह आने की प्रतीक्षा की प्रेरणा देता है; रात आने पर प्रभात की उम्मीद बँधाता है; इस जन्म में नहीं मिला तो उस जन्म के सपने दिखाता है—लेकिन आदमी हिम्मत न हारे—परिस्थितियों के सामने घुटने न टेक जाए क्योंकि—

"कदम चूम लेती है खुद आके मंजिल मुसाफिर अगर अपनी हिम्मत न हारे।"

हिम्मत न हारनेवाले के लिए मृत्यु भी जीवन का सहारा हो जाती है, शक्ति बन जाती है :

"जिन्दगी को बल दिया है, मौत ने मारा नहीं है।
राह ही हारी सदा राही कभी हारा नहीं है ॥"

फलतः आशावाद, बुझनेवाले दिये के लिए दो चार बूँद तेल है; प्यास से मरनेवाले के लिए दो-चार घूँट पानी है और भीषण ताप से जलते हुए के लिए कुछ पल पंखा की हवा है। और इसके बाद वास्तविकता को दिखाने के लिए आकर खड़ा हो जाता है निराशावादी दर्शन !

यह निराशावाद, असंतोष, हताशा, निष्क्रियता और उदासी का पर्याय नहीं है; अपितु इसके हिसाब से, जो हमें सुख दिखायी दे रहा है—वह मूलतः दुःख है या दुःख की ओर ले जानेवाला सुख है; जो सत्य दिखायी दे रहा है—वह असत्य है; जो जीवन दिखायी दे रहा है—वह चलती फिरती मृत्यु है; जिसे हम अपना समझ रहे हैं, उसे छोड़कर एक दिन चले जाना है—

"रहना नहिं देस बिराना है।"

इस संसार के आकाश पर माया की बदली घिरी है, हम समझते हैं कि सुख की शीतल फुहारें पड़ेंगी, लेकिन बरसते हैं अंगार—संसार जलता है—

"ऊनमि आई बादरी बरसत आज अँगार।
देखि कबीरा धाह दै दाझत है संसार।"

कबीर तो इसी संसार की बात करते हैं, लेकिन बुद्ध अनेक जातियों और संसारों में भटककर देख आये पर आशा-तृष्णा ने दुःख ही दिया—

"अनेक जाति संसारं संधा बिस्सं अनिब्बिसं।
गतकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।" (धम्मपद)

प्रसाद भी इसी धरातल पर खड़े होकर 'आँसू' के माध्यम से कहते हैं—

'चेतना विकल फिर आयी मेरी चौदहौ भुवन में।
सुख कहीं न दिया दिखायी विश्राम कहाँ जीवन में।।''

जब सुख नहीं तो क्या होगा ? दुःख ! और सुख का अभाव ही तो दुःख है। दुःख आर्य सत्य है। बुद्ध कहते हैं, 'भिक्षुओ ! यह दुःख आर्य सत्य है—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, रोग भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, अप्रियों से संयोग दुःख है, प्रियों से वियोग दुःख है और इच्छित वस्तु का प्राप्त न होना भी दुःख है।''

यद्यपि दुःख के इस चतुर्दिक् प्रसार में यह दर्शन, घुटने टेक देने या कुंठित होकर अपने आपको नष्ट कर लेने का संदेश नहीं है, फिर भी यह व्यक्ति को समाज से, संघर्षों से, कर्मों से विरक्त कर भीख का कटोरा तो उसके हाथ में थमा ही देता है। इसीलिए यह मार्ग सबको रास नहीं आता। स्वयं बुद्ध की पत्नी यशोधरा के गले यह नहीं उतरा। बारह वर्षों की तपस्या के बाद गौतम, जब बुद्ध होकर लौटे तो यशोधरा ने उनसे पूछा था कि जो आपको घर छोड़कर मिला है, क्या वह घर में रहते नहीं मिल सकता था ? बुद्ध इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये थे। उनके मौन का अर्थ था 'घर में रहकर भी मिल सकता था।'

यशोधरा के प्रश्न में कृष्ण का कर्मयोग गूँज रहा है।

यदि इस मार्ग के उपर्युक्त व्यावहारिक पक्ष को छोड़ दिया जाए और इसके सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर एक ऐसा दीप बनाया जाए, जिसका पात्र कृष्ण के कर्मयोग की धातु से निर्मित हो बुद्ध और कबीर की जिसमें अघट्ट बाती हो, सूफियों के प्रेम का जिसमें तेल हो और तुलसी के समन्वय की जिसमें आग हो,—तब आशा और निराशा दोनों की हवा से बचाकर इस दीपक को, निर्जनों और पर्वत गुफाओं में नहीं, अपितु घर-घर और मन-मन में जलाया जाए, तो इससे जो दिव्य प्रकाश निकलेगा, वह दुःख में भी वास्तविक सुख को खोज लेगा; असत्य में से भी सत्य को तलाश लेगा; दृश्य में से भी अदृश्य को ढूँढ़ लेगा—और फिर दुःख को जान लेना ही सुख है; असत्य को पहचान लेना ही सत्य है; मृत्यु का ज्ञान ही अमर जीवन है और निराशा का छिद्रान्वेषण ही आशा है।

और फिर सारी आशाएँ, कामनाएँ और तृष्णाएँ टुकुर-टुकुर देखती रह जाएँगी व्यक्ति जब कबीर के शब्दों में, हाथ उठाकर कहेगा कि—

"पूरा हुआ बिसाहुना बहुरि न आवौं हट्ट।''

□

४. चोरी

चोरी की बड़ी महीन पर्तें हैं—बड़े सूक्ष्म रास्ते ! प्याज की गाँठ की तरह है यह आदमी, जिसका सारा ढाँचा चोरी की पर्तों से बना है। जब तक पर्तें मिलेंगी, तब तक चोरी है; पर्तें साफ होने पर, जब कुछ नहीं दिखायी देगा, वहीं मिलेगा वह व्यक्ति, जो चोर नहीं होगा। अर्थात् चोरी की पर्तों के नीचे ही छिपा है अचोर, इसलिए चोरी की पर्तों को उघाड़े बिना, अचौर्य तक पहुँचना मुश्किल है।

हमारा समूचा व्यक्तित्व चोरी की पर्तों से निर्मित है। इस व्यक्तित्व ने असली व्यक्ति को ढक लिया है। व्यक्तित्व का अर्थ ही है—असलियत के ऊपर ओढ़ा हुआ चेहरा। 'व्यक्तित्व' शब्द, अंग्रेजी के 'परसनैलिटी' शब्द का रूपान्तर है और यह ग्रीक भाषा के 'परसोना' से बना है। 'परसोना' का मतलब 'मुखौटा' है। ग्रीक ड्रामा में अभिनय के समय अभिनेता इस मुखौटे को पहना करते थे। अब यही मुखौटा हमारा व्यक्तित्व हो गया है। जो दिखाई दे रहा है, वह व्यक्तित्व है और जो छिपा हुआ है उसके भीतर, वह व्यक्ति है।

व्यक्तित्व हम किसे कहते हैं ? सांसारिक दृष्टि से हमारा परिचय ही व्यक्तित्व है और हमारा परिचय है, हमारे नाम, रूप, गुण, योग्यता, पद, सम्बन्ध, जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, भारतीय, अभारतीय आदि; लेकिन क्या हम यही सब हैं ? अथवा ये सब मुखौटे हैं ? जिन्हें लगाकर हम जिन्दगी के नाटक में अभिनय कर रहे हैं। यदि ये मुखौटे हैं, तो निश्चित हम कुछ और हैं तथा इन मुखौटों को लगा कर हम वह हो गये हैं, जो हम नहीं हैं, अर्थात् हम चोर हैं—क्योंकि, चोरी का सार-सूत्र ही है, जो अपना नहीं है, उसको अपना मान लेना। चीजें चाहे हमने चुरायी हों, या न चुरायी हों, लेकिन ये मुखौटे हमने अवश्य चुरा रखे हैं या हम मुखौटे ही बन गये हैं। आदि शंकराचार्य ने इन मुखौटों की एक-एक पर्त को हटाकर, जिस शुद्ध, अचोर व्यक्ति को पाया था, उसे इन वचनों से परिभाषित किया है—

"मनो बुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं
न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

न च प्राण संज्ञो न पंचानि वा मे,
न वा सप्त धातुर्न वा पंच कोशः।
न वाक् पाणि पादौ न चोपस्थवायु,
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

न मे द्वेष रागौ न मे लोभ मोहौ,
मदो नैव मे नैव मत्सर्य भावः ।
न धर्मो न अर्थो न कामो न मोक्ष
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञा ।
नाहं भोजनम् नैव भोज्यं न भोक्ता,
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

न मे मृत्युशंका न मे जाति भेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्मः ।
न बन्धुश्च मित्रं गुरुर्नैव शिष्य–
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो–
विभुर्चास्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि ।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बंध–
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥''

जगद्गुरु के इन वचनों में जितने भी तत्व, पदार्थ या सम्बन्ध हैं, स्पष्ट हो गया कि आध्यात्मिक दृष्टि से, वे हमारे नहीं हैं; लेकिन आश्चर्य यही है कि जो हमारे नहीं हैं, हम उन्हीं को अपने मान बैठे हैं । अतः ये वचन ऐसी कसौटी हैं, जिन पर कसने के बाद हर आदमी अपने आप को पक्का चोर पाएगा, सिर्फ आत्म ज्ञानी को छोड़कर !

वैसे, हमारे समाज में वस्तुओं की चोरी को ही चोरी की संज्ञा दी गयी है क्योंकि वस्तुओं की चोरी सभी नहीं करते । असली चोरी की ओर कोई उँगली नहीं उठाता, क्योंकि सभी चोर हैं । हमारे माँ-बाप, परिवार, समाज, राज्य सभी चोरी के प्रशिक्षण केन्द्र हैं । अबोध बच्चे को जिस दिन बता दिया जाता है कि यह मेरा है, यह तेरा है, उसी दिन चोरी का बीज वपन हो जाता है । मेरा कहने का भीतरी अर्थ है कि मेरा नहीं है—किसी और का है ! पराया होने के कारण ही तो मेरा कहने की आवश्यकता हुई—अन्यथा हम अपने आपके लिए क्यों नहीं कहते कि ''मैं मेरा हूँ ।'' हर चीज के साथ मेरा जुड़ जाता है लेकिन मैं मेरा हूँ, यह कोई नहीं कहता क्योंकि उससे हमारा परिचय ही नहीं है । अतः किसी भी चीज के लिए जब तक 'मेरी' कहा जाता रहेगा, तब तक 'परायी' की ध्वनि उसमें निहित रहेगी और परत्व में ममत्व ही चोरी है । भले ही मेरा हो पाये या न हो पाये ।

यद्यपि चोरी के प्रकारों की गणना नहीं की जा सकती; परन्तु मोटे तौर पर चोरी दो प्रकार की होती हे—स्थूल चोरी और सूक्ष्म चोरी । दृश्य, स्पर्श्य या ग्राह्य वस्तुओं अथवा पदार्थों की चोरी स्थूल चोरी है और अदृश्य, अस्पर्श या अमूर्त भावों,

विचारों, आदतों और व्यक्तित्वों की चोरी सूक्ष्म चोरी है। चीजों का अत्यधिक उत्पादन होने पर, स्थूल चोरी तो हो सकता है कि एक दिन रुक जाए, लेकिन सूक्ष्म चोरी का तो, जब तक आत्म-ज्ञान न हो, रुकने का कोई और उपाय नहीं है। यह ऐसी चोरी है कि आदमी बिना कुछ चुराये भी चोर होता है। अतः कुछ भी मेरा नहीं है', जब तक यह भावना हमारे मन, वचन और कर्म में न उतर जाए, तब तक चोरी जारी रहेगी।

वस्तुओं के संदर्भ में ही चोरी को देखा जाए तो आम तौर पर, लोभ के कारण परायी चीज को अपनी बनाने की लालसा से, वैर के कारण दूसरों को हानि पहुँचाने की व्यग्रता से, गरीबी और अभाव की पीड़ा से आहत होने के कारण उसे मिटाने की मंशा से, दूसरों को आगे बढ़ जाने से उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष और जलन के कारण उन्हें नीचा दिखाने की चिन्ता से—अन्य अपकारक कृत्यों के अलावा मन में चौर्य वृत्ति का भी जन्म होता है।

बिना परिश्रम किये संग्रह की भावना अथवा आवश्यकता से अधिक प्राप्ति की इच्छा के पीछे चोरी काम करती है।

किसी की अच्छी वस्तु देख यदि उसकी ललक मन में आ गयी; किसी के अच्छे गुण देख यदि आसक्ति हो गयी; किसी का सुन्दर रूप देख यदि उसकी कामना जग गयी; किसी के उत्तम भाव-विचार, चाल-ढाल, वेश-भूसा, व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित हो यदि तद्वत आचरण शुरू हो गया—बस व्यवहार में चोरी हो न हो, पर मन से चोरी हो गयी। अतः लोभ में चोरी है; मोह में चोरी है; काम में चोरी है; प्रेम में चोरी है; होड़ में चोरी है; स्वामित्व और समता की भावना में चोरी है—क्योंकि स्वामित्व उसी पर स्थापित करना चाहते हैं हम, जो अपना नहीं है और बराबरी भी उसी की करना चाहते हैं हम, जिसके बराबर हम नहीं हैं। अर्थात् दूसरों के किसी न किसी दृश्य-अदृश्य अंश को चुराकर हम अपना अभाव पूरा करते हैं।

अधिकार जमाने की भावना चोरी की भूमिका है। असल में तो जिस पर सभी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, वह किसी का नहीं होता। अर्थात् जो सबका है, वह किसी का नहीं। वस्तुओं को सभी अपनी-अपनी बना लेना चाहते हैं। अपने-अपने अधिकार की घोषणा करते हैं। रजिस्ट्री बैनामा करा लेते हैं, पहरे बिठा देते हैं, तिजोरियों में बंद कर लेते हैं, चीजों के पीछे हत्याएँ-आत्महत्याएँ हो जाती हैं—परन्तु आज तक कोई उदाहरण ऐसा नहीं है कि कोई चीज किसी की हो पायी हो। चीज कभी नहीं कहती कि मैं इसकी हूँ या उसकी हूँ। वस्तुएँ तो वेश्याओं के समान हैं कि जब तक जिसके साथ हैं, तब तक उसकी जान पड़ती हैं, साथ छूटने पर उनका किसी से नाता नहीं—और हम हैं कि वेश्याओं के प्रेम को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठे हैं।

चोरी के संबन्ध में दो विरोधी बातें खयाल में आती हैं। एक तो चोरी का सकारात्मक पक्ष कि चोरी है और सब चोर हैं—कम-वेशी, ईमानदार या बेईमान,

जो अबतक आध्यातिमक दृष्टि से देखा जा चुका है। दूसरा पक्ष है नकारात्मक कि चोरी है ही नहीं, कोई चोरी कर ही नहीं सकता। अब इस पक्ष को भी देखना है।

सभी दार्शनिकों और संतों का निष्कर्ष है कि यह जो कुछ दिखायी दे रहा है संसार में, यह सब मिथ्या है। अतः जब सब कुछ मिथ्या है तो चोरी भी मिथ्या होनी चाहिए और वस्तुएँ भी—फिर भी यह हमारा भ्रम है कि हमारी चीज को कोई चुरा ले गया। स्थूल रूप में हम चोरी इसी को तो कहते हैं कि कोई चीज हमारे पास थी, उसे बिना हमसे पूछे कोई ले गया। इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि जो वस्तु हमारे पास थी, वह अब किसी और के पास पहुँच गयी और इसी से हम दुःखी हो जाते हैं; परन्तु देखा जाए तो वस्तु तो कहीं न कहीं है, उसके जाने का दुःख नहीं—दुःख हमारे स्वामित्व के अहंकार के टूटने का है।

सच तो यह है कि किसी चीज की हमारे पास रहने की एक अवधि, एक सीमा, एक समय था, वह पूरा हुआ और वह चीज हमारे पास से किसी और के पास पहुँच गयी। उसके पास रहने की भी जब अवधि पूरी हो जाएगी तो किसी और के पास पहुँच जाएगी। चीजें सदा हैं—यहाँ नहीं तो वहाँ, मेरे पास नहीं तो उनके पास। लेकर कोई जाएगा कहाँ? छिपाएगा भी कोई तो छिपाएगा कहाँ? वे तो रहेंगी सामने नहीं तो ओट में, इस घर में नहीं तो उस दुकान में। चोर चले गये दुनिया छोड़कर लेकिन चीजें फिर भी हैं। बड़ी धोखेबाज और बहुरूपिया हैं ये, अक्सर रूप बदल लेती हैं। इस संसरणशील संसार में, जब धरती, चाँद, सितारे एक जगह स्थिर नहीं रहते, तो चीजें कैसे रह सकती हैं? वे भी वर्तुलाकार घूम रही हैं। अतः चोरी कहाँ हुई?

दूसरी बात यह कि जब हम चाहते हैं कि हमारे चोरी हो जाए, तभी चोरी होती है। बिना हमारे चाहे चोरी नहीं हो सकती; यद्यपि प्रकृत में कोई नहीं चाहता। कहने का मतलब यह कि यों तो कोई नहीं चाहता कि हमारे यहाँ चोरी हो जाए; लेकिन असावधानी और उदासीनता की स्थिति के परिणाम को तो हर आदमी जानता है कि असावधानी या बेहोशी में कोई भी अनिष्ट हो सकता है—चोरी भी। और जब-जब हम असावधान या लापरवाह हुए हैं, तभी चोरी हुई है। इधर हम गफलत में असावधानी और मदहोशी को चुराते हैं, उधर हमारी चीजों को कोई चुरा ले जाता है। सावधानी और जागरूकता में चोरी नहीं हो सकती, डकैती भले ही हो जाए। तो चोरी हुई हमारे चाहने पर ही, क्योंकि असावधान होने का अर्थ ही यह है कि हम लुटने, धोखा खाने को तैयार हैं। संपत्ति के ढेर पर शराब पीकर सोने वाले के मन में क्या यह विचार नहीं उठता है कि चोरी हो सकती है?

असावधान हम तभी होते हैं, चीजों के प्रति, जब उनसे हमारा मन भर जाता है, उनकी उपयोगिता हमारे लिए कम हो जाती है या हम उनसे ऊब जाते हैं। जड़ हो या चेतन, कोई अपनी उपेक्षा बर्दाश्त नहीं करता। स्थिरता में उपेक्षा और दुराव है तथा गतिशीलता में अपेक्षा और आकर्षण। बंधन से पलायन की भावना

पैदा होती है। जब-जब हमने किसी को जबरन बाँधकर अपने पास रखना चाहा है, तब-तब वह हमसे दूर भागा है। अथवा जब-जब हमने जबरन किसी के गले पड़ना चाहा है, तब-तब हमें उपेक्षा और धक्के मिले हैं। दुनिया आनी-जानी है। चार दिन की महमान है। अधिक पड़े रहने पर महमान, हैवान जैसा दिखाई पड़ने लगता है। मान लीजिए हम किसी के यहाँ दो चार दिनों के लिए महमान बनकर जाएँ। अच्छी आव भगति देख यदि हम वहाँ से आने का नाम न लें तो निश्चित ही हमारी उपेक्षा और तिरस्कार होने लगेगा—तब भी क्या हम वहाँ पड़े रहेंगे ? यदि पानीदार होंगे तो निश्चित ही इस उपेक्षा से तिलमिलाकर भागेंगे। महमान यदि अनपेक्षित रुकेगा तो मेजबान ऊबेगा और मेजबान यदि जबरन रोकेगा तो महमान ऊबकर भागेगा।

चीजें भी महमान हैं। दोनों ही बातें हैं कि या तो चीजें हमारे लिए महमान बनकर आती हैं या हम चीजों के लिए महमान बनकर आते हैं। हस्तांतरित होने वाली वस्तुएँ या रुपया-पैसा हमारे लिए महमान हैं कि कितना ही रोकें इन्हें, रुकते ही नहीं–और स्थाई चीजों मकान, जमीन-जायदाद आदि के लिए हम महमान बनकर आते हैं कि कितने ही पट्टे लिखा लें, एक दिन छोड़कर भागना ही पड़ता है।

अतः चीजें एक निश्चित अवधि के लिए, महमानों के समान हमारे पास आई हैं। यदि उन्हें हम बाँधकर रखना चाहेंगे तो वे भागेंगी। भागने न देंगे तो गलेंगी, सड़ेंगी–घुट-घुट कर मरेंगी और यदि वे जबरन रुकना चाहेंगी तो उपभोग करते-करते हम उनसे ऊब जाएँगे, उनकी सुरक्षा-संरक्षा में कमी कर देंगे तो फिर वे अपने नये चहेतों के यहाँ चली जाएँगी। यह चक्र रुक नहीं सकता। वस्तुओं की उपयोगिता और सुन्दरता एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने में ही है। एक जगह रुकना किसी की भी मृत्यु है।

कहना यह है कि चोरी रुकती भी नहीं और चोरी होती भी नहीं। कहीं से कुछ जा रहा है तो कहीं कुछ आ रहा है; कहीं से कुछ खाली हो रहा है तो कहीं कुछ भर रहा है; जो कहीं मर रहा है, वही कहीं जन्म ले रहा है। धरती वायु से आकाश से और सूरज से चुरा रही हैं; पेड़-पौधे धरती से चुरा रहे हैं; हम पेड़-पौधों से चुरा रहे हैं; नदियाँ पहाड़ों से चुरा रही हैं; बादल सागर से चुरा रहे हैं और सागर तमाम दुनियाँ का समेटा करके बैठा है कि डकार भी नहीं लेता। कवि कलाकार और लेखक भावों से भावों को चुरा रहे हैं, विचारों से विचारों को चुरा रहे हैं; दृश्यों से बिम्बों को चुरा रहे हैं; लोक और समाज से अनुभूतियों को चुरा रहे हैं; शब्दों से अर्थों को चुरा रहे हैं—परन्तु जहाँ अपना दावा है, वहीं चोरी है; जहाँ मैं मेरी नहीं, वहाँ चोरी नहीं। इसलिए प्रकृति चोर नहीं क्योंकि उसमें न तो ममत्व है और न अधिकारपूर्ण दावा—सिर्फ मनुष्य चोर है क्योंकि वह हर चीज पर अपना साधिकार दावा ठोक देता है।

जहाँ से चोरी होती है, वहाँ वह दुःख छोड़ जाती है; लेकिन चोरी हो जाने पर हमें जो मलाल होता है, वह मूलतः चोरी का नहीं है—वह हमारी आहत

आसक्ति की कसक है। चीजें हमारी नहीं हैं—हमारे मन में आसक्ति है, इसलिए वे हमें अपनी दिखाई पड़ती हैं। जब मन में बसी चीजें हमारे पास नहीं रहतीं तो बार-बार उनका अभाव सालता है, हमारी आसक्ति पर चोट पहुँचती है, हमारी मालकियत समाप्त होती है; इसलिए उसे हम चोरी का नाम देकर अपना दुःख व्यक्त करते हैं और कहते हैं कि चोरी करना पाप है। हम लाख की ढेरी पर बैठें हैं तो वह पुण्यों का फल है और कोई उसमें से खाक के बराबर भी उठा ले गया तो वह पाप हो गया !!

आखिर चोरी की शुरूआत हुई कहाँ से ? किसने चोरी सिखायी है ? अमीरों ने चोरी करके चोरी सिखायी है; तथा कथित धर्मों और संप्रदायों ने चुरा-चुराकर चोरी सिखायी है; असमानता, जाति-भेद, वर्ग-भेद आदि की भावनाओं ने चोरी सिखायी है; इस समाज की सड़ी परंपराओं ने चोरी सिखायी है; भ्रष्ट राजनीति और नेताओं ने चोरी करके चोरी सिखायी है। कहीं कोई आवश्यकता से अधिक संग्रह कर, अनधिकृत रूप से चीजों का स्वामी बना है, इसीलिए चोरी पैदा हुई है। चोर समाज ने ही चोर व्यक्ति को पैदा किया है।

जो चोरी को पाप की संज्ञा देते हैं, वे और दुहरे चोर हैं। वे इतनी प्रगाढ़ता से चीजों पर अपना स्वामित्व जमाये हुए हैं कि उनके पास से चीज चली गयी, वे फिर भी उसे अपनी माने बैठे हैं। बड़ी विचित्र बात है कि जो चीज हमें ठेंगा दिखाकर भाग गयी, हम फिर भी उसे अपनी माने जा रहे हैं ?

मूलतः वस्तुओं की चोरी पाप नहीं है, पाप है किसी पर अपना अधिकार जमाने की भावना, पाप है लगाव, पाप है आसक्ति !! क्योंकि इस जगत् में आत्म-भाव को छोड़ कुछ भी अपना नहीं है; लेकिन जो हमारा अपना है, उसका हमें पता नहीं है और परायों के लिए हम जान देते हैं। यदि आसक्ति समाप्त हो जाए, यदि स्वामित्व की भावना मिट जाए तो चीजें चाहे अपने पास रहें, चाहे दूसरों के पास, कोई फर्क नहीं पड़ता। एक नाटकीय सम्बन्ध रहे उनके साथ, तो कोई दुःख नहीं हो सकता। यदि वस्तुओं से आसक्ति समाप्त हो जाए तो फिर व्यक्तियों से, संबन्धों से और संसार से भी हो सकती है, क्योंकि वस्तुओं की आसक्ति सबसे क्षुद्र आसक्ति है। वस्तुएँ मरी हुई लाशें हैं, जब हम लाशों को नहीं छोड़ पाएँगे तो जीवितों को छोड़ने का तो कोई सवाल ही नहीं। चोरी इन लाशों से पीछा छुड़ाने का मौका है।

जब तक कोई हमसे अलग नहीं होता, तब तक हमें अपने भीतर के मोह और आसक्ति का भी पता नहीं लगता। चीजें ज्यों-ज्यों हमसे दूर होती हैं, त्यों-त्यों वे हमारे भीतर समाती जाती हैं। चीजों के और हमारे बीच जो अन्तराल है, वही अवसर है आसक्ति को तोड़कर मुक्त होने का और यह अवसर हमें चोरी प्रदान करता है; क्योंकि चोरी में वस्तु तो हमसे अलग हो जाती है, लेकिन लगाव उससे

बना रहता है—इस लगाव को तोड़ना ही अनासक्त होना है और यहीं चोरी की समाप्ति।

चोरी भौतिक दृष्टि से तो हानिकारक है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से कल्याणकारिणी है। चोरी में गयी हुई वस्तु व्यक्ति के लिए एक मौन संदेश छोड़ जाती है कि, 'देख तू मुझे अपनी कहता था, मेरे ऊपर अपना अधिकार जमाता था, लेकिन मैंने तुझे कभी अपना नहीं समझा। एक नाटकीय सम्बन्ध था—तेरा मेरा। नाटक की अवधि समाप्त हुई और मैं चली। पर मूढ़ तू अब भी नहीं जागेगा। मैं नहीं रहूँगी, तू फिर भी मेरी-मेरी करके छाती पीटेगा। तू जितना मुझे चाहेगा, मैं उतना दूर भागूँगी।'

अतः आध्यात्मिक दृष्टि से चोरी पाप नहीं, परम पुण्य है। आसक्ति को तोड़ने का मौका है; मुक्त होने का अवसर है; संसार के आवा-गमन से छूटने का उपाय है; लोभ-मोह को तोड़ने का झटका है; असली साधु बन जाने का संकेत है क्योंकि कोई परम चोर ही परम साधु हो सकता है। बिना चोर हुए साधु होना मुश्किल है। कोई पापी ही पुण्यात्मा बन सकता है। चोरी जब स्वयं को चोरी दिखाई पड़ने लगती है, या जब वह हद को पार कर जाती है तो साधुता बन जाती है। महर्षि बाल्मीकि, श्रीकृष्ण आदि न जाने कितने दृष्टान्त इस कथन को पुष्ट करते हैं।

चोरी तभी तक है, जब तक कि वह चोरी नहीं है अर्थात् व्यक्ति तभी तक चोरी किये जाता है, जब तक कि उसकी अन्तरात्मा से यह आवाज नहीं उठती कि मैं तो चोरी कर रहा हूँ और यह भयंकर पाप है। जिस दिन यह आवाज भीतर से उठे और बाहर लोगों तक फैल जाए, उसी दिन चौर्य-वृत्ति में पहला झटका लगता है, जिसे खाकर वह शायद फिर पनप नहीं पाती।

जगद्गुरु शंकराचार्य के पूर्वोक्त कथन से बहुत सी तहें उघड़ी हैं। तथ्य यह है कि जो चीज अपनी नहीं है, उसी की चोरी हो सकती है। मन की चोरी होती है, क्योंकि मन अपना नहीं है और मन ही तो चोर है—आदमी चोर नहीं है। तन की चोरी होती है, क्योंकि तन भी अपना नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन, संपत्ति सबकी चोरी होती है, क्योंकि ये कोई अपने नहीं हैं, बल्कि इन सबको हम चुराये बैठे हैं। हाँ आत्मभाव की चोरी नहीं हो सकती, बशर्ते कि उसका सच्चा बोध हो जाए, नहीं तो उसकी भी चोरी हो जाती है और हमें पता भी नहीं चलता, जैसा कि सूरदास ने कहा था 'अपुन पौ आपुन ही विसर्यौ'। सत्य की चोरी नहीं हो सकती, बशर्ते कि हमारी भीतर की आँख खुल जाए, अन्यथा हम दूसरों की आँख से ही झूठ को सत्य समझकर चुराते रहेंगे। चैतन्य की चोरी नहीं हो सकती, बशर्ते कि अपनी चेतना जाग जाए, अन्यथा हम दूसरों के विचारों को घोंट कर मूर्छा को चुराते रहेंगे। आनन्द की चोरी नहीं हो सकती, बशर्ते कि वह हमारी आत्मा के स्रोत से फूटकर पैदा हुआ हो, अन्यथा हम भौतिक सुख को आनन्द समझकर विषाद को चुराते रहेंगे।

हां शंकर की तरह, बुद्ध की तरह आत्मा के स्रोत से फूटकर आये हुए सत्, चित और आनन्द की चोरी नहीं हो सकती क्योंकि इनका संग्रह नहीं किया जाता। ये भीतर से उठकर बाहर फैलते हैं। फूल की चोरी हो सकती है, लेकिन गंध की नहीं।

धर्म या शील के दस लक्षणों में एक अपरिग्रह भी है। अपरिग्रह का अर्थ है कि वस्तुएँ आती जाती रहें, लेकिन न तो उन पर स्वामित्व की भावना जगे और न उनके प्रति मन में आसक्ति पैदा हो। स्वामित्व और आसक्ति आ जाने पर अपरिग्रह परिग्रह बन जाता है और फिर आसक्त परिग्रह से चोरी का और अनासक्त परिग्रह या अपरिग्रह से **दान** का जन्म होता है। वैसे आज का दान कल की हुई चोरी का प्रायश्चित्त है। यह दान चोरी की कोख से ही पैदा हुआ है और दूसरी सूक्ष्म चोरी के इरादे से किया भी जा रहा है; क्योंकि आज जो धन-संपत्ति का दान कर रहा है, उसने निश्चित ही पहले संपत्ति का संग्रह किया है, उसका स्वामी बना है। उसके मन में कहीं न कहीं यह अहंकार भी है कि वस्तुएँ मेरी हैं और मैं इनका दान कर रहा हूँ तथा अब दान करते समय पुण्य की, स्वर्ग की, मोक्ष की या यश की आसक्ति भी है। अतः कुछ गिने-चुने अपवादों को छोड़कर दान दुहरी चोरी है अथवा दान स्थूल चोरी से सूक्ष्म चोरी की ओर गमन है।

शब्द-साम्यवश दान के साथ **वरदान** भी याद आ गया। वरदान का शाब्दिक अर्थ है श्रेष्ठ दान। अर्थात् श्रेष्ठ (दैवी या आध्यात्मिक) शक्तियों द्वारा श्रेष्ठ (लौकिक सत्पुरुष) व्यक्ति के धर्म, त्याग, शील, पुण्य, भक्ति आदि की पराकाष्ठा से प्रसन्न होकर, माँगने के लिए कहकर, उसके माँगे या बिना माँगे अभीसिप्त इष्ट, जो आत्मिक वाणी द्वारा दिया जाता है; लेकिन इच्छित वस्तु, पदार्थ अथवा भाव में परिणत हो जाता है। दान तो हर कोई संपत्तिशाली लौकिक व्यक्ति भी कर सकता है और उसके लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह मन का पवित्र भी है? लेकिन वरदान अलौकिक शक्तियों द्वारा ही दिया जाता है और अलौकिक शब्द में सारी पवित्रताएँ स्वतः समाहित हैं। वरदान देने वाला इतना निश्छल, निष्कपट और आत्म-विभोर भी हो जाता है कि वर माँगने वाला उसे धोखा भी दे सकता है। सावित्री ने यमराज को और भस्मासुर ने शंकर को धोखा देकर वरदान लिये थे। अतः वरदान की भी चोरी, ठगी या राहजनी हो गयी। वरदान में वचन ही दिया जाता है, धन नहीं; जबकि दान में धन दिया जाता है, वचन नहीं।

वरदान का उल्टा **शाप या अभिशाप** है। शाप, अपने-पराये या मित्र और शत्रु के भाव से सर्वथा ऊपर उठे हुए आत्मजयी व्यक्ति या अलौकिक शक्ति अथवा किसी दीन-दुःखी की हाय के द्वारा--लोक, समाज या निर्दोष व्यक्ति का अनिष्ट करने वाले, मानवीय मूल्यों को तोड़ने वाले, अधर्मी, पापाचारी, दुष्ट का विनाश करने के लिए अथवा उसकी भूलों का प्रायश्चित्त कराने के लिए, जगत् के कल्याण की कामना से, दिया हुआ कोप-वचन है, जो कभी खाली नहीं जाता। वरदान माँगा भी जा सकता है, लेकिन शाप कभी माँगा नहीं जाता। वरदान की चोरी संभव है,

लेकिन शाप को कोई नहीं चुराता। बहुत सी बुराइयों को हम चुराये हुए हैं, लेकिन जिस बुराई में हमें भय या निकटवर्ती विनाश की गंध आने लगे, उस बुराई से हम दूर भागते हैं। शाप भी इन्हीं में से एक है। वरदान में इष्ट या शुभ की ध्वनि है और शाप में अनिष्ट या अशुभ की। जिसमें वरदान देने की शक्ति है, वही शाप भी दे सकता है। वरदान और शाप व्यक्ति और लोक के लिए हितकर भी हैं और अहितकर भी।

ऊपर चोरी और दान की बात चल रही थी। चोरी में वस्तु के प्रति तो लोभ, लगाव और आकर्षण होता है, लेकिन जिसकी वस्तु होती है, उस व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-द्वेष, वैर, हिंसा की भावना तथा विकर्षण होता है। जबकि दान में अपनी वस्तु से ममत्व हट कर दूसरे व्यक्ति के प्रति दया, श्रद्धा या संवेदना में बदल जाता है। अर्थात् चोरी में हम वस्तु को अपनी मान लेते हैं, व्यक्ति को नहीं और दान में व्यक्ति को अपना मान लेते हैं, वस्तु को नहीं अथवा चोरी में वस्तु से राग तथा व्यक्ति से विराग होता है तथा दान में व्यक्ति से राग और वस्तु से विराग।

यदि कोई परिचित हमारे सामने ही हमारी चीज को उठाकर हमसे कहे कि यह चीज मैं चुराकर ले जा रहा हूँ और हम स्वीकार कर लें कि अच्छा ठीक है—तो यह चोरी नहीं कही जायेगी, अपितु यह एक प्रकार का दान बन जायेगा; लेकिन लेने वाले की ओर से शुद्ध चोरी भी नहीं होगी तो देने के लिए हाँ करने वाले की ओर से शुद्ध दान भी नहीं होगा; क्योंकि दोनों में ही वस्तु के प्रति राग और व्यक्ति के प्रति विराग की भावना छिपी है। एक में भिखारी की सी माँगने की निर्लज्जता है तो दूसरे में तिरस्कृति भरी विवश और अनचाही स्वीकृति। परिचित होने के नाते, ऊपर से सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए, मजबूरी में देने की हामी भरनी पड़ी है। एक बार ऐसी स्थिति आने पर व्यक्ति अपनी ही अच्छी चीजों को चुराकर छिपाना शुरू कर देता है। माँगने वाला आदाता कम और भिखारी अधिक है और देने वाला दाता कम और चोर अधिक है।

चोरी से उड़ाई हुई चीज भी अधिक दिनों तक नहीं टिकती और दान में पायी हुई चीज भी अधिक दिनों तक सन्तुष्ट नहीं रख पाती—कारण, सौन्दर्य, लगाव या हिफाजत से सँभाल कर रखने का भाव उन्हीं चीजों के प्रति होता है, जो व्यक्ति की रुचि के अनुसार, आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, खून-पसीना बहाकर प्राप्त की जाती हैं। उन्हीं वस्तुओं की व्यक्ति तन, मन, धन से सुरक्षा-संरक्षा करता है। जबकि चोरी और दान, दोनों में चीजें मुफ्त की होती हैं और मुफ्त की चीज, चाहे कितनी भी कीमती हो, उसकी कद्र कम ही होती है। यद्यपि चोरी का काम भी महनत, मसक्कत और दुस्साहस का है,—जान तक की भी बाजी लगानी पड़ती है पर चोरी की भावना मन में रहते हुए भी, चोरी करना सबके बूते का काम नहीं है। चोर होना सहज स्वाभाविक है, लेकिन चोरी करना मुश्किल! तो चोरी के लिए की जाने वाली जो महनत मसक्कत है, वह तो चौर्य-

कर्म की भाग-दौड़ और बचाव-छिपाव की महनत है, किसी वस्तु विशेष के अर्जन के लिए, निर्भय होकर की गयी महनत, यह नहीं है—और फिर कुछ अपवादों को छोड़कर, आमतौर पर चोर का लक्ष्य भी किसी खास वस्तु की उपलब्धि नहीं होता, अपितु जो भी हाथ लगे, उसी को ले भागना होता है। अतः ऐसी वस्तु के प्रति उतना रागात्मक सम्बन्ध या आत्मीयता नहीं होती फलतः ऐसी वस्तुएँ या तो जल्दी ही टूट-फूट जाती हैं, या अपरूप हो जाती हैं अथवा पानी की तरह बहा दी जाती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि 'चोरी का माल मोरी में जाता है।'

चोर में भी हीनग्रंथि होती है और दान लेने वाले में भी। अधिकतर रुचि के अनुरूप वस्तु दान में भी नहीं मिलती। जो दे दिया जाता है, उसी को आदमी सिर झुका कर दाता का गुणगान करते हुए स्वीकार कर लेता है। दान में दाता के प्रति आदर और चोरी में साह के प्रति निरादर होता है। दान में प्राप्त होने वाली चीज की भी निरख-परख नहीं की जाती और चोरी की चीज की भी। इसलिए दान के सम्बन्ध में भी कहावत बन गयी कि—'दान की बछिया के दाँत नहीं गिने जाते।' चोरी की चीज की भी फिजूलखर्ची और बेकदरी होती है और दान की चीज की भी।

दान बिना माँगे मिलनेवाली एक प्रकार की **भीख** जैसा ही है। बस थोड़ी सी दरार है दान और भीख के बीच में। जब चोरी करने का दम और दान लेने की पात्रता नहीं होती, जब आदमी अकर्मण्य हो जाता है, जब परिवार ठुकरा देता है, जब शरीर शिथिल हो जाता है, जब भूख विवश कर देती है, जब स्वाभिमान मर जाता है, अथवा जब छल, कपट और धोखे से दूसरों को ठगकर अपना निर्वाह करने की बात मन में आती है तो भिक्षा-वृत्ति पैदा होती है। दान भी दिया जाता है और भीख भी दी जाती है; लेकिन दान में थोड़े मान-सम्मान के साथ देना होता है और भीख में पूरे अपमान के साथ फेंकना होता है। दान दिया ही जाता है, माँगा नहीं जाता और भीख माँगी ही जाती है, स्वतः दी नहीं जाती। भिखारी अपने आपको पूरी तरह अपया, लाचार या दीन-दुःखी जताकर दया का निहोरा करता है और हाथ फैलाता है; जबकि आदाता, अपने आप में कुछ गुण और कुछ जातीय उच्चता के भाव को लिए हुए चुपचाप रहता है, न तो गिड़-गिड़ाकर सिर झुकाता है और न मिलने से पहले हाथ फैलाता है। माँगते ही दान भीख बन जाता है तथा बिना माँगे और बिना दिये यदि छिपाकर ले लिया जाए तो चोरी बन जाती है। माँगने के कारण, भिखारी मान गँवाता है और आदाता तिरस्कार पाता है। भिखारी की कोई जाति नहीं होती, जबकि दान किसी विशेष जाति या वर्ग के लिए मुकर्रर कर दिया गया है। स्थूल का त्याग और सूक्ष्म में ममत्व दान है तथा सूक्ष्म की बेखयाली में स्थूल को लपकना भीख है।

जिसको लेने या देने में गौरव और स्वाभिमान होता है,—वह न दान है, न भीख है और न चोरी है, बल्कि वह **पुरस्कार** होता है। पुरस्कार का अर्थ है—

अपने आप उठे हुए अथवा किसी क्षेत्र विशेष में अपने गुण, योग्यता या शक्ति द्वारा अद्‌भुत कार्य करने वाले व्यक्ति को सम्मानित–प्रोत्साहित करने के लिए दिये जाने वाला कोई पदक, पदार्थ या धनराशि, जो घोषणा करके, एक प्रतिष्ठित जनसमूह के सामने, गौरव के साथ दिया जाता है। पुरस्कार में कोई पक्षपात, कोई प्रतिबद्धता या किसी प्रकार की राजनीति नहीं होनी चाहिए अन्यथा वह भी चोरी है जैसाकि आजकल हो रहा है। धूर्त, धोखेबाज, बेईमान और चोर राजनीतिक तिकड़म से, सोर्स-सिफारिश से, खुशामद और तलवे चाट-चाट कर पुरस्कृत हो रहे हैं और पुरस्कार के सच्चे पात्र ढकेल कर अँधेरे में कर दिये जा रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर सच्चाई और ईमानदारी कभी पुरस्कृत नहीं होती—उसको पीछे ही ढकेला जाता है और चमचागीरी, बेईमानी, गुण्डागर्दी और गद्दारी पुरस्कृत होती है—आगे बढ़ायी जाती है। यहाँ बुद्ध पर पत्थर फेंके गये, महावीर पर थूका गया, जीसस को शूली पर टाँगा गया, मंसूर को काटा गया, कबीर को पीटा गया, रजनीश को जहर दिया गया, सलमान रश्दी को मौत का फतवा सुनाया गया—और रंडी-भड़ुओं को—चोरों को—पुरस्कृत किया जाता है! इनाम दिये जाते हैं!!

पुरस्कार के समतुल्य इनाम या पारितोषिक तथा भेंट या उपहार शब्द भी हैं और ये भी दिये जाते हैं। **इनाम या पारितोषिक** संभवतः पर्यायवाची हैं। अपनी जान जोखिम में डालकर, समाज के भय या रीति-रिवाजों की परवाह न करते हुए, किसी शर्त को पूरा करने अथवा बेशर्त भी—किसी कल्याणकारी कार्य को करने, किसी को बहुत बड़ी हानि से बचाने अथवा किसी कठिन प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में, समाज, व्यक्ति या राज्य द्वारा किसी व्यक्ति विशेष या संस्था को जो पदक, मैडिल या धन दिया जाता है, वह इनाम या पारितोषिक कहा जाता है। पारितोषिक का अर्थ है—परितुष्ट करने वाला या सन्तुष्ट करने वाला। इस शब्द में कुछ व्यंजना है, जो इनाम या पारितोषिक के पात्र के भीतर छिपी उसकी महनत या बहादुरी के बदले कुछ लेने की अभीप्सा का आभास देती है—तभी 'पारितोषिक' शब्द सार्थक होगा। हम देखते हैं कि खेलों में विजय प्राप्त करने के उपरान्त अथवा किसी शर्त को पूरा करने के बाद यदि इनाम न दिया जाए तो विजेता के लिए उसकी जीत भी हार जैसी हो जाती है। अतः इनाम में कुछ भी मिले चाहे वह पत्थर ही क्यों न हो, तभी आदमी को सन्तोष होता है। इसीलिए पारितोषिक कहा जाता है। इनाम पुरस्कार से थोड़ा हल्का है; लेकिन कुछ वजन बढ़ाकर उसे पुरस्कार के बराबर खड़ा किया जा सकता है।

'भेंट या उपहार' भी लगभग एक ही हैं, जो अपने निजी मेल-जोल वाले लोगों या सम्बन्धियों की खुशी के मौके पर उनकी खुशी में अपनी खुशी जाहिर करने की दृष्टि से (भले ही मन में न हो) कभी बदले के भाव से भी, दिया या लिया जाता है। उपहार में भी प्रक्षिप्त स्वार्थ या बदले का भाव या चोरी है—क्योंकि लेने वाले में यह लालसा बनी रहती है कि जो भी मेरे आयोजन में आयें, वे कुछ

दें और देनेवाले में बदले का भाव होता है कि आज हम दें तो कल हमारे मौके पर लोग हमें भी देंगे—देना चाहिए।

स्वाभिमानी व्यक्ति न तो चोरी करता है, न भीख माँगता है और न दान लेता है। इनाम से भी उसे थोड़ी हिचक होती है—हाँ वह सिर उठाकर पुरस्कार ग्रहण करता है—वह भी उसके गुणों, योग्यता और स्तर के अनुसार गौरव के साथ दिया जाए तो। यद्यपि दान भी दिया जाता है और पुरस्कार भी, लेकिन दान लेने वाले में दीनता और हीनता अधिक और स्वाभिमान कम होता है, जबकि पुरस्कार प्राप्त करने वाले में शतांश स्वाभिमान ही होता है। पुरस्कार थोड़ी भी उपेक्षा या अपमान बर्दाश्त नहीं करता। ऐसी स्थिति में आते ही उसमें से आक्रोश और वीरता फूट पड़ती है। दान वापस नहीं किया जाता। यदि कर भी दिया जाए तो आदाता दण्डित भी हो सकता है—धिक्कृति का पात्र तो वह हो ही जाता है। और दान वापस कर लौटते वक्त आदमी लुटा सा, ठगा सा, हारा हुआ सा जाता है; लेकिन पुरस्कार वापस भी किया जा सकता है और वापस करके आदमी पुरस्कार मिलने से भी अधिक पुरस्कृत तथा गौरवान्वित महसूस करता है। उसका सिर और ऊँचा हो जाता है। चारों ओर से बधाइयाँ आने लगती हैं। त्यागियों की सूची में नाम जुड़ जाता है।

लेकिन यह भी चोट खाये हुए अहंकार की एक करवट है। कुछ अपवादों को छोड़कर पुरस्कार प्राप्ति भी थोड़ा अहंकार देती है और वापसी भी—क्योंकि पुरस्कार प्राप्ति की भी यदि विज्ञप्ति न हो, यदि दुनिया न जाने तो भी आदमी अपने आप को सम्मानित नहीं समझता और वापसी को भी यदि दुनिया न जाने तो भी अहंकार को ठण्डक नहीं मिलती।

जब कायरता और दुराव के साथ दूसरे की चीज को अपनी बनाने की कोशिश की जाती है, तो वह चोरी होती है; जब श्रद्धा और सहानुभूति से कोई चीज ली या दी जाती है, तो वह दान होता है; जब उपेक्षा और तिरस्कृति के साथ कुछ फेंका या दिया जाता है तो वह भीख होती है; जब गौरव और स्वाभिमान के साथ दिया जाता है, तो वह पुरस्कार होता है और जब दूसरों की खुशी से अपनी खुशी मिलाने के दिखावे के साथ देखा-देखी या होड़ा-होड़ी अपने नाम की चप्पी लगाकर, भीतर बदले के भाव को छिपाकर दिया जाता है, तो वह भेंट या उपहार कहा जाता है।

चोरी में दूसरों की चीज अपनी होती है; दान में अपनी चीज दूसरों की; भीख में न चीज का मूल्य है, न देने वाले का—अपितु कुछ मुफ्त में मिल गया—दूसरों को मूर्ख बनाकर ले गये, बस इतनी अस्थायी खुशी होती है; उपहार में वस्तु के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व और स्तर तोला जाता है या स्तर के हिसाब से वस्तु आँकी जाती है—जैसा व्यक्ति वैसा उपहार या जैसा उपहार वैसा ही छोटा या बड़ा व्यक्ति मान लिया जाता है और पुरस्कार में वस्तु की कीमत नहीं होती,

अपितु पुरस्कार के लिए चुनने वालों की गुण-ग्राहकता या पारखी दृष्टियों के प्रति एक आभार होता है और जिस विशेषता पर पुरस्कार मिला है, उसे और विकसित करने का हौसला होता है।

चोरी में पलायन और कायरता है। दान में श्रद्धा और संवेदना है। भीख में कर्महीनता और अपमान है। उपहार में दिखावा और अहंकार है। पुरस्कार में गौरव और स्वाभिमान है। चोरी में दृष्टि वस्तु पर रहती है। भीख, दान और उपहार में दृष्टि व्यक्ति और वस्तु दोनों पर होती है और पुरस्कार में दृष्टि गुणों पर या योग्यता पर रहती है।

चोर यदि चुरायी हुई चीज वापस करे तो वह सम्मानित होता है, उसे इनाम दिया जाता है; भिखारी भीख वापस करे तो वह दण्डित होता है; आदाता दान वापस करे तो वह तिरस्कृत होता है; कोई उपहार वापस करे तो बैर होता है और पुरस्कार वापस किया जाए तो व्यक्ति त्यागी और—कर्म-योगी कहा जाता है।

कहा जाता है कि 'चोर के पैर न-ीं होते !' कुछ उलट बासी सी लगती है यह बात, पर अर्थ सीधा भरा हुआ है इसमें। पैर तो होते हैं, चोर के—और इतने तेज-फुर्तीले कि उन्हें पकड़ने में अच्छे-अच्छे धावकों का पसीना छूट जाता है। पैर न होने का अथ है कि चोर में, सामने आने का, आँख मिलाने का या सत्य का सामना करने का साहस नहीं होता। जरासी आहट, जरासी खाँसी, जरासी करवट ही चोर के सिर में पैर लगा देती है। अतः चोर की टाँगों में नहीं, सिर पर पैर होते हैं। हम सब सिर पर पैर लगाये हुए चोर हैं; क्योंकि सत्य के सामने नहीं टिक पाते। सच्चाई सामने आयी; कि हम उखड़े ! किसी ने हमारी निन्दा की,–कि हम तड़के ! किसी ने हमारी बुराई की,—कि हम भड़के !! क्यों ? चोर की जब चोरी पकड़ी जाती है तो या तो वह हथियार डाल देता है, समर्पण कर देता है या फिर भय और आतंक का सहारा लेता है। चोर को चोर कहना ही सबसे बड़ी कठिनाई है। जहाँ घाव होता है, वहीं छूने पर पीड़ा होती है। हम सब चोरी के घाव भीतर छिपाये फिरते हैं। इन घावों की पीड़ा का या पैर न होने का पता तब लगता है, जब कोई हमारी चोरी की ओर इशारा कर दे और वे इशारे हैं—हमारी निन्दा, आलोचना, बुराई, अवगुणों का बखान, पापों का खुलासा और हमारी भूलों की ओर किये गये संकेत ! क्या इन इशारों से बिना उद्विग्न हुए, समशीतल रहकर, हम कभी आत्मनिरीक्षण करते हैं और अपनी चोरी को स्वीकार कर कभी 'अचौर्य' की ओर कदम बढ़ाने की कोशिश करते हैं ?? अथवा चिढ़ते हैं, नाराज होते हैं या मरने मारने पर उतारू हो जाते हैं ? हम चोर हैं या नहीं—इसको साबित करने की कसौटी एक यह भी है कि कोई हमसे दस–पाँच लोगों के बीच में कह दे कि 'तुम चोर हो।' फिर देखिए तमाशा कि किस क्षण साधु में से शैतान निकल कर खड़ा हो जाता है। फिर हम अपने क्रोध को भी उचित ठहराने के लिए तर्क खड़ा कर देते हैं कि 'झूठे आरोप पर तो क्रोध आता ही है।' अच्छा, चोर कहना तो झूठा आरोप है, माना; लेकिन जब कोई हमसे कहता है कि 'आप तो देवता हैं,'

'बड़े महान हैं।' तब यह कैसा आरोप है ? जरा झाँककर देखें भीतर कि सचमुच हम देवता और महान हैं ? यदि नहीं हैं तो फिर क्रोध क्यों नहीं आता इस झूठे आरोप पर ? यह भी तो झूठा आरोप है। यदि हम चोर नहीं हैं तो चोर कहने से चिढ़ते क्यों हैं ? चिढ़ते हम उसी बात पर हैं, जिसे छिपाकर हम कुछ और होने का दिखावा करते हैं ! क्या चुराकर छिपाया है हमने, जिससे हमें कष्ट होता है ?

अच्छाई तो चुरायी नहीं जा सकती, क्योंकि वह हमारा स्वभाव है—बुराई हमने चुरायी है, इसीलिए तो बुरा कहने से हमें बुरा लगता है। सत्य तो चुराया नहीं जा सकता, क्योंकि वह हमारा आत्म-भाव है—झूठ हमने चुराया है, इसीलिए तो झूठा कहने से हम आग-बबूला हो जाते हैं ! पुण्य तो चुराया नहीं जा सकता, क्योंकि वह भी हमारी आत्मा का सुख है—पाप हमने चुराया है, और इसीलिए तो पापी कहने से हम हत्या तक कर डालते हैं।

कहावत है कि 'चोर की दाढ़ी में तिनका'। हो सकता है किसी चालाक चोर ने मूर्ख चोर को पकड़ने के लिए इस कहावत वाली तरकीब का स्तैमाल किया हो और उस मूर्ख का हाथ अपनी दाढ़ी पर चला गया हो; लेकिन हम जैसे समझदार चोरों के लिए भी तो हमारी बुराइयाँ, दुर्गुण दाढ़ियाँ हैं कि इशारा देखते ही हमारा हाथ नाराजी पर चला जाता है; गाली पर चला जाता है, बन्दूक पर चला जाता है। जहाँ हमारी निन्दा या बुराई होती है, उस स्थान को हम छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति हमारी बुराई करता है, उस व्यक्ति से हम पीठ फेर लेते हैं। अतः हमारी भी दाढ़ियों में तिनके हैं और हमारे भी पैर नहीं हैं।

दूसरे की वस्तु को छिपा लेने की अपेक्षा अपनी बुराई को छिपा लेना भयंकर चोरी है। यदि हम यह समझें कि बुराई को छिपाकर हम भले हो जायेंगे, तो यह हमारी भूल है। हम भले दिखाई भले ही दें, भले नहीं हो सकते। बुरा होकर परिणामतः बुरा दिखना बुरा नहीं है, बल्कि बुरा होकर दिखावे के लिए भला दिखना परिणामतः बुरा है।

अधिकांशतः हम उसी भूल, बुराई या कुकर्म को छिपाते हैं, जिसमें हम जान बूझकर लिप्त रहे हों या जिसकी पहल हमारी ओर से हुई हो। ऐसी स्थिति में हम उन दूसरे लोगों की बुराइयों को भी छिपा लेते हैं, जिनके साथ मिलकर हमने कोई बुराई या कुकर्म किया है। अर्थात् बुरे होकर भी हम स्वयं तो भले दिखना चाहते ही हैं, अपने साथी दूसरे बुरे लोगों को भी अच्छाई का मुखौटा पहना देते हैं। वैसे आमतौर पर हम अपने आप को अच्छा और दूसरों को बुरा कहते हैं, लेकिन बुराई की सहभागिता दूसरों की बुराई को भी अच्छाई का दर्जा दे देती है। एक चोर दूसरे चोर को चोर नहीं कहता। इसीलिए कहावत बनी होगी कि 'चोर-चोर मौसेरे भाई।' चोर जब कभी पकड़ा जाता है और उससे अन्य चोरों का नाम पूछा जाता है, तो वह अपने असली साथियों या मौसेरे भाइयों का नाम नहीं बताता, अपितु या तो रंजिश-वश किसी भले आदमी का या जो भी परिचित दिख जाए,

उसी को अपना साथी बताकर फँसा लेता है। बुराई की शत्रुता भलाई के साथ ही रहती है।

बुरे होकर यदि हम अपने आपको बुरे दिखाने की ही कोशिश करें अथवा चोर होकर यदि हम अपने आपको पूरे चोर ही दिखाने का प्रयास करें तो अपने भीतर से तो हो सकता है कि बुराई और चोरी मिट जाए. लेकिन दुनिया की दृष्टि में हम बुरे और चोर ही बने रहेंगे; क्योंकि इस समाज में अधिकांशतः बुराई को छिपाकर ही आदमी भला बना रहता है। बुराई भलाई के वस्त्र पहन कर ही दुनिया को ठगती है। बुरा आदमी कोई कुकर्म नहीं कर सकता; बुरे आदमी ने भला आदमी बनकर ही दुनिया को लूटा है। दूसरी बात यह कि—अपनी छिपी हुई बुराई को ईमानदारी से बता देने पर अच्छाई से विश्वास उठ जाता है और शक-संदेह पैदा हो जाते हैं। सुखी-सानन्द जीवन बिताते हुए—पति-पत्नियों के बीच दरार आने का मूल कारण यही है। मित्रता का शत्रुता में बदलने का भी बहुत कुछ कारण यही है।

इसीलिए चोरी मिटती नहीं—मिट भी नहीं सकती, क्योंकि सारा संसार चोरी की धुरी पर घूम रहा है। सारे नाते रिश्ते चोरी की कड़ियों से सटे हैं। चोरी मिटी तो यह भौतिक संसार मिट जाएगा, समाज मिट जाएगा, सम्बन्ध मिट जाएँगे। चोरी मिटी तो श्रद्धा, प्रेम, भाईचारा, त्याग, सेवा, सदाचार सभी विलोम हो जाएँगे। क्योंकि यहाँ पति, पत्नी से कुछ चुराकर सत्यवान बना हुआ है और पत्नी, पति से चुराकर सावित्री, बाप, बेटे से चुराकर जी रहा है और बेटा, बाप से चुराकर मौज-मस्ती मार रहा है। अफसर, नौकर से चुराकर अकड़ रहा है और नौकर, अफसर से चुराकर सच्चा सेवक बना हुआ है। भाई, भाई से चुराकर अपनी कोई और योजना बना रहा है और मित्र, मित्र से चुराकर कोई साजिश रच रहा है। व्यापारी, ग्राहक से चुराकर लूट रहा है और ग्राहक व्यापारी से चुराकर अपना मन समझा रहा है। इन सबकी पोल या चोरी खुली कि सब कुछ ध्वस्त हुआ! बचपन से लेकर अब तक, कोई है ऐसा, जिसने किसी भी प्रकार की चोरी न की हो?

असलियत को चुराकर सर्वत्र एक नाटक चल रहा है कि भीतर घृणा, द्वेष और जलन हैं और बाहर प्रेम दिखाया जा रहा है। भीतर हिंसा भरी है और बाहर अहिंसा है। भीतर झूठ है और बाहर से हरिश्चन्द्र बने हैं। हम जो भीतर हैं, वह बाहर हैं ही नहीं। लिखते वक्त जो हम हैं, वह व्यवहार में नहीं हैं। माँ के सामने जो हम हैं, वह अन्य स्त्रियों के सामने नहीं हैं। मतलब के लिए जो हम हैं, वह मतलब निकल जाने पर नहीं हैं। सबके सामने जो हम हैं, वह एकान्त में नहीं हैं। इतनी जल्दी चेहरे चुरा लेते हैं हम कि पलक झपकने की भी देर नहीं होती। कभी-कभी तो एक ही समय में हम दो-दो मुखौटे ओढ़े रहते हैं। यदि भीतर झांकें तो आत्महत्या के लिए मन करेगा, लेकिन बाहर अकड़ कर ठहाके लगाते हैं।

अनुकरण या अनुसरण करना भी बड़ी महीन चोरी है और हर आदमी किसी न किसी का अनुकरण कर रहा है। अनुकरण का अर्थ है, अपने आपको दबाकर किसी समर्थ—ज्ञात या अज्ञात अथवा देखे या अनदेखे व्यक्ति की विशेषाओं को ओढ़ने का प्रयास करना। इस प्रयास से दूसरे जैसा तो न कभी कोई हुआ है और न कभी हो सकता है, उलटा, अपने आप को अवश्य खो बैठता है। अतः हिन्दू भी चोर है क्योंकि वह हिन्दुत्व का या राम-कृष्ण का अनुकरण कर रहा है, जबकि न तो वह हिन्दू है और न राम-कृष्ण जैसा कभी हो सकता है, बल्कि वह सिर्फ मनुष्य है और अनुकरण करते-करते वह अपनी मनुष्यता खो रहा है। मुसलमान भी चोर है क्योंकि वह इस्लाम का या मुहम्मद का अन्धानुकरण कर रहा है, जबकि न तो वह मुसलमान है और न मुहम्मद जैसा कभी हो सकता है, बल्कि वह भी सिर्फ मनुष्य है और अनुकरण करते-करते वह भी अपनी मनुष्यता खो रहा है। हाँ इनके बच्चे, जो अभी माँ के गर्भ में पल रहे हैं, वे चोर नहीं हैं, लेकिन गर्भ से बाहर आते ही, कुछ समय बाद इनके माँ-बाप, इन्हें चोर बनाने की साजिश करेंगे—एक हिन्दू रीति से, दूसरा इस्लाम की रीति से। चोर कभी पैदा नहीं होता, इस समाज में बाजे-गाजे के साथ बनाया जाता है और फिर चोर बनाने के उपलक्ष्य में दावतें दी जाती हैं, उत्सव मनाये जाते हैं। इनके मन्दिर मस्जिद ईश्वर के घर नहीं, चोरों के अड्डे हैं—जहाँ अपने-अपने गिरोह के सदस्यों को ही प्रवेश की स्वीकृति है। मुसलमान यदि मन्दिर में घुस जाएँ तो भूचाल आ जाए और हिन्दू यदि मस्जिद में चले जाएँ तो कहर ढह जाए!! इनकी पूजा और इबादत चोरी ही नहीं, दिन-दहाड़े डकैती हैं कि एक गीता और रामायण से डकैती कर रहा है, दूसरा कुरान से।

चोर पैदा तो नहीं होता लेकिन मरता चोर ही है। अर्थात् जन्म में नहीं,—चोरी, जिजीविषा में है और मृत्यु के भय में है। जीवन भर आदमी चोरी करता है–वस्तुओं की, सम्बन्धों की, आदतों की और मृत्यु आने पर आदमी जिन्दगी को चुरा लेना चाहता है। मृत्यु का अर्थ मरना नहीं है, अपितु हाथ से निकल कर पीछे भागती हुई जो अपनी नहीं है, उस जिन्दगी को पकड़ने की, चुराने की, असफल कामना है। अतः मरते वक्त भी जो जन्मते वक्त जैसा हो जाए, वही चोरी से बाहर हो सकता है जैसे बुद्ध! इसलिए भगवान् बुद्ध का एक नाम 'तथागत' था। अर्थात् 'यथा आगत, तथा गत'–या जैसे जन्मते समय, वैसे ही मरते समय। अन्यथा, चोरी जारी है और जारी रहेगी!

□

५. स्वावलम्बन

सवारी पर बैठने की बात मन में आते ही पैरों की शक्ति कम होने लगती है। पराये सहारे काम करने की सोचते ही मनोबल टूट जाता है और उसी क्षण आदमी बेसहारा हो जाता है। दूसरों के ऊपर छोड़ा हुआ अपना छोटा सा काम ही 'तिल का ताड़' और 'राई का पहाड़' होता है। सिर्फ भगवान् के भरोसे पर, बिना हाथ पैर हिलाए पड़े रहने वाले के लिए ही 'राई को परवत करै' कहा गया और स्वयं कर्मशील व्यक्ति के कार्य के लिए "पर्वत राई मांहि"। पराई अपेक्षा अपनी उपेक्षा कराती है। दूसरों से ही हित साधन का ख़याल अपने प्रति सबसे बड़ा अहित है। अपनी अनुभूति दूसरे हाथों द्वारा मनवांछित सुन्दर कार्य नहीं करा सकती। अपना भाव और चिन्तन ही जब कर्म में परिणत होता है, तब सफलता आज नहीं, तो कल अवश्य मिलती है।

वह तना जो वृक्ष पर बोझ बना हुआ है, उसी के सहारे जीता है, बढ़ता है, जरा से अधिक बोझ से झुककर टूट जाता है, किसी का सहारा भी नहीं बन पाता। पर जैसे ही तना वृक्ष से काट कर खम्भा बन जाता है तो छतों, छप्परों, पुलों के अतुल बोझ को साधने में सक्षम हो जाता है। पर्वतों को कोई नहीं पूजता, पर उससे काट कर अलग किया गया पत्थर का टुकड़ा देवताओं की प्रतीक-भाषा बोलता है। शक्ति प्राप्त होती है बेसहारा होने के बाद, और कमजोरी सहारों की डोर पकड़ व्यक्ति के अन्दर उतरती है।

पूर्व परम्पराओं से कटी हुई चिन्तना और मौलिक ज्ञान स्वावलम्बी की पहचान है। यह चिन्तन और विवेक अधिकांश लोगों में मेल नहीं खाता। अजूबा होता है; कटु होता है; अटपटा लगता है; तिरस्कृत भी किया जाता है और निष्कासित भी किया जा सकता है। ऐसा मौलिक व्यक्ति अकेला हो जाता है, पर अकेले में बड़ी शक्ति होती है। वह अभेद्य है; दुर्लंघ्य है। अनेक में तो एक निहित है, पर एक में कुछ बाहर का नहीं समाता। एक में से कुछ घटता भी नहीं,— उसके गुणनखण्ड भी नहीं होते। संकल्प उसकी शक्ति होती है और कर्म उसका ईश्वर! संकल्पी मन, सफलता–असफलता, हानि-लाभ, जीवन-मरण, अपना-पराया, आदि बातों का ख़याल ही नहीं करता। अकेला सारी दुनिया का भेद जान जाता है, पर अकेले का भेद किसी को नहीं मिलता। अकेला चोर भी कभी पकड़ा नहीं जाता और अकेले बहादुर की कभी विश्वास-घात से हत्या नहीं होती। बाधा-विघ्न उसके लिए जागरूकता की सीढ़ी बनते हैं और विरोध उसके विकास के साधन!

किसी में कितनी शक्ति, कितनी सामर्थ्य, कितनी क्षमता और दक्षता है?

इसकी पहचान उसके कृतित्व से होती है। कृतित्व ही व्यक्तित्व की कसौटी है। व्यक्तित्व किन्हीं भिन्न तत्त्वों के योग से नहीं बनाया जाता। व्यक्तित्व निसर्ग की देन है। उसका सिर्फ परिष्कार किया जा सकता है–निर्माण नहीं। स्वावलम्बी के व्यक्तित्व में उचित समय में उचित कर्म की सूझ, धैर्य, कृतज्ञता और निरालस्य-दूध में पानी की तरह घुले रहते हैं। स्वावलम्बी के लिए राह के रोड़े भी सीढ़ी बन जाते हैं और परोपजीवी के लिए सीढ़ी भी अवरोधक हो जाती है। स्वावलम्बी चलता है, तो मंजिल उसकी ओर आती है और परोपजीवी की मंजिल उससे मुँह फेर दूर भागती है। स्वावलम्बी का कर्म शीघ्र सुफल की ओर ले जाता है और पराधीन का कर्म उलझनों की ओर। एक संकल्प का जीवित रूप होता है, दूसरा विकल्प का अधमरा प्रतिरूप। एक में उत्साह की आनन्द भरी ज्योति जगमगाती है, दूसरे में निराशा और मानसिक रुग्णता का अँधेरा घिरा रहता है।

स्वाश्रित के पास आत्म-बल, मनोबल और चरित्र-बल-तीन तरह की सम्पदा होती है। इसी में तीनों लोक, तीनों एषणाएँ, तीनों गुण, तीनों देव; तीनों लिंग समाहित होते हैं। स्वावलम्बी अभिमानी नहीं, स्वाभिमानी होता है। परन्तु नासमझ आँखें उसमें अहंकार का रूप देखती हैं। अज्ञानी को वह निपट मूर्ख लगता है और कपटी उसको प्रवंचक बताते हैं। द्वेषी उसे चालाक कहते हैं और धूर्त उसे धोखेबाजी का नाम देते हैं। स्वावलम्बी में स्पर्द्धा होती है, जलन नहीं–और स्पर्द्धा अभ्युन्नति की वह स्वस्थ होड़ है, जो पक्ष और विपक्ष दोनों को उठाती है; आगे बढ़ाती है; विकास का मार्ग दिखाती है। सद्गुणों को अपनाने के लिए और निर्गुणों को त्यागने के लिए विवश करती है। स्वावलम्बी सफल होने के लिए व्याकुल नहीं होता,–सफलता में आसक्त भी नहीं। अपितु सम्पदा और सफलता उसका साथ ऐसे ही नहीं छोड़ती जैसे शीतलता पानी का साथ नहीं छोड़ती। वह परमुखापेक्षी नहीं होता क्योंकि परमुखापेक्षिता के समान दूसरी कोई विडम्बना नहीं।

स्वावलम्वी, भक्ति, ज्ञान और कर्म के सोपानों को पार करता हुआ आन्तरिक यात्रा के उस शिखर पर पहुँचता है, जहाँ से दुनिया उसको अपने घर जैसी छोटी दिखाई देती है और ईश्वर अपने भीतर अवतरित हुआ लगता है। न चाहकर भी सिद्धि उसके कदमों को चूमती है, और चाहकर भी संसार उसको छू नहीं पाता! ऐसे व्यक्ति रूढ़ि-रिपु होते हैं और कुछ लोग इन्हें नास्तिक कहकर दुत्कारते हैं। "हम दुत्कारते उसी को हैं, निन्दा उसी की करते हैं, जो हम हो नहीं पाते।" (ओशो)

नास्तिक होना आसान खेल नहीं है। नास्तिक वह है जो सब तरफ से कट कर अपने आपसे जुड़ जाता है। स्वयं को किसी अदृश्य सत्ता के हवाले कर उसके हाथ की कठपुतली नहीं बनता। पत्थरों के सामने आँसू नहीं बहाता। अपनी ही सत्ता और अपने ही रूप का प्रसार वह कण-कण में देखता है। वह मूर्तियों की या अदृश्य ईश्वर की निन्दा नहीं करता,–अपितु अज्ञान के पर्दे को फाड़कर अपनी आँख से सत्य को देखता है। उसका रोदन दुःख से उत्पन्न नहीं होता, अपितु

अतिशय पुरवाई चलने के कारण आकाश में घिर आई घटाओं की तरह सामयिक घटना है और हर्ष का मतलब उसके लिए सिर्फ इतना ही है जैसे सर्दी और गर्मी के संक्रान्ति काल का अर्थ बसंत लगाया जाता है ।

स्वावलम्बी किसी की सत्ता और महत्ता को नकारता नहीं है प्रत्युत बिना आचरित किये तथ्यों को स्वीकार नहीं करता । कहे गये दृष्टान्त और तथ्य उसके लिए जब तक सत्य नहीं हैं, जबतक कि वह उनको पूरी तरह आजमा नहीं लेता । उसके लिए यद्यपि सारे सम्बन्ध होते हैं, सारी दुनिया होती है, पर अपनी आँख से ओझल हुआ कोई काम उसकी आँख तर नहीं आता । हर कार्य को वह अपने ही द्वारा, अपने ही सामने करने से सन्तुष्ट होता है । वह अन्धविश्वासी नहीं होता । इसीलिए ऐसे व्यक्ति की पटरी सभी के साथ नहीं बैठती । चारों ओर विरोधों की दीवार खड़ी हो जाती है ।

उसमें करुणा अधिक होती है, दया कम । बाहर से चट्टान सा लगता है, भीतर पिघलता है । बाहर से डाँटता है, भीतर दुलारता है । जिसे कर नहीं सकता, उसे कहता नहीं और जो कह देता उसे कर दिखाता है । चुनौतियाँ उसे बलशाली बनाती हैं, और निन्दा उसकी तन्द्रा को भंग करने का साधन होती है । अपने ऊपर झूठा इल्जाम लगाये जाने पर आग बबूला हो जाता है और अपनी भूल स्वीकार करने में कभी किसी क्षुद्र के सम्मुख भी झुकने से नहीं हिचकता ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' में कोरी आस्था रखकर, आँख मूँदकर, हाथ पसारे, खड़ा नहीं रहता कि कोई मुझे हाथ पकड़कर, अन्ध कूप से खींच उजाले में बिठा दे । अँधेरों में भटक कर वह स्वयं उजाला खोज लेना चाहता है । 'स्वावलम्बी' वह है जो डूबने पर भी नहीं कहता कि कोई मुझे पार करे, डूबकर ही वह तैरने की कला सीखना चाहता है । स्वावलम्बी वह है जो गिर कर भी कभी नहीं कहता कि कोई मुझे कन्धों का सहारा दे–गिरने के बाद ही वह उठने के आनन्द का अनुभव करना चाहता है । स्वावलम्बी वह है जो हार कर भी मन को नहीं मारता-हार को ही जीत का उपहार समझता है ।

अन्दरूनी तौर पर स्वावलम्बी न तो किसी से विशेष जुड़ा होता है और न टूटा होता है । कोई अपने संकुचित स्वार्थ के कारण उससे जुड़ और टूट सकता है । अगर वह किसी से जुड़ता है तो अपने विवेकमय आचरण के कारण और टूटता है तो अपने उसूलों के कारण ! वैसे स्वार्थी ही उससे जल्दी-जल्दी जुड़ते और टूटते रहते हैं । वह ऐसा कार्यार्थी होता है, जिसकी कर्मठता उसे रुका हुआ पोखर का पानी नहीं बनने देती । वह बहती धारा का तरल प्रवाह है, जिसको दीवारें रोक नहीं पातीं । उसे दुःख होता है, तो केवल सिद्धान्तों के टूटने का, मौत का सदमा उसे दुःखी नहीं करता । पश्चात्ताप होता है तो केवल अपनी भूल पर, अप्राप्ति पर वह सिर नहीं पीटता । उसे प्रसन्नता होती है, तो दूसरों को अपने पैरों पर खड़े हुए

देखकर, भौतिक लाभ उसकी प्रसन्नता में चार चाँद नहीं लगाते। क्रोध आता है, तो उसे अपनी कुवृत्तियों पर, शत्रु उसके क्रोध का आलम्बन नहीं होता।

स्वावलम्बी किसी का सहयोग चाहता नहीं, कुछ घटक ऐसे मिलते जाते हैं, जो उसके लिए स्वतः सहयोगी साबित हो जाते हैं। जितना आदमी बिखरा हुआ है, उतना संसार का कोई पदार्थ, कोई वस्तु नहीं। जिस किसी ने भी अपने बिखराव को आत्म संगठित कर लिया है, उसने दैवी शक्ति को अपने अन्दर खींच लिया है। आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता बिखरे व्यक्ति को संगठित करने के प्रबल प्रहरी हैं और स्वावलम्बी इन्हीं से जुड़ा होता है। किसी की कृपा पर जीना सबसे बड़ी कायरता है और विरोधमय वातावरण में अपने आपको उठाने की कोशिश सबसे बड़ी वीरता! विवेकहीन और अकृतज्ञ व्यक्ति की मालिक होने की चाह, उसे नौकर की कीमत का भी नहीं रहने देती और स्वावलम्बी सच्चा कृतज्ञ सेवक होता है, जिसके बिना उसका स्वामी भी एक कदम नहीं चलता। सेवक होकर भी वह स्वामी का मान प्राप्त करता है। देकर भूल जाता है और लेकर याद करता है।

ढोंग और दिखावा, आडम्बर और रूढ़िवादिता स्वावलम्बी के लिए विष तुल्य हैं। आत्म चिन्तन ही उसका उपवास है। कर्म ही उसका व्रत और पूजा है। अपनी भूलों का सुधार ही तीर्थ स्नान है। वह गिरता है तो बिजली की तरह; उठता है तो तूफान की तरह; चलता है तो प्रकाश की तरह; ठहरता है तो हिमालय की तरह। यदि कुढ़ता है तो प्रमाद पर; विचलित होता है तो झूठ पर। किसी का उपकार करके कहता नहीं और अपकार हो जाने पर छिपाता नहीं। अहसान जताता नहीं, मानता है। धोखा खा सकता है, पर किसी को देता नहीं। किसी को उठाने के लिए अपना सर्वस्व लुटा सकता है, पर किसी को गिरा नहीं सकता। भौतिक जरूरतों की लम्बी चौड़ी सूची उसके पास नहीं होती। जो मिल गया वही आवश्यकता और जो नहीं मिला उसकी कामना नहीं। अन्तर्द्वन्द्व उसके भीतर रहता है, पर यह अन्तर्द्वन्द्व विकल्प से उत्पन्न हुई कशमकश या पशोपेश नहीं, जो उसकी कार्य-प्रणाली में आड़े आए। कशमकश विरोधी वृत्तियों की खींचातानी या रस्सा कसी है। पशोपेश दुहरे मन की वह दुविधामयी स्थिति है, जो व्यक्ति को घर का छोड़ती है न घाट का। स्वावलम्बी में यह कशमकश या पशोपेश नहीं होती। उसके दृष्टि-पथ में एक समय में एक ही काम होता है।

उसके पास अपनी ही आँख और अपना ही दर्पण होता है। परायी आँख से और पराये चेहरे देखकर वह अपनी तस्वीर नहीं बनाता, अपितु अपना चेहरा देख-कर दुनिया का चित्र बनाता है। आत्मनिर्भर व्यक्ति ही सच्चा परोपकारी हो सकता है; क्योंकि उसके 'स्व' में 'पर' छिपा रहता है। अपने दुःख को कम करने के लिए वह दूसरों के सुख का दृष्टान्त सामने ले आता है और अपने सुख से उत्पन्न हुए प्रमाद को रोकने के लिए दुखियों पर उसकी आँख टिक जाती है। समता की

स्थिति प्राप्त करने के लिए दो बातें काफी हैं–सुख आने पर दु:खियों को ध्यान में रखना और दु:ख आने पर धीरों के उदाहरण याद रखना।

स्वावलम्बी के भीतर सदा सर्जन की प्रक्रिया चलती रहती है, पर संसार को ध्यान में रखकर। इसीलिए उसका कोई भी कृत्य 'मैं-मेरी' से युक्त नहीं होता। उसके करने और बनाने का अर्थ इतिहास की छाती पर अपने चिह्न अंकित कर छोड़ जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसकी जिन्दगी चहकती है पर काल-व्याध को निशाना साधे हुए देखकर। इसीलिए वह किसी का अनर्थ नहीं करता। उसके लिए किसी के जीवन को उजाड़ने का अर्थ है, अपनी मौत को भूल जाना। जो व्यक्ति भूल जाता है कि मुझे भी मरना है, वही किसी का अहित कर सकता है। जिसे आँसू याद हैं, उसकी मुस्कान मदीली नहीं हो सकती है, जिसको दिन का ख्याल है, उसकी रात नशीली नहीं हो सकती। जिसकी नजर अपनी कमियों पर है, वह अभिमानी नहीं हो सकता, जिसको खाली पेट की तड़पन याद है, वह बेईमानी करने में हिचकता है। जो आत्मोन्मुखी हो गया वह झूठ नहीं बोल सकता। जो कूड़े करकट की ओर बढ़ गया, सफाई वही कर सकता है। जिसने दुर्गन्ध से नाक बन्द कर मुँह फेर लिया, वह पवित्रता का दुश्मन है।

किसी का कमाया हुआ खाना या किसी को कमा कर खिलाना, स्वावलम्बी की दृष्टि में दोनों ही कर्महीनता हैं और कर्महीनता महा पातकों की जननी है। उसके लिए किसी को कमाकर खाने लायक बना देना सबसे बड़ा पुण्य है। राह भूले को उँगली पकड़ कर साथ जाने की अपेक्षा राह दिखा देना ही पथ प्रदर्शन है। उँगली पकड़कर मंजिल पर पहुँच जाना मंजिल की प्राप्ति नहीं स्थायी अज्ञान है। अपनी मंजिल तक जाने वाले टेढ़े-मेढ़े रास्तों की पहचान किसी के साथ जाकर नहीं होती। अकेले जिस दिन हम किसी चौराहे पर खड़े होते हैं उस दिन आँख खुलती है कि अब किधर जाएँ ? बस इस 'किधर जाएँ, की व्याकुली में ही नया मार्ग छिपा रहता है, जिसको एक बार खोज लेने पर कभी भुलाया नहीं जा सकता।

जिसमें किसी को मारने की नहीं–खुद मिट जाने की हिम्मत है; कराने की नहीं-स्वयं कर गुजरने की जुर्रत है, दिखाने की नहीं-अपनी देखने की आँख है, वह सच्चा स्वावलम्बी है। पराया सहारा बल नहीं, बोझ होता है।

□

६. प्रतिष्ठा

अपने परिचितों और विशेषकर अपने आपसे गुण, शक्ति, पद, योग्यता आदि में हेठे लोगों के सामने, बेइज्जती, निन्दा, अपमान होने से जो बड़प्पन और महत्ता का अहंकार-मिश्रित भाव उठता है उसे प्रतिष्ठा कहा जा सकता है। इज्जत प्रतिष्ठा का कच्चा माल अथवा बीज है। यह बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर प्रतिष्ठा का पौधा बन जाता है। सामान्य और अशिक्षित व्यक्ति जिसे अपनी इज्जत कहता है, शिक्षित और सम्पन्न के यहाँ पहुँचकर वही प्रतिष्ठा कहलाने लगती है। प्रतिष्ठा का ख़याल सदा अपने से छोटों के सामने ही आता है, अपने आप से बड़े और शक्तिशालियों के सम्मुख तो प्रतिष्ठा भीगी बिल्ली बन जाती है। छोटों से पानी भरवाती है और बड़ों का पानी भरती है प्रतिष्ठा। उपेक्षा और अपमान की चोट से तिलमिलाकर प्रतिष्ठा खड़ी हो जाती है। खरगोश के सींग और बन-मानुष की पूँछ की तरह यद्यपि यह दिखायी नहीं देती, परन्तु इसकी मार की धार और झटकार, सींग और पूँछ की तरह ही हैं।

घर के आँगन से लेकर परिचितों के क्षितिज तक प्रतिष्ठा का विस्तार है। पुत्र के सामने पिता की, छोटे भाई के सामने बड़े भाई की, पत्नी के सामने पति की, नीच के सामने ऊँच की विद्यार्थी के सामने अध्यापक की, चपरासी के सामने क्लर्क की, कर्मचारी के सामने अधिकारी की, विधायक के सामने मन्त्री की, मन्त्री के सामने मुख्यमन्त्री की और मुख्यमन्त्री के सामने प्रधानमन्त्री की प्रतिष्ठा सदैव चौकन्नी घोड़ी की तरह दुलत्ती झाड़ने को तैयार रहती है। यह भावना होती तो दोनों पक्षों में है, पर इसका विस्फोट बड़े पक्ष से ही होता है। प्रतिष्ठा का उपयोग जितना बनाने में नहीं, उतना बिगाड़ने में होता है। छोटे पक्ष की ओर से जरा सी ठेस लगते ही भाले की तरह प्रतिष्ठा का सवाल खड़ा हो जाता है। एक पक्ष में मुखर अहंकार और दूसरे में मौन अहंता। पासंग छोटे बाँट के पलडे में ही लगता है। दोनों ओर से छाया-चित्र बनने लगते हैं। छाया के पीछे दौड़ और छाया की पकड़ आरम्भ हो जाती है। बाहर सन्नाटा और मन में भिन्नाहट। बाहर शान्ति और भीतर क्रान्ति।

भीतर से अप्रतिष्ठित व्यक्ति बाहर प्रतिष्ठा तलाश करता है। बाहर तमाचे खाकर गया हुआ तहसीलदार का चपरासी अपने स्टूल पर बैठकर, सादा वेश में आये जिलाधीश को भी आँख दिखाता है। अपने बिल में घुसा हुआ चूहा बिल्ली पर मुँह चिढ़ाता है।

एक बाप के सम्मुख बेटा, यदि उसकी मर्जी के खिलाफ बोल गया तो प्रतिष्ठा बाप की नाक पर चढ़ जाती है—कुपूत पैदा हो गया, सारी बात बिगाड़

दी, प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। घर से बाहर निकलता है तो प्रतिष्ठा का चश्मा आँखों पर चढ़ जाता है। रास्ते में परिचित ने नमस्कार कर लिया—सिर ऊँचा हो गया। नमस्कार न कर यदि देखकर मुँह फेर कर चला गया तो घड़ों पानी पड़ गया। प्रतिष्ठा में फर्क आ गया। मन की रस्सी का झूला बड़प्पन के पेड़ पर डाल कर बड़ी लम्बी पेंग बढ़ाती है यह प्रतिष्ठा, कभी आसमान चूमती है, कभी धूल में मिलती है प्रतिष्ठा।

पद और प्रतिष्ठा दोनों अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति और छाया का सम्बन्ध है, या फूल और रंग का सम्बन्ध है, या नाली और दुर्गन्ध का सम्बन्ध है, या तेल और चिकनाई का सम्बन्ध है, या ईख और मिठास का सम्बन्ध है अथवा शराब और नशे का सम्बन्ध है पद और प्रतिष्ठा में। एक के अभाव में दूसरे का प्रभाव क्षीण हो जाता है। संसार के हर जोड़े में तनाव हो सकता है. अलगाव हो सकता है परन्तु ये पद और प्रतिष्ठा ऐसे दम्पत्ति हैं जिनमें कभी अलगाव नहीं देखा गया—जीवन से साँस की तरह, पानी से शीतलता की तरह, आग से गर्मी की तरह, जीते हैं तो साथ मरते हैं तो साथ।

पद नामक राजा की ऐसी मुँहजोर प्रेमिका है यह प्रतिष्ठा कि महारानी को भी इससे देश-निकाले का भय बना रहता है। पद मिल गया तो दो कोड़ी का अँगूठा-छाप नेता उद्घाटन करता है। उसके स्वागत में स्वागत-द्वार बनाये जाते हैं। झंडे फहराये जाते हैं, नारे लगाये जाते हैं। बड़े संभ्रान्त, बड़े विद्वान् हैं ये 'प्यादे से फरज़ी हुए' लोग। प्रतिष्ठा का नाश्ता करते हैं, प्रतिष्ठा की कार में चलते हैं। प्रतिष्ठा ओढ़ते हैं, प्रतिष्ठा बिछाते हैं। जब तक पद है. प्रतिष्ठा दायें-बायें रहती है। पद जाने के बाद गरीबी के रिश्तों की तरह प्रतिष्ठा भी मुँह मोड़ लेती है। जिस दिन पद मिला था, प्रतिष्ठा मादकता के समान आयी थी; पद गया, संज्ञा के समान चली गई, और रह गई शेष—उस महामिलन की कुछ स्मृतियाँ और उतरे हुए नशे की सी एक आकुल तड़प—

> 'मादकता-से आये तुम संज्ञा-से चले गये थे।
> हम व्याकुल पड़े तड़पते थे उतरे हुए नशे-से।।"
>
> (प्रसाद)

और भी रह जाता है एक विवश पश्चात्ताप, एक अक्षय अंधकार का अहसास कि—

> "अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
> बह रही है हृदय पर केवल अमा।"
>
> (निराला)

सबसे अधिक धनवान् हो जाना लोभी की प्रतिष्ठा है। चोरी, चोर की प्रतिष्ठा है। बलात्कार, कामी की प्रतिष्ठा है। कत्ल करना, कातिल की प्रतिष्ठा है। मौन, ज्ञानी की प्रतिष्ठा है। जल्पना, अज्ञानी की प्रतिष्ठा है। भीख माँगना भिखारी की प्रतिष्ठा है—भीख मिलने में थोड़ी देर हो जाए या न मिले तो वह भी बड़बड़ाता हुआ, नाक-भौं सिकोड़ कर जाता है। प्रतिष्ठा हमारे सोच की एक तरंग है। बरसात से गीली, चिकनी गली की मोहनी फिसलन है प्रतिष्ठा। इस फिसलन में दौड़ लगी है।

जबतक पैरों में दम है, तब तक हम फिसलन में ताबड़-तोड़ दौड़ रहे हैं। जिस दिन टाँगें, काँप जाएँगी, उस दिन किसी भी लाठी की टेक हमको गिरने से बचा नहीं पाएगी। प्रतिष्ठा रंगहीन मौत के समान बिल्कुल सच है और रँगीले जीवन की तरह सफेद झूठ भी। इसकी प्राप्ति की चाह हर पल बेचैन बनाये रहती है, प्राप्त होकर सारा सुख-चैन छीन लेती है और चले जाने पर जिन्दा मार जाती है। निन्यानबे का फेर है यह प्रतिष्ठा।

अन्तहीन वही है जो अन्तिम हो जाना चाहता है। बड़ा वही है जिसकी छोटों पर नजर है। अपराजेय वही है जो हार को हार बनाकर अपने गले से लगाता है। गतिशील वही है जिसकी कोरी कल्पना की गति अवरुद्ध हो गई है। सच्चा प्रतिष्ठित वही है जो प्रतिष्ठा-प्राप्ति का प्रयास नहीं करता, जो पद को ठोकर मार देता है, जो किसी की बगलें नहीं झाँकता, किसी के सामने दुम नहीं हिलाता। जिसमें राष्ट्रपति बनने की चाह नहीं वह जबरदस्ती राष्ट्रपिता बना दिया जाता है। सच्चा प्रतिष्ठित व्यक्ति जीते जी नहीं तो मरने के बाद, महावीरचक्र से विभूषित होता है। यश या प्रतिष्ठा वह भोजन है जिसे अधिकांशत: व्यक्ति मरने के बाद ही खाता है। 'फेम इज दी फूड दैट डेड मैन कैन ईट'। कोशिश करके प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला व्यक्ति बड़ा खतरनाक होता है। प्रतिष्ठा पाने के पहले गधे को बाप और पाने के बाद बाप को गधा बताते उसे जरा भी देर नहीं लगती।

आदमी सब कुछ देख सकता है परन्तु अपने साथी, अपने परिचित, अपने पड़ोसी को आगे बढ़ते नहीं देख सकता। वह आगे बढ़ा कि प्रतिष्ठा के पैर उखड़ने लगते हैं। उसकी तारीफ सुन प्रतिष्ठा के मुँह पर तमाचे पड़ते हैं। अपरिचित जगह पर, अपरिचित लोगों ने हाथ-पैर तोड़ डाले तो 'ऐक्सीडेन्ट हो गया' और परिचित छोटे ने नमस्ते नहीं की तो 'देख लूँगा बडा गुमान हो गया है' कह कर प्रतिष्ठा हुंकारती है।

प्रतिष्ठा के शब्द-कोश में गिरना और झुकना दो शब्द नहीं हैं। शून्य की तरह होकर भी यह सदा दसगुना बढ़ती है। न दिखाई देने पर भी यह हवा की तरह कँपाती भी है और झुलसाती भी है। बिना गर्मी की उमस है प्रतिष्ठा। सर्दी की आग की तरह पास भी खींचती है और गर्मी की लपट की तरह दूर भी भगाती है। जोड़ में भी और घटाने में भी यह प्रतिष्ठा हासिल की तरह है, जिसके बिना लगे न जोड़ होता है और न घटाव। विभाजन में भी इसके बिना काम नहीं चलता।

धन की मदिरा पीकर प्रतिष्ठा का नशा बढ़ता है और निर्धनता की खटाई खाते ही उतर जाता है। अहंकार इसकी हँसी है और विषमता इसकी नज़र। गिरने का भय छोड़ आकाश को देखती हुई यही चलती है। पान खाकर पीक ऊपर को यही थूकती है। सूरज को दीपक यही दिखाती है।

एक लखपति बाप अपनी कन्या की शादी करोड़पति के घर में करना ही अपनी प्रतिष्ठा समझता है, चाहे लड़का लोफर हो या लफंगा, और गरीब घराने का

होनहार और गुणवान् लड़का उसकी प्रतिष्ठा में दाग होता है। हरे-भरे चमन में अंगूर लगाये जाते हैं और बंजर-पड़ती-भूमि में कोई खरबूज बोने को भी तैयार नहीं। कोई नहीं समझता कि हरियाली और खिले हुए फूलों ने अपने नीचे की धरती की सारी खुराक को पी लिया है उनकी धरती रसहीन हो गई है। बाहर चमक आ रही है भीतर ऊसर पनप रहा है। पर विसंगति यही है कि हमने बंजरों से आँखें फेर रखी हैं।

प्रतिष्ठा की आँख जब सामने देखती है, तो टार्च की तरह उसकी रोशनी दूर और ऊपर ही अधिक फैलती है अर्थात् छोटों की उपेक्षा कर बड़ों और अपने समकक्षों को ही देखना पसन्द करती है। क्योंकि ताड़ों और खजूरों पर नज़र जल्दी टिकती है, छोटे करील कुंज, गुलाब ओझल हो जाते हैं। सौ मीटर का पैमाना हर चीज को नहीं नाप सकता, छोटे पैमाने से सारा विश्व नापा जा सकता है। बावन अंगुल के भगवान् ने तीनों लोकों को तीन डग में नाप लिया था। सबसे छोटा हो जाना ही सबसे बड़े की परिभाषा है, परन्तु हम सब कुछ हो जाना चाहते हैं, बस छोटा होना स्वीकार नहीं। यदि छोटे बन गये, छोटों के सामने अपनी गलती स्वीकार कर ली तो प्रतिष्ठा धूल में मिल गई।

बिना ताज की बादशाहत है यह प्रतिष्ठा। मैंड़की को भी इसे पाकर जुकाम हो जाता है। जब तक प्रतिष्ठा की पगड़ी बँधी है, तब तक आदमी अपने सामने किसी को नहीं गिनता और पगड़ी उतर जाने पर तो "हम हमकरि धन-धाम सँवारे अंत चले उठि रीते।"

एक तोता है, सेंवल के फूल के चटक रंग पर मुग्ध होकर उसके पास जाता है। चोंच मारता है, परन्तु सब बेकार। वहाँ तो न रस है, न मिठास, फप्पस है रुई की तरह। तब पता चलता है कि सब व्यर्थ है, चमक में कुछ नहीं। किन्तु यह तथाकथित प्रतिष्ठा न तो सेंवल का फूल है और न कागज का ही। सिर्फ, एक काल्पनिक फूल होने का आभास मात्र है। □

७. 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया:'

भारतीय संस्कृति के महा आदर्श, इन दोनों वाक्यों की, जीवन और जगत् में सार्थकता स्पष्ट करने के लिए कई उपमाएँ उतरती हैं—जैसे देवता, मन्दिर, चन्द्रमा और रामायण।

देवता कहीं हैं नहीं, होते नहीं और कोई मनुष्य देवता नहीं होता। यह श्रेणी ही अलग है। एक पूज्य और मिथकीय भावना का नाम है देवता, जो कभी कभार ही मन में आती है. फिर विलीन हो जाती है।

देवताओं से ही जुड़ा हुआ इनका आलय है मन्दिर, सिर्फ हाथ जोड़कर सिर झुकाने के लिए, पूजा और मनौतियों के लिए, कामनाओं और इच्छा-पूर्ति की दुआएँ माँगने के लिए। सहज भाव में जिसने न कभी किसी को अशन दिया है और न वसन।

दूर से चंदन के लेप जैसी चाँदनी देने वाला चंद्रमा अगम्य तो नहीं, दुर्गम अवश्य है। सिर हथेली पर रख यदि कोई उस पर पहुँच भी जाए तो न वह जीवन दे सकता है, न जल, न भोजन, न निवास। सिर्फ कवियों के द्वारा रूप की उपमाओं को पुष्ट करता है।

चौथा उपमान है रामायण (या कोई भी धर्म-ग्रंथ)—एक पवित्र लाल कपड़े में लिपटी हुई अति आदर्श पोथी, जो बाँचकर फिर उसी कपड़े में लपेटकर किसी सुरक्षित-गुप्त स्थान पर रख दी जाती है। जीवन में कम उतरती है और दृष्टान्तों में अधिक।

ठीक इन्हीं चारों की तरह हैं उपर्युक्त दोनों वाक्य। अति पवित्र, अति मंगलमय, अति आदर्श प्रधान!! यह बहुत ऊँची शुभ कामनाओं से युक्त विचार हैं कि 'सभी सुखी हों', 'सभी नीरोग हों', परन्तु सवाल यह है कि इस आपाधापी के युग में यह विचार उठता किसके मन में है? क्या कोई दुःखों द्वारा झिझोड़ा हुआ व्यक्ति चाहता है कि सभी सुखी हों या कोई सुख-सुविधाओं में जीने वाला? क्या सभी के दुःखों का इलाज करने के लिए अस्पताल खोलकर बैठा हुआ चिकित्सक चाहता है कि वास्तव में सभी सुखी और नीरोग रहें अथवा सब सताए हुओं को उचित न्याय दिलाने वाले वकील और पुलिस कर्मी? क्या शासक और राजनेता इस मार्ग पर चलते हैं अथवा अध्यात्म में डूबे हुए संत-महात्मा?

दूसरा मुख्य प्रश्न उठता है इन दोनों वाक्यों की मुख्य क्रियाओं 'भवन्तु' और

'सन्तु' की अन्तर्ध्वनि का ! इन दोनों का ही अर्थ है 'हों' अर्थात् 'सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों'। यहाँ विचारणीय है कि क्या कभी ऐसा हुआ है ? या हो सकता है ? "मनोरथानामगतिर्न विद्यते।" (कालिदास, कुमारसंभव) कल्पना की उड़ान की कोई सीमा नहीं। क्या बैठे-बैठे सोचने या कामना करने से कभी कुछ घटित और प्रतिफलित हुआ है ? यदि हुआ होता तो इस सत्य-सिद्ध सिद्धान्त की उपयोगिता ही समाप्त हो गई होती कि 'उद्यमेन हि सिद्धन्ति कार्याणि न मनोरथैः' कि हर कार्य उद्यम करने से ही सिद्ध होता है, सिर्फ सोचने से नहीं।

उक्त दोनों वाक्य आशीर्वादात्मक हैं या इच्छामूलक हैं। आशीर्वाद सेवा और सत्कार के बदले मिलता है या दिया जाता है और इसके पीछे सुख की रक्षा और दुःख से रक्षा की मंगल कामना काम करती है। सुखों की कामना तो दुःखों की अति के बाद ही पैदा हुई होगी। जिस ऋषि के अन्तस्तल से ये वाक्य निकले होंगे, उसने या तो इस संसार में दुःख, दैन्य, भुखमरी, महामारी और उत्पीड़न का तांडव देखा होगा, अथवा वह स्वयं दुःखी, पीड़ित और सताया हुआ होगा। तब उसका हृदय विश्वव्यापी करुणा ने झकझोरा होगा और यह वाणी फूट पड़ी होगी कि 'सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों।

क्योंकि व्यक्ति जब तक स्वयं दुःखी नहीं होता, तब तक उसके मन में न तो दूसरों के दुःख की अनुभूति होती है और न दूसरों के सुख की कामना ही जगती है। "जाके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई।" और पराई पीर का अनुभव करके भी व्यक्ति पहले अपनी ही पीड़ा को दूर करने का प्रयास करता है, यदि दूसरों के दुःख-दमन का प्रयास करता भी है तो वे उसके अपने सगे संबन्धी होते हैं, अपने से तनिक हटे पड़ौसी भी नहीं। बाहर सुख की कामना या दूसरों के सुख की भावना प्रकारान्तर से अपने ही दुःख को भुलाने का बहाना है।

कामना से काम नहीं चलता, प्रयत्न आवश्यक है। दूसरों को सुखी और निरामय करने के लिए उद्यत होते ही, अपने ऊपर दुःखों, झंझटों और अभावों के बादल घिरने शुरू हो जाते हैं। जो दूसरों को छाया में बैठने के लिए छप्पर बनाता है, पहले उसी को अपने सिर पर धूप झेलनी पड़ती है। तो पहले, इस धूप ताप को सहने की स्वयं तैयारी करनी होगी। फिर है महनत-मजदूरी की बात, क्योंकि बिना मिलने की आशा के आदमी देता नहीं—चाहे धन हो और चाहे श्रम ! अब इस मिलने न मिलने की बात को भी ताख पर रखना होगा। यानी ओखली में सिर देने के लिए मूसल के भय को मन से निकालना होगा। तब कहीं पराये सुख की कामना को सार्थक कहा जा सकता है। पराये घर में लगी आग दूर खड़े होकर हो-हल्ला करने से या ईश्वर से दुआएँ माँगने से नहीं बुझती। उसके लिए अपने आप को झुलसाना पड़ता है, पसीना बहा-बहाकर पानी फैंकना पड़ता है। तात्पर्य यह कि दूसरों को सुखी बनाने का कार्य कबीर की खाला का घर नहीं है, यह तो उस प्रेम का घर है, जिसमें पैठने के लिए अपना समूचा बलिदान देना पड़ता है।

ऐसा तो कोई बुद्ध के धरातल पर पहुँचा हुआ ही कर सकता है जो दुःखी, रुग्ण और जर्जर को देख अपने सुखों में आग लगाकर दुःखों की भट्टी में कूद गया होगा—दुनिया को ताप से बचाने के लिए, शीतलता प्रदान करने के लिए। अन्यथा शुभ कामनाएँ और आशीर्वाद देनेवालों की यहाँ कमी नहीं है—'चढ़ जा बेटा शूली पर भला करेंगे राम।'

गुलामी की चक्की में पिसते हुए भारत को आजाद करने की कामना जब प्रयास में बदली तब गांधीजी और उनके पूर्व कितने वीर शहीद हो गये तभी भारत स्वतन्त्र हुआ।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो व्यक्ति एक निश्चित और बँधे-बँधाये दायरे में फैली हुई इकाई है। अपने सगे सम्बन्धियों तक ही उसके सुख-दुःख की भावना का प्रसार है। जब उनके दुःख से दुःखी होता है, तभी सुख की कामना उसके अन्तर से उठकर बाहर फैलती है। रोज कितने लोग बीमारियों से मर जाते हैं, पानी में डूब जाते हैं, दुर्घटनाओं और आतंकवादियों की गोलियों से हज़ारों घर उजड़ जाते हैं। यह सब देख सुनकर हम एक क्षणिक संवेदना से अभिभूत हुए दिखायी देते हैं परन्तु हमारे हृदय में पत्थर की लकीर के समान न तो उनके दुःख की टीस उठती है और न उनको सुखी बनाने की हार्दिक तड़प। यदि उन मरने वालों में कोई अपना नहीं है तो अपने आराम में कोई खलल नहीं पड़ता।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' भावना की जड़ें, हमारे समाज के विभिन्न प्रकार के लोगों में कितनी गहराई से जमी हुई हैं, यह अलग-अलग देखना आवश्यक है। पहले दुःखी और बीमार को लिया जाए। एक दुःखी और बीमार आदमी के मन में अपने आस-पास फैले परिचित संसार को सुखी और प्रसन्न देखने की कामना रहती है। इस कामना के पीछे मूलतः तो उसके अपने मनोरंजन अपनी सेवा टहल की भावना होती है। क्योंकि यदि सारा ही घर बीमार हो जाए, तो परस्पर कौन देखभाल करे? यदि दुःखी, चिन्तित और हताश व्यक्ति कहीं बाहर भी निकलता है, तब भी उसके मन में यही भावना होती है कि वह जहाँ और जिसके पास जाए, वहाँ का वातावरण सुखी और आनन्दमय मिले, ताकि उसके रुग्ण चित्त को प्रसन्नता की औषध मिल सके। इसके विपरीत, वह जहाँ गया, यदि वहाँ भी वातावरण शोक-शंकुल ही मिला तो ऐसा लगता है जैसे भाड़ में से निकल भट्टी में आ गये।

अपनों से अलग, दूसरों के साथ दुःख-दैन्य की भावनाएँ समानता के सिद्धान्त से संतुष्ट होती हैं। जैसे दो बीमार या निर्धन पड़ौसियों में एक के ठीक होने या ऊपर उठने से दूसरे के मन में कुढ़न और जलन पैदा होती है और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की व्याप्ति संकीर्ण हो जाती है।

समाज का दूसरा वर्ग है सुखी-सम्पन्न और इसके मन में दूसरों को सुखी देखने की भावना मुश्किल से पाँच प्रतिशत ही कही जा सकती है। एक धनवान् अपने

चारों ओर फैली गरीबी को देखकर ही मुग्ध रहता है। एक पड़ौसी की जोड़े की दबी-दबी खिलखिलाहट उस समय देखने योग्य होती है, जिस समय उनके पड़ौसियों में कलह हो रही हो। जिस दिन पड़ौस में कोई मृत्यु हो गई हो, उस दिन अपनों से एक विशेष मोह और लगाव पैदा होता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर मौत को देखकर ही जिन्दगी का लालच पैदा होता है, और हँसती मुसकराती जिन्दगी को देखकर रोग के मन में सदा ईर्ष्या पैदा होती है। दूसरों को छलकर सुखी होने की वृत्ति ने सदा से नरक, पाप, अधर्म निर्मित किये हैं।

यदि सुखी व्यक्ति के मन में दूसरों के सुख की पाँच प्रतिशत कामना होती भी है तो सिर्फ इसलिए कि दूसरों के दुःख के कारण कहीं उसके सुख पर कोई आँच न आ जाए; कोई बेरोजगार आश्रित उसके गले न मढ़ जाए। वह इसलिए भगवान् से सबको सद्बुद्धि की कामना करता है कि कहीं उसे किसी के लिए दौड़ भाग और माथा-पच्ची न करनी पड़ जाए। वह इसलिए सबको अपने पैरों पर खड़े होने का उपदेश देता है कि कहीं किसी का बोझ उसे उठाना न पड़ जाए। प्रकारान्तर से इन सबके पीछे दूसरों को सुखी बनाने की अपेक्षा अपने सुख की रक्षा का भाव ही प्रमुख है।

एक स्वस्थ व्यक्ति के आस-पास जब रोगियों का वास होता है, तब उसकी साँस फूलने लगती है, जी घबराने लगता है और वह अपने स्वास्थ्य को बचाने के लिए कामना करता है कि 'सर्वे सन्तु निरामयाः' उसकी इस चाहत में दूसरों को दुःखी देखकर उनके नीरोग होने की कामना अपने आपको बीमार होने से बचाने के कारण भी है, क्योंकि रोगियों की चीख-पुकार में स्वस्थ व्यक्ति का खाना-पीना-सोना सब हराम हो जाता है; दवाई-गोली के लिए दौड़ भाग करनी पड़ती है; धन खर्च करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि वह आरोग्य की कामना करता भी है तो अधिकतर अपने ही रोगी के लिए। अपने रोगी को अस्पताल से छुट्टी दिलाकर फिर भूल कर भी अस्पताल की ओर मुँह नहीं करता। कौन मरा कौन जीया? फिर यह सोचने की भी जरूरत नहीं समझता।

एक डाक्टर का सबसे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण दिन वह होता है, जिस दिन उसके पास कोई मरीज न आए। महीना-दो महीना तक यदि उसके आस-पास हर्षोल्लास का वातावरण बना रहे तो डाक्टर स्वयं मरीज हो जाए। उसकी आँखें सदा दुनिया को सिसकती–कराहती देखकर ही चैन पाती हैं और मन 'सर्वे भवन्तु दुखिनः' की कामना करता है। कहीं पराया दुःख भी आनन्द का कारण बनता है और पराया सुख विवाद का।

यदि सारे देश के गाँवों और शहरों में चोरी, डकैती, हत्या, फौजदारी और बटवारों के झगड़े समाप्त हो जाएँ और सर्वत्र प्रेम, भाईचारा तथा शान्ति स्थापित हो जाए तो जरा वकीलों और पुलिस वालों के सीनों पर हाथ रखकर देखिए कि इस सुखी-सानन्द वातावरण से वे कैसा आनन्दोत्सव मनाते हैं? शान्ति, सुरक्षा और

न्याय वस्तुतः अशान्ति, असुरक्षा और अन्याय की खुराक खाकर ही पुष्ट होते हैं।

सच्चाई यह है कि न तो कभी ऐसा हुआ है और न होगा कि सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों और मान लें कि यदि ऐसा हो भी जाए तो फिर यह मानव संसार, दानव संसार हो जाएगा—क्योंकि सुखों ने राम नहीं सदा रावण पैदा किये हैं। जहाँ सुख ही सुख होंगे वहाँ कुकर्म, अधर्म और विलासिता का राज्य होगा। सुखों ने सदा मनुष्य को गिराया है और दुःखों ने उठना सिखाया है। दुःखों ने करुणा को जन्मा है, दुःखों ने अहिंसा और सत्य को जन्म दिया है। दुःखों ने प्रेम और बंधुत्व का पाठ पढ़ाया है और दुःख ने भगवान् को पैदा किया है। दुःख ही सुख की कसौटी है। बिना दुःख के सुख की कोई पहचान नहीं।

बिना दुःख के सब सुख निस्सार। बिना आँसू के जीवन भार।।

जीवन की बगिया का एक ही रूप-रंग कब तक नवीनता देगा? फल-फूल देखने हैं तो काँटों को भी नहीं भूलना होगा। कोयलों की कूक प्यारी है तो कौओं को भी सराहना होगा क्योंकि कोई कौआ ही कोयल को तैयार करता है। छाया को ही नहीं, धूप के रूप को भी अपने ऊपर ओढ़ना होगा क्योंकि—

"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।।"

सर्दियों की धूप प्यारी है तो गर्मियों की छाया! सावन की वर्षा जीवन दायिनी है, तो चैत-बैसाख की सूखा। अपने और पराये की पहचान के लिए थोड़ी विपत्ति भी आवश्यक है, तो स्वाभिमान की रक्षा के लिए थोड़ी सम्पत्ति भी। अच्छे स्वास्थ्य के लिए कभी–कभार बुखार और जुकाम भी अनिवार्य है। सुख-दुःख की आँख-मिचौनी से ही जीवन का खेल सरस होगा जैसे कभी चन्दा छिप जाए बदली से कभी बदली छिप जाए चन्दा से :

"कभी घन में ओझल हो शशि कभी शशि में ओझल हो घन।
सुख–दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।।"

—(पन्त जी)

□

८. प्रतिशोध

वैर की पर्त में क्रोध और क्रोध की पर्त में प्रतिशोध या बदले का भाव छिपा रहता है। प्रतिशोध क्रोध का क्रियात्मक रूप है। अपमान की आग में सुलगते हुए पराजित व्यक्ति का छल-बल, नीति-अनीति आदि किसी भी उचित-अनुचित तरीके से, अपने प्रतिपक्षी को तहस-नहस कर डालने का प्रचण्ड मनोभाव बदला या प्रतिशोध होता है। यह भाव जब क्रियात्मक रूप लेता है तो बाहर के संसार में अराजकता फैलती है। अर्थात् बदले का भाव ही हत्या, लूट, चोरी, आगजनी, तोड़–फोड़ साम्प्रदायिकता और भेद-भाव आदि को बढ़ावा देता है—और जब क्रियात्मक रूप में बदला नहीं आ पाता, तो भीतर उठा-पटक होती है, अर्थात् तनाव, आक्रोश, क्षोभ, विद्वेप, घृणा आदि विकार अवचेतन में समा जाते हैं, जो मनुष्य की बुद्धि, विवेक, दया, प्रेम आदि शाश्वत मूल्यों का हनन कर डालते हैं। इन दोनों ही रूपों के बीच में घिरा हुआ मनुष्य, उस लकड़ी के मध्य फँसे हुए घुन के समान होता है, जिसके दोनों सिरों पर आग लगी हुई हो।

कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षी से लेकर मनुष्य तक सबमें यह बदले का भाव छिपा रहता है, परन्तु इस प्रतिशोध की आँधी का वेग सबल की अपेक्षा निर्बल में अधिक होता है और इस आँधी का जोर तब तक बना रहता है, जब तक कि दूसरी ओर के तूफान का पता नहीं चलता। पता चल जाने पर आँधी, तूफान के सामने विलीन हो जाती है। मतलब यह कि कमजोर आदमी बदला लेने के लिए तभी तक झपटता, बल-बलाता और तुराता है, जब तक कि सबल प्रतिपक्षी शान्त रहता है। सबल द्वारा जवाबी कार्रवाई के लिए तैयार होते ही निर्बल के प्रतिशोध का भाव पश्चात्ताप में बदल जाता है, कायरता बन जाता है और उसे पलायनवादी बना देता है।

कमजोर के भीतर तेवर बदलती हुई 'प्रतिशोध' की भावना का नंगा-नाच देखने योग्य होता है। जो बाहर कुछ नहीं कर पाता, वह अपने भीतर दूसरों के बिगाड़ की सोचता रहता है और यह सोचते-सोचते ही स्वयं मटियामेट हो जाता है, न दूसरों का कुछ बिगाड़ पाता है और न अपना कुछ बना पाता है।

सबल के सम्मुख निर्बल का प्रतिशोध मुखर नहीं हो पाता। भीतर गाली बकता है, पर बाहर जबडे भिंचे रहते हैं। भीतर आक्रोश से उबलता है, बाहर भय से काँपता है। भीतर षड्यन्त्र के जाल बुनता है, बाहर प्रेम प्रदर्शित करता है। पैरों से एक इंच भी नहीं चलता, पर उसके मन की दौड़ बहुत तेज होती है।

घर में घूम-घूमकर ही कल्पना के हथियार से, सैकड़ों मील दूर हत्या तक कर डालता है ।

प्रतिशोध के अंगारे से द्रोह की लपटें निकलती हैं और इन लपटों ने मनुष्यता को जलाया है, घर परिवार और देशों को फूँका है । इन लपटों के बीच से द्रौपदी और धृष्टद्युम्न भी पैदा हुए हैं और जयचन्द या मीर जाफ़र भी ।

प्रतिशोध की यह आग ऐसी है, जो जलाती नहीं, सुलगाती है । तपाती नहीं, काला करती है । उस पानी के समान है, जो शीतलता नहीं देता—भीतर तेजाब की तरह फूँक देता है । उस फूल के समान है, जिसकी पंखुड़ियों से गन्धों के राग पराग नहीं उड़ते, आग की चिनगारियाँ झड़ती हैं । हिमालय की वह हिम ओढ़ी चोटी है, जहाँ लू के प्रचण्ड थपेड़े पड़ते हैं ।

हर घर में चाकू, छुरी से लेकर बन्दूक तक को छिपाए रखना, हर देश का परमाणु अस्त्रों की होड़ में अरबों रुपये बर्बाद करना, इधर शान्ति के नारे, उधर सेना और पुलिस की भर्ती । उधर गुटनिरपेक्ष सम्मेलन, इधर अपनी विधानसभा और संसद में रोज दसियों पार्टियों और गुटों की छीना-झपटी आखिर इस सबके पीछे क्या है ?

बदले की भावना पैदा होते ही सब कुछ बदल जाता है । कथनी और करनी बदल जाती है । भाव और विचार बदल जाते हैं । दृष्टि और सृष्टि बदल जाती है और यह संसार भीतर की दृष्टि का ही बदला हुआ रूप है । दृष्टि के बदलते ही शत्रु और मित्र खड़े हो जाते हैं । भाव के बदलते ही राग और विराग के रंग खिल जाते हैं । वृत्ति और प्रवृत्ति बदलते ही शुभ और अशुभ निर्मित होने लगते हैं ।

किसी के पास हम जो लेकर जाते हैं बदले में हमें वही मिलता है । फूल लेकर जाएँगे बदले में फूल मिलेंगे । क्रोध लेकर जाएँगे बदले में घृणा और वैर मिलेंगे । प्रेम का भाव लेकर गये हुए व्यक्ति को बदले में गाली और अपशब्द नहीं मिल सकते । प्रणाम के बदले आशीर्वाद और कृपा मिलती है तथा आशीर्वाद और कृपा के बदले श्रद्धा । बदला समान प्रतिक्रिया है ।

विश्व की हर भाषा में 'ईंट का जवाब पत्थर' या 'जैसे को तैसा' आदि समानार्थी मुहावरों की उत्पत्ति निरपवाद रूप से प्रतिशोध से ही हुई है । इसके विपरीत भी चाहे हिंसा का जवाब अहिंसा से दिया जाए या एक गाल पर लगे थप्पड़ के जवाब में दूसरा गाल भी पेश कर दिया जाए । चाहे वैर का प्रेम से या शत्रुता का उत्तर मित्रता से दिया जाए—पर है यह बदले के भाव का ही खेल !

क्योंकि परस्पर विरोधी दिखायी देने वाले इन भावों में मूलतः जनक-जन्य सम्बन्ध है । मित्रता की कोख से शत्रुता जन्म लेती है और शत्रुता के गर्भ से कालान्तर में मित्रता पैदा होती है । वैर प्रेम का पुत्र है और प्रेम वैर का आत्मज ! एक अपना काम करता है दूसरा पर्दे के पीछे आराम करता है । इन दोनों से ऊपर

उठे हुए वीतरागी में ही बदले का भाव नहीं होता। उसे कोई गाली दे या उसकी प्रशंसा करे, यह सब उसके लिए शब्दों की खिलवाड़ है—जिसे वह तटस्थ बनकर देखता है।

वह देखता है कि **प्रतिशोध की भावना** मानवता की **जड़ों को किस प्रकार हिलाकर रख देती है। फलते-फूलते नगरों को हिरोशिमा और नागासाकी बना देती है। हरे-भरे उद्यानों को तपती हुई भट्ठी में बदल देती है। भाई के हाथों भाई की हत्या करा देती है। पुत्र के द्वारा पिता को जेलखाने में सड़ा देती है। पंजाब के गले को इसी के पंजे ने दबा रखा है। असम को विषम बनाने पर यही तुली हुई है। श्रीलंका और इराक-ईरान को वीरान करने पर यही आमादा है। कभी चीन का हाथ नैपाल की पीठ पर रख उसे खाई में ढकेलने के मंसूबे बनाती है तो कभी अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को। अपने हाथों को पीछे रख सदा दूसरे हाथों को इस्तेमाल करना इसका स्वभाव है।**

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' जैसे उच्च उद्देश्यों के लिए प्रतिशोध लेना विनाशकारी नहीं, मंगलकारी होता है। प्रतिशोध के लिए ही राम और कृष्ण का अवतार हुआ। इसी कारण बुद्ध और महावीर आए। प्रतिशोध ने ही भारत को गुलामी दी, तो इसी ने आजाद भी कराया।

छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति एवं द्रोह से उत्पन्न प्रतिशोध लेने वाले की पहचान कुछ अलग ही होती है। इसके कारण आदमी खौलता है। व्यग्र होता है। अकेले-अकेले उछलता है। सपनों में शत्रु दिखायी देता है। चीखता है पर किसी की सीख नहीं मानता—और यह ऊँट की बलबलाहट तब तक चलती है, जब तक कि वह पहाड़ के नीचे से नहीं निकलता।

कढ़ाई में खौल जाने के बाद जब तेल की झक निकल जाती है, तब कड़वाहट अपने आप समाप्त हो जाती है। प्रतिशोध की भावना भी इसी प्रकार कुछ उल्टा-सीधा कर डालने के उपरान्त ही कम होती है, भले ही वह उल्टा-सीधा प्रतिपक्षी के साथ न होकर अपनों के ही साथ क्यों न हो। जैसे बाहर से दबकर और मार खाकर आये हुए घर के तीस मार खाँ की प्रतिशोधाग्नि अपने बीवी-बच्चों की कीफत करने या धुनाई करने के बाद राहत पाती है। घुड़के हुए बनिया की प्रतिशोध की आग बाँट-तराजू फेंक-फेंक कर ठण्डी पड़ती है। चिढ़ी हुई स्त्री की बदले की ज्वाला खूब रोलेने के बाद, बच्चों को मार लेने के बाद या बर्तन–भाँड़े पटक लेने के बाद बुझती है।

कवि और लेखक की यह भावना अपने उफनते मनोवेगों को अभिव्यक्ति का रूप दे देने के बाद उपशमित होती है। जिनके पास न बुद्धि-बल है और न शरीर-बल उन बिल्लियों की बदले की भावना खम्भा नोंचकर ही संतोष पाती है। शोषित, पीड़ित, अति दुर्बल व्यक्ति की प्रतिशोधाग्नि अपनी 'हाय' से ही लोहे को भी भस्म करने की सामर्थ्य रखती है।

बदला लेनेवाला व्यक्ति अनेक भाषाओं में बहुत जल्दी पारंगत हो जाता है जैसे कातिलों की भाषा, चोरों की भाषा, वकीलों की भाषा, राजनीति की कूट भाषा, थाने की भाषा, जेलखाने की भाषा, संविधान की भाषा आदि और तुरन्त इनका व्यवहार करना भी आरम्भ कर देता है। अर्थात् बदला लेने के लिए एक कमजोर व्यक्ति भी अपने प्रतिपक्षी की हत्या कराने की तरकीबें जान जाता है। चोरों का आचरण और चोरी के विभिन्न गुल सीख जाता है। वकीलों के तर्क और दफाओं के बाल की खाल उधेड़ना भी आरम्भ कर देता है। कूटनीति की चाल में चलने लगता है। थाने में पहुँचकर किस तरह सत्य को झूठ और झूठ को सत्य में बदला जाता है, कोई प्रतिशोधार्थी से सीखे। अपने आप चाकू से खरोंचें मारकर दूसरों के ऊपर किस प्रकार हत्या के प्रयास की रपट लिखायी जाती है, कोई उससे जान ले।

प्रतिशोधार्थी की आँखें सदैव अपने शत्रु के शत्रु की तलाश में रहती हैं।

बदला ले लेना तो घातक है ही, उससे अधिक आत्मघाती है बदले के भाव को भीतर पाले रहना और सींचते रहना। बाहर से बदला लेने वालों को कालान्तर में पश्चात्ताप से सुलह करते पाया गया है— किन्तु भीतर शून्य हृदय में डेरा डाले' हुए इस 'झंझा झकोर गर्जन' का कोई उपचार नहीं। यह तो ऐसा जहरबाद है, जो खून को विष बना देता है। अपने आप निगला हुआ वह मछली का काँटा है, जो कभी-कभी जान भी ले लेता है। एक ऐसा चट्टानी धरातल है, जिसमें घुटनों तक पैर धँस जाते हैं। अथवा यों कहें कि बदले की भावना को पाले रहने से या किसी न किसी प्रकार बदला लेने से मनुष्य सफलता को छूलेगा तो मन को समझाने के लिए यह ख़याल अच्छा है, परन्तु वास्तव में ऐसी सफलता में असफलता की ही अनुगूँज सुनाई देती है।

किसी भी वस्तु, स्थिति और भाव को आदमी बहुत समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। न सत्य को न झूठ को। न प्रेम को न वैर को—और हर भाव की परिणति अपने प्रतिकूल भाव में हुआ करती है। बदला जब हद से गुजरता है तो समझौता बन जाता है। अर्थात् प्रतिशोध के पीछे समझौता खड़ा रहता है। जितनी जल्दी समझौता सामने आना चाहता है, उतनी ही तीव्रता से वह बदले की क्रियाओं को धक्का देकर आगे ठेलता है और बदले की भावनाएँ जितनी ही प्रचण्ड होती जाती हैं, उतनी ही तीव्रता से बदला लेने वाला उबलता है, झपटता है, मारपीट होती है, सिर भी पिटते हैं और घर भी लुटते हैं, मुकदमे चलते हैं, बच्चे दाने-दाने को मुँहताज हो जाते हैं। आखिर अक्ल ठोकर लगने के बाद आ ही जाती है। अपने किये पर दोनों पक्षों की पश्चात्ताप में सिर धुनाई होती है। फलतः क्रोध की परिणति पश्चात्ताप मय प्रेम में और प्रतिशोध की परिणति समझौता में होती है—और प्रतिशोध एक दृष्टान्त छोड़ जाता है—महाभारत का!! कभी ज्वालाओं ने अपना ताण्डव दिखाया था! राख के ढेर और बचे हुए खंडहर प्रमाण हैं।

यह देखते-सुनते सदियाँ बीत गईं पर महाभारत मिटता नहीं, 'बदला' बदलता नहीं। हर घर में है—हर मन में है। मन से मिटे, तो घर से, परिवार से, देश और विश्व से मिट जाए यह प्रतिशोध। तभी विश्व प्रेम और विश्व शान्ति बरसेगी—मानवता सरसेगी। इसके लिए एक ही उपाय है—अपने भीतर पनपे क्रूर और हिंसक तत्त्वों के विरोध में खड़े हो जाना। यह मार्ग दुर्गम है—अपने आपको ही जीतना और अपने आपको ही परास्त करना है। भगवान बुद्ध कह गये हैं कि संग्राम में एक आदमी हजार को जीत सकता है, परन्तु जिसने अपने आपको जीत लिया, उसने सारा संसार जीत लिया।

'यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं सब्वे संगाम जुत्तमो ।। (धम्म पद १०३)

□

९. उपाधि

उपाधि शब्द कई प्रकार की अर्थच्छवियाँ छोड़ता हुआ हमारे सामने से गुजरता है, जैसे—

१—उपाधि = पदवी, डिग्री, सरनाम, उपनाम आदि। उप + आ + धा + कि = उपाधि = पदवी, अलंकरण।

२—उप + आधि = उपाधि, 'आधि' अर्थात् मानसिक बीमारी, निकट आयी हुई 'आधि'। लड़ाई, झगड़ा आदि।

जैसे शब्द की मूल धातु में उपसर्ग, परसर्ग, प्रत्यय आदि जोड़ देने से शब्द का समूचा अर्थ बदल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के नाम के साथ जुड़कर यह 'उपाधि' उसके अर्थ और स्वभाव को बदल देती है। अर्थ बदलने का अर्थ उत्कर्ष भी होता है और अपकर्ष भी—पर वह नहीं रहता, जो मूलतः था।

जो पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है या जिसकी महत्ता का अनुभव कर उत्कृष्ट शब्द बना है या जिससे कोई ऊँचा नहीं, कोई महान् नहीं वह तो निरुपाधि है। उसका कोई 'रूपरेखगुन जाति' नहीं। उपाधि उससे भूषित होती है, वह उपाधि से नहीं परन्तु जो कभी पूर्ण नहीं हो सकता, सर्वोत्कृष्ट नहीं हो सकता—वह उपाधि से ही अपने आपको महान् सिद्ध करना चाहता है। उपाधि के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देता है।

कुल मिलाकर उपाधि दो प्रकार के मनुष्य निर्मित करती है—पहले 'यथा नाम तथा गुण' वाली श्रेणी में आते हैं, जिनका पैमाना है 'भरतहि होइ न राज-मद विधि हरिहर पद पाइ'—और दूसरे 'ऊँची दुकान और फीका पकवान या नाम बड़े और करतब थोरे' वाली श्रेणी में, जिनके लिए रहीम कह गये हैं कि 'प्यादे सों फरजी भयो टेढ़ो-टेढ़ो जाय।' पहली श्रेणी वालों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं। वे तो धरती के नमक हैं। उपाधि उनका भूषण नहीं, वे उपाधि के भूषण हैं। दूसरी श्रेणी पर उपाधि अपना क्या जादू छोड़ती है, यही देखना है।

उपाधि मिलने से एक क्षण पूर्व का आदमी उपाधि मिलने के दूसरे क्षण ही बूंद से सागर हो जाता है। तृण से पहाड़ हो जाता है। कण मन में बदल जाता है। दृष्टि उन ऊँचाइयों पर चढ़ जाती है जहाँ खड़े होकर देखने से उपाधि रहित सब लोग बौने दिखाई देते हैं।

उपाधि आदमी को 'इनसान' तो नहीं रहने देती—देवता भी नहीं बनने देती। **व्यक्ति से महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व बनने की छलांग है उपाधि। कागज के फूल द्वारा सुगन्ध को ओढ़ने की जिज्ञासा उपाधि है।** वचनों में सिर्फ दिखाने के लिए तो अपने आपको 'नाचीज़, अल्पज्ञ और 'ज़र्रानवाज़ी' वाली बातें करती है उपाधि; किन्तु अव्यक्त भावनाओं में सर्वज्ञ और सर्वोच्च होती है। निजी स्वजनों द्वारा उपाधि सहित नाम बोलने पर शर्माती है और दूसरे परिचितों द्वारा न लगाये जाने पर भीतर फूँकारने लगती है। **मान और अपमान के अंकुरों को तीव्रगति से पल्लवित करने के लिए उच्चकोटि के खाद का काम करती है यह उपाधि।**

उपाधि अपने ही स्वभाव और स्वरूप के साथ एक धोखा है, एक छल है। आत्म प्रवंचना की जीवन्त भावात्मक संज्ञा है। भीतर की कुरूपता को ढकने का आवरण है। बीमारी के निकट जो इसका अर्थ है वह बिलकुल ठीक है क्योंकि जिसके निकट यह आ गई, उसे गिराती है। फालतू कर देती है। बेमानी बना देती है। बड़े ढोल की गूँजती हुई पोल है यह उपाधि।

उपाधि धारण करने के बाद आदमी तो वह पहला ही रहता है। वही पुराने कान, नाक, चेहरा-मुहरा, लम्बाई-चौड़ाई, पर उसकी आदमियत एकदम बदल जाती है। जैसे बालू में चीनी मिला देने से बालू चीनी नहीं बन जाती। दुनिया उसको बालू ही समझती है, पर बालू चिल्लाती है कि अब मैं बालू नहीं रही—चीनी हो गई हूँ। मुझे चीनी कह कर पुकारो। हर पदार्थ में मेरी चासनी चढ़ाओ। अब मेरे बिना दुनिया के सब रस फीके हैं। **गोया कि अमावस के मन में छिपी हुई, पूनम बनने की मानसिक अर्ज है यह उपाधि।**

उपाधि एक आत्मघाती 'आधि' है। व्याधि का उपचार तो सम्भव है पर इस आधि का कोई उपचार नहीं। यह ऐसा मर्ज है जो मरीज को नहीं लगता, अपितु मरीज स्वयं मर्ज को लगता है। मरीज बनने के लिए आदमी व्याकुल होता है। इधर-उधर हाथ पैर मारता है। सोर्स सिफारिश लगाता है—और जब इस बीमारी को धारण कर लेता है तो पार्टियाँ देता है, खुशियों के दीप जलाता है, **इसे धारण करते ही आदमी में अहंकार की तिजारी चढ़ जाती है। मौन अपेक्षाओं की प्यास (जूड़ी के बुखार में बार-बार लगने वाली प्यास) बढ़ जाती है।**

आधि और व्याधि दोनों का बीज रूप दिखाई देती है यह उपाधि। व्याधियों में यह 'राजयक्ष्या' के समान है। जब तक यह नहीं होती. तब तक आदमी का हृदय बेदाग रहता है। चाहतों की लम्बी सूची उसके पास नहीं होती। संतोष उसका परम धन होता है। उसके कान छोटों की भी बात सुनते हैं और बड़ों की भी। उसकी आँख झोंपड़ी को भी देखती है और महलों को भी। पर जैसे ही वह ताजपोश हुआ और वह गद्दी मिली कि यह बीमारी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती है। फिर जीवन भर पीछा नहीं छोड़ती। अपदस्थ हो जाने पर भी यह बीमारी शीशे के

फ्रेमों में मढ़ कर ड्राइंग रूमों में सजी रहती है। आनेवाली पीढ़ियों के लिए म्यूजियम बन जाती हैं ये उच्च श्रेणी की उपाधियाँ।

उपाधि सरलता की धरती में पद के हल की नोंक से ठसक और मिजाज के बीज बोती है। निष्कपटता की क्यारियों में दम्भ और कपट के अंकुर उगाती है। नाज और नखरों की नाली में अहंकार के जल को तेजी से बहाकर ऐसी सराबोर सिंचाई करती है कि जीवन भर उसकी सीलन नहीं जाती।

उपाधि प्रामाणिकता की मुहर है। इस मुहर का ठप्पा लगा हुआ कागज अखबारों की सुर्खियाँ बन जाता है। दूरदर्शन और आकाशवाणी से दनदनाता है। पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण कालम बन जाता है। सभा-सम्मेलनों की जान हो जाता है। नेम प्लेट बनकर दरवाजे के बाहर गढ़ जाता है। पैड के कागजों पर चढ़ जाता है। पोस्ट-कार्ड और अन्तर्देशीय पत्रों पर छप जाता है। यह ऐसा प्रमाण-पत्र है जो दूसरे प्रमाण-पत्रों को सत्यापित करता है। खजूर को अशोक और आम को बबूल बना देने की क्षमता है इसमें।

उपाधि धारण करके जाली चीज असली बन जाती है और इसके बिना असली चीज जाली। अनेक जाली टिकिट कलेक्टर, जाली पुलिस वाले, नौकरी दिलाने वाले, जाली एजेन्ट, जाली नेता, जाली अभिनेता न जाने कितनों को लूटते रहे हैं, ठगते रहे हैं और न जाने कितनी भोली-भाली सुन्दरियों को वेश्याएँ बनाने में लगे हुए हैं। न जाने कितने 'जमींदारों' ने 'रिआया' को जूतों तले कुचला है।

उपाधि को शब्दों में कनक का पर्याय कह सकते हैं और अलंकारों में नया अलंकार श्लेषातिशयोक्ति, उपाधि रूपी कनक धतूरे का भी काम करता है और सोने का भी। अथवा गुड़ की भेली में रखी हुई भाँग की गोली है उपाधि 'वा खाए बौराइ जग या पाये बौराइ।' उपाधि वैसे तो न कुछ खाती दिखाई देती है और न विशेष कुछ पहनती हुई। पर इसका नशा दिखायी देता है। **उपाधि बहरा नशा है। स्थिर नाच है। निःस्वन संगीत है। मूक गीत है।**

उपाधि बिना ताज बाँधे ही आदमी को राष्ट्रपति बना देती है और बिना डिग्री लिये ही प्रधानमन्त्री। यह बिना योग्यता के अपने सम्बन्धी को उच्च पद प्रदान कर देती है और उच्च श्रेणी की सिफारिश बिहीन परायी डिग्रियों को रद्दी के टोकरों में फेंक देती है। **उपाधि सत्ता का ही दूसरा नाम है और सत्ता प्रभुता का पर्याय है। प्रभुता मद की जननी है और मद भगवान् को भी ठोकर पर रखता है।**

उपाधि नाम से नामी बना देती है। फिर इस 'नामी' के सिक्के के दो पहलू होते हैं—एक नेक नामी का, दूसरा बदनामी का। एक उछालता है, दूसरा डुबा देता है। उपाधिहीन व्यक्ति की नेकनामी और बदनामी थोड़े ही परिचित क्षेत्र तक

सीमित रहती है, परन्तु उपाधिधारी विश्व चर्चा का विषय हो जाता है। बिना उपाधि का व्यक्ति अपनी बहुत बड़ी लाभ-हानि, मान-अपमान का चुपचाप घूँट भर कर जिये चला जाता है, जबकि ख्याति प्राप्त उपाधिधारी के इन आघातों से हृदय गति बन्द हो जाती है, आत्महत्या कर लेता है।

जितनी बड़ी उपाधि होती है उससे कई गुनी अधिक प्रतिष्ठा और इज्जत आदमी के बाहर भीतर फैल जाती है। उपाधि की वाणी तुरन्त टेप की जाती है और उपाधिहीनता पर 'सेंसर' लगा दिया जाता है। अनुपाधि की भीड़ पर लाठी-चार्ज कर और आँसू गैस छोड़कर उपाधि का शुभागमन होता है। उपाधि पत्थर छूकर शिलान्यास करने से ही लाखों की अधिकारिणी हो जाती है और अनुपाधि पसीना बहाकर, दुनिया को पार जाने के लिए पुल बनाकर, खुद उफनती बाढ़ में बह जाती है।

उपाधि बसन्त का आगमन भी है और पतझड़ की सूचना भी। जलती हुई आग भी है और बुझी हुई राख भी। उपाधि के बोझ से आदमी विनयशील भी होता है और अभिमानी भी। आत्मभाव को पहुंचा हुआ विद्वान् उपाधियों को फाड़ कर भी फेंक देता है, तो अपने स्वरूप से अपरिचित इन्हीं को अपनी योग्यता का प्रमाण-पत्र मानता है। कहीं व्यक्तित्व ही प्रमाण-पत्र होता है और कहीं प्रमाण-पत्र ही व्यक्तित्व।

उपाधि बन्धन की जंजीर है और मुक्ति के द्वार की शिला। लोभ का ऐसा न दिखाई देने वाला विशाल पात्र इसके पास होता है, जो कभी भरता नहीं। एक उपाधि हजारों के मुँह बन्द करने के हजार कानून जानती है। साम, दान, दण्ड, भेद सारी नीतियों का विधान इसके पास होता है। उपाधि लेकर आदमी का नाम तो फैल जाता है, पर आत्मा सिकुड़ जाती है। किसी को इन्सानियत से गिराने के लिए उपाधियों की माला काफी है और मनुष्यत्व से देवत्व की ओर उठने के लिए सब उपाधियों से रहित हो जाना ही काफी है।

मूलतः जो नहीं है, वही दीखने का ढोंग है उपाधि। यह हमारे दर्शन की दृष्टि को कुंठित कर देती है। हम उसे कहाँ देखते हैं, जिसे देखना चाहिए। घर में आते हैं, तो 'अपने' दिखाई देते हैं और बाहर जाते हैं तो पराये, हिन्दू, मुसलमान, अफसर-नौकर दिखाई देते हैं—और ये सब उपाधियों के ही अलग-अलग नाम और रूप हैं 'नाम रूप-दुइ जीव उपाधि'। इन सबके भीतर वह जो निरुपाधि बैठा हुआ है, उसको ये उपाधियाँ हमारी आँखों से ओझल कर देती हैं। उसके अलक्षित हो जाने के कारण ही फिर हमारे भीतर राग-द्वेष आदि को पैदा कर देती है यह उपाधि। 'मैं और तू' जब तक हमारे बीच है, तब तक 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' वाक्य को हम रट ही सकते हैं, देख नहीं सकते।

कबीर का जो कथन है कि 'संगत बुरी असाधु की आठो पहर उपाधि।'

उसकी ध्वनि यही है कि अशान्ति का प्रतीक है उपाधि। कलह का बिम्ब है। झगड़े का मिथक है। इसका बास वहाँ है, जहाँ कुमति है, स्वार्थ है, अवसरवादिता है, अनास्था है, अनीति है और जहाँ विघटनकारी घटकों का जमघट है।

आदमी भीतर से जितना हल्का होता है, उतना ही अधिक उपाधियों से अपने आपको भारी बनाने का प्रयास करता है। वास्तव में अब आदमी, आदमी नहीं रहा—मात्र उपनाम, सरनाम और उपाधि बनकर रह गया है।

राम, भरत, लक्ष्मण, कृष्ण आदि महापुरुषों के साथ कभी सिंह, उपाध्याय, गुप्ता, श्रीवास्तव आदि न लगने से क्या इनकी उच्चता और महत्ता पर कोई प्रश्न चिन्ह लगा सकता है? किन्तु आज का राम तो सिंह, शर्मा, प्रसाद की बैसाखियों पर टँग गया है।

जैसे राख आग को और जैसे काई पानी को ढक लेती है, वैसे ही उपाधि कभी-कभी मानवीय मूल्यों को ढक लेती है। एक न्यायाधीश को भी दया आती होगी किसी वेगुनाह को सजा देते वक्त, किन्तु उसकी यह जो न्यायाधीश की उपाधि है, वह दया के ऊपर चढ़ कर सजा लिख ही देती है। एक कसाई का हृदय भी रोता होगा जरूर पशु को काटते वक्त, पर उसका कसाई पना बेचारे को हलाल कर ही देता है। चोरी करने की आदत को रोकने के लिए तथा बच्चे के भविष्य को सुधारने के लिए उसे धुनते वक्त, काँपता तो है कलेजा माँ बाप का, किन्तु वह उनका आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है, क्योंकि माँ-बाप को बच्चे की पहली पाठशाला की उपाधि जो दे दी गयी है। □

१०. "रहिमन निज मन की बिथा मनही राखो गोय"

जिस प्रकार शान्त और लहर विहीन जल में पत्थर मारने से गड्ढा हो जाता है, उसी प्रकार चोट. आघात, हानि, मृत्यु, अपमान रूपी पत्थरों से मन में एक कसक पैदा होती है—इस कसक को ही 'व्यथा' कहा जा सकता है। पत्थर लगने के बाद, गड्ढ़े में बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं। वे लहरें किनारे तक पहूँच कर ही कुछ समय के बाद शान्त होती हैं। कभी ऐसा नहीं देखा गया कि पत्थर लगने के कारण उत्पन्न हुई लहरें, किनारे तक न पहुँच कर, सरोवर के भीतर ही शान्त हो गयी हों। मन की व्यथा को मन में छिपा लेना कठिन है। यह छिपाना एक अपवाद ही हो सकता है। सबके बूते की बात नहीं कि दु:ख की लहरों को अभिव्यक्ति के किनारे तक न पहुँचने दें। यदि ज़बान से नहीं, तो आँसुओं से, यदि आँसुओं से नहीं तो, आहों से, आहों से नहीं तो आकृति और चेष्टाओं से, यदि इनसे भी नहीं तो खाते, पीते, सोते समय सपनों में बड़बड़ाने से, एकान्त सेबन से, सबके बीच चुप्पी साध लेने से। 'पे न छिपाए छिपै सजनी सुनि नेह के नैन सुगन्ध की चोरी', की तरह व्यथा को छिपाना भी आसान नहीं है।

रहीम जी ने अपने हिसाब से तो ठीक ही कहा होगा, परन्तु आज उनकी बात 'कागज लेखी है।' आँखिन देखी. कहें तो रहीम भूल गये हैं कि उन्होंने 'खैर, खून, खाँसी, खुसी. बैर, प्रीति, मद-पान, आदि न छिपायी जाने वाली बातों की जो सूची बनायी है, उसमें व्यथा को भी रखना चाहिए था—जो छिपायी नहीं जा सकती।

हाँ, यों तो छिपाने को कुछ भी छिपाया जा सकता है, परन्तु छिपाने का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। पैर में लगा काँटा न निकल जाए तो कैंसर बन सकता है, धन छिपाकर रख लिया जाए, तो चोरों की आँख गड़ जाती है, वस्त्र छिपाकर बन्द कर रख दिये जाएँ तो फंगस लग सकती है, पुस्तकें बन्द कर रख दी जाएँ तो दीमक लग सकती है, ज्ञान छिपा लिया जाए तो अज्ञान में बदल जाता है। आँसू न बहें तो हृदय फटने लगता है। अपनी भूलें छिपा ली जाएँ तो कभी सुधार नहीं हो सकता। मित्र से बात छिपा ली जाए तो कपट कहा जाता है। गुरू से छिपाया जाए तो पाप बन जाता है। बीबी-बच्चों से कुछ छिपा लिया जाय तो कुण्ठा और तनावों का जन्म होता है। माँ-बापों से छिपाया जाय तो 'कपूत' की संज्ञा मिल जाती है। भाई से छिपाया जाय तो बेईमानी है। वकील से असलियत छिपा ली जाय तो विपरीत परिणाम हो सकता है। ईश्वर से छिपाएँ तो अन्तर्यामी

क्या नहीं जानते ? कहाँ जाएँ छिपाने के लिए और फिर सबसे छिपा भी लिया जाए तो अपने आप से छिपाकर आदमी कहाँ जाएगा ? भीतर सदा दो मन, दो हृदय बैठे हैं--एक छिपाता है, दूसरा पोल खोल देता है ।

व्यथा को छिपाने का अभिनय किया जा सकता है—और उसका अर्थ एक ही है कि असल में हम जो हैं, वह बाहर से कुछ और दिखाई दें । जैसे—घर में भूखे मरें, बाहर रबड़ी मलाई की बात कर । भीतर दर्द से साँस न ली जाए, और डाक्टर से कहें कि हम स्वस्थ हैं । घर का सब माल चोरी हो जाए और मुहल्ले में पता न लगने दें । निगाहें भाई के माल पर लगी रहें और बातों में राम-भरत की भातृ-भक्ति की कथा सुनाएँ । हत्या, बलात्कार, लूट, कुछ भी हो जाए, चुपचाप बैठ जाएँ और थाने न जाएँ ।

कुछ बातें ऐसी हैं, जिन्हें छिपाकर व्यक्ति समाज में अपनी इज्जत, आबरू, मान-प्रतिष्ठा को बचाने की कोशिश करता है जैसे—गृह-कलह, औरत, दौलत और सोहरत कमाने के तरीके, कहीं किसी के द्वारा खाई हुई मार, अपने द्वारा की गयी चोरी, ली गयी रिश्वत, किया गया पाप-कर्म । परन्तु इन सब बातों का भी निचोड़ वही है कि हम जो नहीं हैं–वह होना दिखना चाहते हैं और जो हैं–उसे पर्दे के ढँकना चाहते हैं । तात्पर्य, दुनिया को हम वह दिखाई दें, जो वास्तव में हम नहीं हैं ।

अपनी व्यथा, अभाव, कष्ट, कमजोरी को छिपाने की बात क्यों की गयी ? सिर्फ इसलिए कि कल तक अपनी शक्ति और सामर्थ्य से जिन लोगों पर हम हावी थे, आज यदि उन पर हमने अपनी कमजोरी जाहिर कर दी तो वे हम पर हावी हो जाएँगे । कल तक हमारे प्रभुत्व के कारण जो लोग हमारा पानी भरते थे, आज यदि हमारे अभाव का पता चल गया तो वे ही लोग हमारा पानी उतार देंगे । कल तक अपने घर का अनुशासन बनाकर दूसरों की पंचायत तोड़ते थे, आज अपने घर के विघटन का पता चला तो कोई दमड़ी का दस सेर नहीं पूछेगा । कल तक लाख पर दिया जलता था, आज यदि भूखों मरने की बात का पता चला तो लोग ताली पीटकर हँसेंगे ।

सम्भवतः इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रहीम ने दोहे की दूसरी पंक्ति 'सुनि इठलइहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोइ :' लिखी होगी । इस बात पर अमल करने के लिए यदि लोगों की कटूक्तियों से, व्यंग्य विद्रूपताओं से और आलोचनाओं से डर कर, चुप्पी साध कर घर के कोने में छिप जाएँ तो इससे भय, कायरता, पलायनवादिता, आदि व्यक्तित्व को खण्डित कर देने वाले तत्त्व पैदा होते हैं । क्योंकि विकास का मार्ग बाधा-विरोधों के जंगल में होकर ही जाता है ।

यदि अपनी व्यथा, अभाव और क्लेश को छिपाकर दूसरों की निगाहों में सुखी, सम्पन्न और प्रसन्नचित्त होने का सफल अभिनय कर भी लिया जाए तो दूसरी ओर बड़ी भारी आफत भी गले बँध जाती है । कुछ उदाहरणों से यह बात

स्पष्ट हो जाएगी—आज कोई किसी को खाते-पीते नहीं देख सकता। हर सम्बन्ध स्वार्थ के कारण बना हुआ है। जैसे—एक वह व्यक्ति जो घर से बाहर कहीं दूर रहकर जैसे-तैसे अपने बच्चों का पेट भरता है, अपनी कठिनाइयों को किसी को नहीं बताता है तो उसके सारे सगे-सम्बन्धी हजार अपेक्षाएँ करने लगते हैं। यदि अपना पेट काटकर, बच्चों की इच्छाओं का गला घोंट कर उनकी अपेक्षा की कुछ भी पूर्ति कर देता है तो उसके ऊपर पाल-पोस कर बड़ा करने का अहसान है और यदि नहीं कर पाता तो जमाने भर की बुराइयों का पात्र बना दिया जाता है।

एक वह स्वावलम्बी, जो अपने विवेक और परिश्रम से, अपनी आपत्तियों को किसी को बिना बताये, हर काम को कुशलता के साथ कर लेता है। अपनी चतुराई से हर अफसर दफ्तर से सम्पर्क सूत्र स्थापित कर लेता है तो हजार आँख उस पर टिक जाती हैं। हजारों का चाचा, फूफा बन जाता है। दरवाजे पर सिफारिश करने वालों की, सलाह लेने वालों की भीड़ें लग जाती हैं। खाना-पीना, सोना हराम। वह शहद का छत्ता दिखाई देता है, जिसे सब निचोड़ लेना चाहते हैं। दूसरों का काम करने में अपनी जान पर क्या गुजरती है, इसको न बताने के कारण ही उसकी कुत्ता-खैंच है। रात हो या दिन, दुःख हो या पीड़ा-स्वार्थी दुनिया को यह सब दिखायी नहीं देता। दम लगाकर चुपके से खिसक जाना ही उसका स्वभाव है।

एक वह विद्यार्थी, जिसने जी-तोड़ परिश्रम से पसीना बहाकर, रातों रात जागकर विद्यार्थी की साधना से योग्यता और पद प्राप्त किया। यदि उसकी योग्यता को मान्यता मिल गई तो दुनिया, उसकी ख्याति का प्रसार करने के लिए नहीं, अपितु वह किस प्रकार हमारे काम आ सकता है, इसकी तरकीबें खोजना आरम्भ कर देती है। कोई अपने बच्चों के लिए उसी के लिखे उत्तर चाहता है, कोई उसकी रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित कराना चाहता है, कोई भाषण तैयार कर स्वयं वाहवाही लूटना चाहता है और वह मेधावी अपनी परेशानियों का इजहार न करने के कारण ही पराई करनी को सिसक-सिसक कर जीवन भर भरता रहता है।

वह एक संकोची दयालु प्रकृति का व्यक्ति जो देकर माँगता नहीं, चाहे कितने ही कष्ट सहे, तो कोई उसे लौटाने का नाम भी नहीं लेता। सारी उमर उसका दोहन ही किया जाता है भेड़ 'मुँड़ने' के लिए ही बनी है।

दूसरी ओर एक वह भिखारी जो सबके सामने रोता है। गिड़गिड़ाता है। हाथ फैलाता है। उससे कोई लेने की अपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार एक वह चालाक जो हर किसी के सामने अपना झूठा दुःख रोता है। अभावों के गीत गाता है वह सब झंझटों से बचा रहता है। सुख की नींद सोता है। भीतर हँसता है। बाहर रोता है। कोई अतिथि यदि कभी भूला-भटका आ भी जाए तो घर में झगड़े का नाटक शुरू कर, उसे निकाल कर ही चैन लेता है। जी-हुजूरी करके, सरकार

दरबार की भाषा बोल कर, रोकर, पैर पकड़कर अपना सब काम बना लेता है। दुनिया को बेवकूफ बनाता है। व्यथा को बाहर गा-गा कर उसके घर में सुख की कथा चलती है।

एक वह पतजीवा किसान, जो एड़ी-चोटी का पसीना बहाता है। सर्दी, गर्मी, बरसात, रात और दिन जिसके लिए जैसे महत्त्व ही नहीं रखते। वह न तो कोई संघ बनाता है, न हड़ताल करता है और न अपनी माँगों की सूची लेकर किसी मन्त्री का घिराव करता है—फलत: "कमाते अन्न दुनिया को वही बे अन्न मरते हैं।" इसीलिए परमात्मा भी किसान के घर में अवतार लेने से डरता है। वह सूअर, कछुआ, मछली, शेर, राजा, ग्वाला तो बनकर आ गया है, पर किसान बनकर कभी उसने हल नहीं चलाया। 'जय जवान, जय किसान' का कागजों में कितना ही ढिंढोरा पीटा जाए, देश के लिए तन-मन-धन लुटा देने वाले जवान और किसान के बीवी-बच्चे भूखे ही मरते हैं।

एक वह घर का मुखिया, जो अकेला कमाता है और उसके सहारे दस खाते हैं—वे दस नहीं जानते हैं कि वह अकेला किसी से लेकर, किसी को देकर, दौड़-भाग करके, चोट, आघात सहकर, किस प्रकार सारे घर का प्रबन्ध करता है। सबको खिलाने पहनाने के बाद खाता और पहनता है। इतने पर भी बीवी और बच्चे, भाई और बन्धु अपने-अपने स्वार्थों को लेकर घर में कलह शुरू करते हैं और वह बेचारा इस व्यथा के विष का घूँट पीकर सबके ताने और नखरे सहता है। रात-दिन कुढ़ता है।

बिना रोये तो माँ भी बच्चे को दूध नहीं पिलाती। एक गरीब बाप की बेटी, जो बिना दहेज के दुलहन बनी है–दासियों की दासी बनकर काम करती है। सबकी सुनती है। मार खाती है। आँसू पीती है। आहों को ओढ़ती बिछाती है–पर अपनी व्यथा को छिपाये रहती है–तो एक दिन या तो मार दी जाती है, जला दी जाती है या खुद आत्महत्या कर लेती है। एक वह बैल जिसके पास अपना दुःख कहने की भाषा ही नहीं, मरने के बाद ही जुतने से छुट्टी पाता है।

व्यथा को छिपाकर आदमी एकदम बदल जाता है। खिले हुए फूल उसे रोते नजर आते हैं। शीतल वायु, लू के समान लगती है। शहनाई में शोक-गीतों की चीख सुनाई पड़ती है। हँसी से चाँटे से लगते हैं। बरसात अंगारे बरसाती है। तनाव से सिर फटता है। नसें तनती हैं। आक्रोश से उबलता है। फूल सा कोमल हृदय वज्र हो जाता है। नीरसता सौंदर्य-दृष्टि को ढाँप लेती है। और छिपायी हुई व्यथा ही एक दिन कत्ल, लूट, बेईमानी, डाका, हत्या, आत्महत्या सब कुछ करा डालती है। बने घर बिगड़ जाते हैं। प्रेम बैर में बदल जाता है। जिन्दगी के चमन उजड़ जाते हैं। खुले दरवाजों में ताले लटक जाते हैं।

यदि अपनी सम्पत्ति नष्ट होने का दुःख भीतर बन्द है तो दूसरों की खुशहाली आँखों की किरकिरी बन जाती है। यदि घर के विघटन का दुःख है तो

पड़ोसियों की खिलखिलाहट हथौड़ों की सी चोट करती है। यदि मृत्यु का शोक है तो दूसरे जीवित प्राणी उद्दीपन बनकर आँसू बहाते नजर आते हैं। यदि अपमान हो गया है, तो दूसरों का सम्मान देख हृदय दरकता है। तात्पर्य यह कि व्यथा को छिपाना, आस्तीन में साँप पालने से कम नहीं है।

जो बहुत संयमी होते हैं, वे दुःख के समय अपनी व्यथा-कथा भले ही न कहें, परन्तु सुख के दिनों में अवश्य अपने विगत कष्टों, अभावों, अपमान आदि की कहानी बच्चों को, मित्रों को सुनाया करते हैं। □

११. सङ्घे शक्तिः कलौयुगे

संघ मूलतः शोषण और उत्पीड़न से उत्पन्न भय और उससे रक्षा के प्रयासों की कहानी है। किसी ने कहा है कि "इस बाग में सँभलकर आना नये मुसाफिर, हर बागवाँ यहाँ का काँटे बिछाने वाला।" जाहिर है कि कहीं किसी ने काँटे बिछाने का काम शुरू किया होगा, कि जूतों के कारखाने बन गये। कहीं किसी ने स्वार्थ पूर्ति के लिए कत्ल की बात सोची होगी, कि हथियारों की फैक्टरियाँ काम करने लगीं। धरती रोमांचित तभी होती है, जब पानी ऊपर से बरसता है। मगरे पर तो पानी कहावतों में ही चढ़ता है, अन्यथा ऊपर से दबाव पड़ने पर ही धरती का पानी ऊपर उछाल भरता है, मजबूत बांध बँधने पर ही गंगा उल्टी बह सकती है। गाली खाते-खाते आदमी गाली देने लगता है, क्योंकि जो खाया जाता है वही उगला जाता है। मगर खाते-खाते आदमी मारने पर उतारू हो जाता है। कहीं एक को पीड़ित किया गया होगा, और उस एक की पेश नहीं पड़ी होगी, इसलिए उस एक ने, अपने ही जैसे अनेक को इकट्ठा कर, संघ और संगठन शब्दों को क्रियात्मक रूप दिया होगा। संघ पराजित मनोवृत्ति का जीतने का प्रयास है। संघ का अन्दरूनी अर्थ यही है कि हम व्यक्तिगत रूप में हों चाहे न हों, पर सामूहिक रूप में शक्तिशाली दिख जाएँ और शोषण-अत्याचार की जो भृकुटि तनी है उसकी पलकें झुक जाएँ। जो हाथ गला दबाने को बढ़े हैं, वही सीने से लगाने के लिए मचल उठें। जो हमारा मूल अधिकार और हक है, वह हमें मिल जाए।

संघ का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति का नहीं, सर्वहित की भावना का सर्जनात्मक रूप है। संघ अपने शुद्ध रूप में गंगा-घाट और श्मशान घाट के समान है, जहाँ पर आकर व्यक्ति के सहज दुर्गुण, जलन, द्वेष और कपट कपूर के समान उड़ जाते हैं। यहाँ आदमी अपनी ५० रु० की आमदनी के साथ दूसरों को भी दिलाना चाहता है। अपने उत्थान को दूसरों के उत्थान के साथ ही पूर्ण समझता है। गोस्वामी तुलसीदास की "परहित घृत जिनके मन माखी" और "सहस नयन निरखहिं पर दोषा" आदि खलों की विशेषताएँ संघ में आकर समाप्त हो जाती हैं और आदमी अपने छिद्रों के साथ ही दूसरों के छिद्रों को भी ढकने का प्रयास करता है। संघ वह वामी है, वहाँ हर साँप मिलकर सीधा चलता है।

कलियुग में ही संघ में शक्ति की बात क्यों की गयी ? सत्युग, त्रेता, द्वापर में क्यों नहीं ? युग और समय मूलतः सापेक्ष है. निरपेक्ष नहीं। अर्थात् व्यक्ति, वस्तु और पदार्थ ही समय, युग और काल खण्ड हैं और सतयुग, त्रेता आदि धारणाएँ हैं, भावनाएँ हैं जो २४ घण्टे हर व्यक्ति के अन्दर फेरी लगाती रहती है। व्यक्ति के

अन्दर जिस क्षण करुणा, क्षमा, सत्य, अहिंसा, परोपकार, सेवा, त्याग आदि सद्-वृत्तियाँ उभर कर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाती हैं, उस क्षण सत्युग होता है–कलियुग में रहकर भी उससे हजारों कोस, लाखों वर्ष दूर। कमजोरी ही शब्दों से शक्ति का डंका पीटती है और कलियुग शक्ति के निचुड़ जाने की धारणा है, विद्वेष, कलह और कपट की धारणा है, प्रगल्भता और लबारपने की धारणा है, तोड़-फोड़, हिंसा, जबरदस्ती उत्पीड़न और लूट-खसूट का युग है कलियुग। तात्पर्य यह कि कलियुग व्यक्ति के अन्दर सद्वृत्तियों के विकुञ्चन और अवमूल्यन का नाम है। मानवीय मूल्यों के ह्रास का क्षण है, कलियुग।

संघ में शक्ति की आवाज-ढोल की आवाज के समान है–और ढोल में आवाज होती नहीं, पैदा की जाती है–मरे हुए पशु की खाल चढ़ाकर, दूसरे तत्त्वों की डोरियों से कसकर। यदि ढोल की दोनों ओर की चमड़ी हटा दी जाए, डोरियाँ अलग खोलकर फेंक दी जाएँ, तब कोई दिखाए उसकी मधुर अनुगूंज को? अब कहाँ गई उसकी मोहक आवाज? आवाज थी कहाँ उसमें? वह तो चढ़ाई गई थी, पैदा की गई थी। कृत्रिमता थोड़ी देर के लिए भले ही चौंका दे, उसमें स्थायित्व नहीं होता। मरे बैल की खाल का गठजोड़कर, उसमें अन्य सामान न लगाकर यदि धौंकनी का रूप न दिया जाए, तो कर सकती है खाल लोहे को भस्म? पड़ी रहने दें अलग उस खाल को, या बाँध दें लाकर दस-बीस जिन्दे बैल, जो वे अपनी साँस मारकर किसी तिनके को भी जला दें? संघ में शक्ति का आरोप कर दिया गया है। अन्यथा संघ भयभीत आदमी की सृष्टि है। समूह इकट्ठे करना कमजोरी की निशानी है। भीड़ के साथ चलना कायरता है। "तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिले सहाय" डरपोक के साथी डरपोक ही होते हैं। व्यक्तिगत शक्ति' साहस और सामर्थ्य का जब ह्रास होता है, तभी व्यक्ति दूसरों का सहयोग चाहता है। भाई-भाई में जब झगड़ा हो जाता है तो एक भाई दूसरे भाई के पास अकेले जाने में थर्राता है। आपसी समाधान के लिए फिर अपने-अपने पक्ष में समूह इकट्ठे किये जाते हैं, पंचायतें बुलाई जाती हैं और भाई-भाई के बीच की गोपनीय बातें फिर चार छह लोगों बिना नहीं होतीं।

जिस दीवार की हर एक ईंट पकी हुई है, वह बरसात में कभी ढह नहीं सकती। जिसकी हर इकाई में अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति है, संघ वही शक्तिशाली होता है, सार्थक होता है। अन्यथा वह संघ नहीं भीड़ है और भीड़ ने जोड़ने का नहीं सदा तोड़ने का ही काम किया है। भीड़ ही आग लगाती है, भीड़ ही तोड़-फोड़ करती है, भीड़ ने बलात्कार, चोरी, डकैती, स्मगलिंग, राहजनी आदि कुकर्म किये हैं। अकेला आदमी यह सब कुछ नहीं कर सकता। सत्य एक है, अखण्ड है। एक धर्म समूहों में बँटकर अधर्म ही पैदा करता है।

ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत चेतना और ऊर्जा ह्रासोन्मुखी होती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति समूह बनता जाता है। व्यक्ति के समान कमजोर और व्यक्ति के समान सबल, व्यक्ति के समान भयभीत और व्यक्ति के समान निर्भय और कोई दूसरा

नहीं। व्यक्ति नाजायज और कमजोर तभी हुआ है, जबकि वह अपने आपको भूला है। अपने अस्तित्व के बोध से अनजान आदमी ने कमजोर और भयभीत बन कर ही, सदा भीड़ का सहारा लिया है। यदि ऐसा नहीं तो कभी अकेले आदमी को सड़क पर नारा लगाते हुए क्यों नहीं देखा गया ? अकेला आदमी तोड़-फोड़ और आगजनी क्यों नहीं करता ? अकेला ही आदमी अपनी माँगों की सूची लेकर किसी मिनिस्टर के पास क्यों नहीं जाता ? एक व्यभिचारी के साथ यदि दो चार उसके सहयोगी नहीं तो किसी स्त्री से बलात्कार की तो चलती क्या है अकेला आदमी स्त्री की तरफ देख भी नहीं सकता। अकेला आदमी रात में कुत्तों की आवाज से भी डरता है। संघ की, समूह की, भीड़ की अवधारणा को यदि एक पल के लिए दर किनार कर दिया जाए और हर व्यक्ति अपने-अपने धरातल पर यदि अलग खड़ा हो जाए, तो अपने पैरों के नीचे से धरती खिसकने लगती है, बुरे काम की वात यदि उसके मन में जमी है, तो वह अकेला इतना शंकित और चकित होकर चलता है कि उसे लगता है कि पेड़-पौधे भी उसे पहचान रहे हैं। कहीं हवा उसके रहस्य को किसी को वता न दे। कहीं उसकी चेष्टाएँ ही उसके अपराध की गवाह न बन जायँ।

जो अकेले बात नहीं कर सकता, वह भीड़ में बलबलाता है। अकेले लड़-खड़ाने वाला भीड़ में धक्का-मुक्की करता है, आत्मबल, मनोबल और चरित्रबल जब थककर सो जाते हैं तो संघ समूह और सम्प्रदायों के सपने आते हैं और सपनों ने कभी यथार्थता का रूप नहीं लिया—कुछ अपवादों को छोड़कर।

राम ने, कृष्ण ने, बुद्ध ने, ईसा ने, सुकरात ने, कबीर ने, नानक ने, गांधीजी ने कभी संघ, सम्प्रदाय नहीं बनाये। भारी भीड़ के साथ इन्होंने विजय के अभियान नहीं किये। भीड़ सत्य को नकारती है। असत्य को अपना कर हो-हल्ला मचाती हैं। राम और कृष्ण के हजारों साल बाद राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखाएँ फूटीं। बुद्ध के बाद बुद्ध धर्म और गांधी जी के बाद ही गांधीवाद पैदा हुआ और हर वाद के विरोध में विवाद और विकल्प तैयार होते चले गये। एक के अस्तित्व को मिटाने की भावना जब भी पैदा हुई है, उसने नये खेमे बनाने शुरू किये हैं। एक सरकार के बनते ही विरोधी राजनैतिक दल सक्रिय हो जाते हैं। शैव मंदिर की स्थापना के साथ ही वैष्णव विरोध में खड़े होकर विष्णु मंदिर बनाने की समितियाँ बनाने लगते हैं। जहाँ मंदिर बना वहीं दूसरी ओर मस्जिद कमेटी की भी भाग दौड़ होने लगती है। एक ही घर में दीवार लगाकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान जहाँ दो घर बन गये तो अब सिक्ख-सम्प्रदाय भी एक के तीन करने पर उतारू है। इसी तरह से संघ और सम्प्रदाय किसी दिन तीन के तेरह करेंगे।

एकता और अखण्डता की प्रतिज्ञा लेकर बने संघ और सम्प्रदाओं का अन्तिम निष्कर्ष यही निकला है कि मानवता को विच्छिन्न करने के लिए, एकता और अखंडता को विघटित करने के लिए प्रेम और सद्भाव में दरारें डालने के लिए, संघबद्ध प्रयास

का नाम है संघ और सम्प्रदाय । भीड़ के द्वारा कभी परिवर्तन नहीं आता, एक आतंक जन्म लेता है। क्रान्ति नहीं आती, शांति भंग होती है। नव्य विचार नहीं जमते-वितर्कों के जंजाल पैदा होते हैं समस्याओं के समाधान नहीं होते, दिक्कतें बढ़कर फैल जाती हैं। सर्वहित की चक्की अन्ततोगत्वा स्वार्थ की कीली पर ही आ जाती है। अहिंसा से शुरू हुआ अभियान कालान्तर में हिंसा की वारदातें करने लगता है। संघ बन जाने के बाद आवश्यक है—हर व्यक्ति की आत्म शक्ति को जगाना, उसके भीतर एक अडिग हिमालय बनाना, एक सूरज उगाना। उसके भीतर एक गांधी, एक शिवाजी, एक राणा, एक भगत सिंह, एक चन्द्रशेखर, एक सुभाष को सक्रिय रूप में बिठाना जिसका अत्याचार की आँधी के सामने सिर न झुके, जो विरोधों के सामने तन जाए जो गोली देखकर सीना खोल दे, जो दीवारों में चुने जाते वक्त भी न हटे, अपनी प्रतिज्ञा से, जो फाँसी के फंदे में गला डालकर भी इनकलाब जिन्दाबाद का नारा लगाता रहे। जो जहर के प्याले को भी हँस कर पी जाए। ऐसे ही अकेले व्यक्ति को इतिहास याद रखता है। हर आने वाला युग आहें भरता है। भीड़ को कोई याद नहीं करता। उस पर तो आँसू गैस का प्रयोग किया जाता है, लाठी चार्ज होता है, जेलों में ठूँसा जाता है।

एक नेता हजार का नेतृत्व क्यों करता है? इसलिए कि हजार लोग उसका अन्धानुकरण करते हैं, उसकी हाँ में हाँ मिलाते हैं। हजार की चेतना किसी एक में घुस गई है। दस बीस अँधे किसी एक आँख वाले की लाठी पकड़कर आँख वाले नहीं हो जाते। पचास मरीज एक स्वस्थ व्यक्ति के निकट रहकर निरोग नहीं हो जाते। एक आँख वाला दस अंधों को खाई के किनारे ले जाकर अलग भी हट सकता है। एक स्वस्थ पचास मरीजों से बवाल छुड़ाने के लिए डाक्टर से मिलकर उन्हें जहर का इंजेक्शन भी दिलवा सकता है। वास्तविकता भी यही है। हम किसी के इशारे को पाकर पवित्र भाव से संघबद्ध होकर हड़ताल किये बैठे हैं, आमरण अनशन को तैयार हैं और वहाँ बैठा जो हमारा नेता है उसे ब्रीफकेस भरे नोट दिखाये जा रहे हैं। उसकी लार टपकी जा रही है। लाख की लाटरी खुल रही है और अँधेरे में अकेले-अकेले ही अब सारी माँगे, समस्याएँ झाग की तरह बैठ गयी हैं। नेता जब लेता है तो अनुगमक कार्य पर वापस आ जाते हैं। धमकियों से संघ का महल हिलने लगता है, बाल बच्चों का ख्याल आने लगता है। अब कहाँ गई संघ की शक्ति?

संघ सदा भंग होने के लिए ही बनते हैं, और भंगुर चीज चिल्लाती है कि मुझ में बड़ी शक्ति है। विरोधाभास का इससे अधिक सटीक उदाहरण मिलना मुश्किल है। हर वर्ष नये संघ बनते हैं और हर वर्ष टूट जाते हैं। उनकी शक्ति भी बिखर जाती है। पर आज तक एक भी मिशाल ऐसी नहीं कि जिस व्यक्ति ने अपने आपको ही सच्चे रूप में संठठित किया है, उसने परमात्मा को भी जबरन अपने पास न खींच लिया हो। भागना पड़ा है उस त्रिलोकी को भी नंगे पैरों एक व्यक्ति के पास। इकाई बहुत बड़ी होती है। उसके बिना न दहाई हो सकती है, न सैकड़ा, न हजार, न लाख। इकाई को मजबूत बनाने की जरूरत है। सड़े गले नोटों के गट्ठर पर नहीं

निगाहें नये एक नोट पर जमती हैं । नये ताजे नोटों की गड्डी से संघ का अर्थ समझा जा सकता है । पर यहाँ तो स्वस्थ, मजबूत इकाई को नकारा जाता है और लाख के सपने देखे जाते हैं । बुनियाद कमजोर और कच्ची ईंटों पर खड़ी है और दस मंजिल के नक्शे बनाये जाते हैं । जमीन ऊसर है और फूलों के बाग लगाने की योजना है ।

संघ बनाकर हजार लोगों के कदम एक साथ एक दिशा में चलते जरूर दिखाई देते हैं—पर कोई किसी के साथ नहीं होता । साथ चलकर भी हर व्यक्ति भीतर से अलग और दूर होता है । कुछ समय के लिए हाँ-हाँ करते दिखाई पड़ सकते हैं पर बौद्धिक सहमति किसी की किसी के साथ नहीं होती है । बाहर स्वीकारोक्ति में सिर जरूर हिलते हैं, पर भीतर एक दूसरों के विचारों को काटने की कैंची भी चलती रहती है ।

अकेले व्यक्ति की मान बड़ाई, इज्जत, आबरू भीड़ में मिलकर सामूहिक हो जाती है । जिस प्रतिष्ठा को पाने के लिए अकेला आदमी जोखिम उठाता है, उसी को भीड़ में पहुँच कर मिट्टी में मिला देने में ही अपना बड़प्पन समझता है । इसी लिए कोई कितना ही सज्जन हो, भीड़ में मिलकर किसी भी कुकर्म में हाथ बँटा सकता है । नीति और सिद्धान्त को भूला हुआ संघ फिर भीड़ ही कहा जाता है और भीड़ का अस्तित्व बस इतना ही है कि वहाँ कुछ भीड़-भाड़ है कोई मजमा इकट्ठा हो गया है; संघ में शक्ति बस इतनी है कि वहाँ शक्ति के साथ, जोर से नारेबाजी हो रही है—कुछ हो-हल्ला है । समितियों का अर्थ बस इतना है कि वहाँ कुछ भिन्न मतियों के लोग इकट्ठे हो गये हैं । धर्मों और सम्प्रदायों का तात्पर्य बस इतना है कि अब फिर कुछ नये विघटनकारी घटकों का जन्म होगा । संगठनों के गठन का परिणाम बस इतना है. कि वह दिन दूर नहीं, कि हथियार डाल दिये जाएँगे ।

संघ में शक्ति का नारा जितना ही जोर से लगाया जाता है उतना ही कुछ दिन के बाद वह खोखला हो जाता है क्योंकि नारा एक बरसाती नाला ही है । आया जोर से पानी का एक रेला और बहा ले गया कुछ किनारे की झोपड़ियों को और कच्चे घरों को । फिर वही गर्मी के महीने में एक बूँद पानी के लिए फटे पेट को दिखाने लगता है । भीड़ में शक्ति है पर विघटन की, विध्वंस की । सर्जना की शक्ति तो एक में ही है । भीड़ चिल्ला सकती है कि यह आम नहीं बबूल है । पर बदल नहीं सकती बबूल को आम में । बबूल पर आम की कलम तो किसी एक व्यक्ति की मेधा ने ही चढ़ाई है । हवाई जहाज और रेलगाड़ी, रेडियो और टेलीविजन का अनुसंधान पचास चालीस ने मिलकर नहीं किया–किसी एक की ही बुद्धि की खोज है ।

समूह, झुंड, टोलियाँ और भीड़ तो मनुष्यों से अधिक पशुओं की कामयाब होती है । जिस किसी में बीस-पचीस गाय-भैंसों का समूह इकट्ठा करने की क्षमता है, उसके घर दूध की नदियाँ बहती हैं । जिस किसी ने हजार-पांच सौ सूअर, भेड़, बकरियों और मुर्गियों के झुंडों की व्यवस्था कर ली, दरिद्रता उसके यहाँ से भाग जाती है । दूसरी ओर जिस किसी ने ब्याह-शादी आदि मौकों पर पचास-चालीस स्त्री-बच्चों, मेहमानों को अपने घर एक सप्ताह भी रख लिया हो, वह समझ सकता

है कि इस भीड़ ने किस कदर घर की शान्ति व्यवस्था में चार-चाँद लगाये हैं ? कि इनके विदा होने के बाद घर की छोटी मोटी चीजें, कपड़े-लत्ते सही सलामत बच गये हों ? या कि इस भीड़ भरे आह्लादमय वातावरण में बड़ी गहरी नींद आई हो ? कभी भीड़ को विदा करते ही तौवा-तौवा और कुहनियों तक हाथ जोड़ दिये जाते हैं तो कभी इस भीड़ के बिना काम भी नहीं चलता। बाहर भीड़ में शामिल होने के लिए सब लपकते हैं, पर घर में कोई भी भीड़ इकट्ठा करना नहीं चाहता।

जब तक चार भाई छोटे हैं, क्वारे हैं, तब तक संगठन है, एकता है, प्रेम है, भाईचारा है और खून भी तब तक एक है। पर जैसे ही चार भाई आठ हुए, और आठ में से सोलह निकले, तो फिर घर एक भीड़ भरा चौराहा हो जाता है। संगठन, प्रेम, एकता और भाईचारा सबको चार दिशाओं से आई चार देवियाँ चाट जाती हैं। संघठन विघटन में बदल जाता है। भाईचारा रामायण के पन्नों में ही चिपका रह जाता है खून बँटते हैं, नाते मिटते हैं, घर टूटते हैं, संयुक्त परिवार विमुक्त हो जाते हैं फिर हर भाई अलग होने की, भीड़ से अलग निकल भागने को ही समाधान समझता है। और वे माँ-बाप जिन्होंने इस भीड़ के पैदा करने में ही अपना अहो-भाग्य समझा था, परिणाम अन्ततोगत्वा उनको ही भुगतना पड़ता है। अंधी आँखो से चूल्हे में सिर देकर, बूँद-बूँद पानीको अकेले तरस कर और मक्खियाँ उड़ाने तक को मुहताज होकर। जो भीड़ इकट्ठी करता है, बुराई का निशाना भी वही बनता है।

शोकाविभूत अकेली स्त्री रोने में भी हिचकती है। रोती भी है तो संकोच के साथ ऊँ आँ कर रह जाती है, पर उसी के साथ जब चार छह और रोने के लिए इकट्ठी हो जाती हैं, तो घर में कुहराम मच जाता है। अकेली स्त्री गीत भी नहीं गाती पर चार छह में मिलकर हर स्त्री गायिका होती है। अकेला आदमी हँसने में हिचकता है वही चार छह के साथ ऐसे ठहाके लगाता है कि छतें दहल जाती हैं। अकेले आदमी की कोई समस्या नहीं है, कोई माँग नहीं, पर संघ में मिलकर उसकी हजार समस्याएँ और अनेक माँग हो जाती हैं। भीड़ के जीवाणुओं से ही हमारा स्वभाव बना है भीड़ हमारे अन्दर घुस गई है। हमें रोने के लिए, हँसने के लिए, गीत गाने के लिए, सुनाने के लिए, संग और साथ चाहिए। चार छह मिलकर मंदिर में आरती न गाएँ तो पूजा अधूरी है। मस्जिद में पचास चालीस की कतार में बैठकर नमाज न पढ़ी जाए तो खुदा नाराज हो जाएगा। टोली के साथ तीर्थयात्रा सार्थक है। जन्म के समय भी और मरने से पहले भी आदमी यही देखता है कि कितने अधिक से अधिक लोग इसे देखने आये। यही सोचता है कि कितनों का हाथ उसकी अर्थी से लगेगा, कितने लोग उसके अन्तिम संस्कार में भाग लेंगे ?

किसी ने कहा है कि—

सिहों के लहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ॥

सैकड़ों गीदड़ जब किसी खेत में इकट्ठे हुए हैं तो हुआ-हुआ के अतिरिक्त उन पर और कुछ हो नहीं पाया। या तो किसी की ईख उजाड़ी है, या किसी की

वाड़ी। पर दो चार शेर इकट्ठे चलते दिखाई नहीं दिये। एक से ही जंगलों को पसीना आता है। यदि चार छह शेर इकट्ठे होकर चलें, तो गाँव और शहर सभी चाँद पर पहुँचने की तैयारी शुरू कर दें। किसी एक ही हंस की मिशाल सबको याद है, बगुलों की पंक्तियों के गीत नहीं गाये जाते। हीरे, जवाहरात, सोने-चाँदी के ढेरों और नोटों के गट्ठरों को छोड़ किसी कोहिनूर लाल ने ही इस देश से उस देश में छलाँग लगाई है। स्त्री मर जाने पर, सम्पत्ति लूट जाने पर सैकड़ों साधु हो गये हैं। पर किसी एक शंकर, एक विवेकानन्द, एक रामकृष्ण ने ही अध्यात्म को मथकर विश्व में भारत के माथे को ऊँचा किया है। साधुओं की जमात ने तो भारत भिखारियों का देश बना दिया।

संघ, यह बालू की दीवार, बस एक धमकी की आँधी आने की प्रतीक्षा में खड़ी हुई है। आँधी आएगी और यह दीवार एक रास्ता बन जाएगी। वह आम रास्ता, जिस पर होकर आम आदमी गुजर जाएगा और इस राह को भूल जाएगा, जिसका अस्तित्व पराये पद-चिह्नों से ही बना है। □

१२. सागर और कुआँ

सबने देखा नहीं है सागर, पर सुना सबने है। जिसको देखा नहीं है, उसकी छवि ने सबके भीतर विशालता, महानता और अगाधता का आकार बना रखा है। यह खारे पानी की बेमानी गहराई। अब कहीं बुद्धि और विवेक का सागर, कहीं शील और सौन्दर्य का सागर, कहीं बल और शक्ति का सागर, कहीं धन और धर्म का सागर, कहीं रूप और गुणों का सागर, कहीं नीति और प्रीति का सागर—और पता नहीं किस-किस के कितने सागर—घर के आँगन से लेकर चौराहों पर, सभा-सम्मेलनों में, अखबार-पत्रिकाओं में और चर्चाओं में हिलोरें मारते दिखाई देते हैं।

अपनी मर्यादा को तोड़ एक मील भी जाने वाले समुद्र की हर गली, हर गाँव, हर शहर यहाँ तक कि कागज और किताबों में भी बाढ़ आ गयी है। यह सागर उपमाओं में बसता है, रूपकों के आइने में अपना रूप निहारकर अतिशयोक्तियों के दरवाजों से गुजरता है।

बाहर भी सागर और भीतर भी सागर। कहीं शोक का सागर उमस देता है—कहीं उल्लास का सागर हिलोरें लेता है। कहीं कृपा का सागर कृत-कृत्य करता है और कहीं कोप का सागर विनाश ढहाता है। कहीं विष का सागर मारता है तो कहीं अमृत का सागर जिलाता है। धैर्य के सागर में विचलन की एक भी लहर नहीं उठती, तो मोह के सागर ने कभी स्थिर होना नहीं सीखा। वाह रे सागर! सारी धरती पर जो नहीं समाता, वह कहीं गागर में ही समा जाता है।

जो दुनिया भर का समेटा कर डकार भी नहीं लेता, वह धैर्यवान् है। जो किसी को एक बूँद पानी नहीं पिला सकता, वह दाता और महान् है। जो एक बीघा खेत नहीं भर सकता, वह रत्नाकर है। जो पड़ा हुआ है अजगर की तरह मुँह बाये और लील जाता है अपने पास आये नदी-नाले रूपी पशुपक्षियों को—वह कामनाहीन और धर्मशील है—

"जिमि सरिता सागर महँ जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख सम्पति बिनहि बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥"

(तुलसीकृत मानस, बालकाण्ड)

आ गयी सम्पत्ति बिना चाहे, और हो गये अतुलित सुख-धन-धाम। पर किसलिए ऐसी सम्पत्ति और किसके लिए ?

और यह कुआँ बेचारा! जो काली कुतिया ने भी आँख खोलकर देखा है—**उसकी छवि या** तो अवनति के गर्त की है। या अंधकूप की। या तो चुपचाप आत्म-हत्या करने के लिए बना है कुआँ या 'एक कुएँ में गिरेगा तो क्या दूसरा भी गिर पड़े'

जैसी कहावतों द्वारा उपेक्षा के लिए जिसने अपने सीने को कुदालों से खुदवा-खुदवा कर अपने अन्तस्तल के निर्मल और मधुर स्रोत से, दुनिया के सीने टेड़े किये हैं—वह तो गड़हा बना रह गया। जिसने दूसरों का कुछ न लेकर. अपने ही लहू से धरती को सींचा है—उसका स्थान किसी सुन्दर उपमा में नहीं, तुलना में नहीं। या तो अपने कुकर्मों से आदमी अपने पतन के लिए कुआँ खोदता है 'परम गंग कों छाँड़ि पियासौ दुर्मति कूप खनावै।' या कोई कम अकल कूप मंडूक बन जाता है। कहीं आँख की पीर ने कुआ-कानी की उपाधि पायी है और कहीं नेकी भी कुआँ में ढकेली गयी है, 'नेकी कर कूआँ में डाल।' अथवा किसी तड़पती हुई वियोगिनी के प्रेम संदेश प्रियतम तक न पहुँच कहीं मधुवन के कूपों में ही सरक गये हैं, 'संदेसनि मधुवन कूप भरे।'

कुआँ देने के लिए ही बना है और सागर लेने के लिए ही। एक सारी उमर त्याग करते-करते भी खाली नहीं होता, दूसरे का समेटते-समेटते कभी पेट नहीं भरता। बाहर की नहर, नदी का पानी काटकर यदि कुआ में दे दिया जाए तो वह पचा नहीं पाता। एक क्षण में पराये माल को उलट देता है। यहाँ तक कि कुआँ किसी की वाणी, भावों और विचारों को भी नहीं चुराता—और यह सागर, दुनिया भर के नदी नालों को अपने आपमें चुपके-चुपके मिलाकर, महान् हो जाता है ज्ञान का सागर। इसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, पर बेचारे छोटों का अस्तित्व मिट जाता है—

'जैहै बनि बिगरि न वारिधता वारिधकी,
बूँदता बिलैहैं बूँद बिबस विचारी की।' —रत्नाकर

इतने पर भी धीर, गंभीर, शान्त और मर्यादा की मिशाल बना यह सागर अपने अहंकार और दर्प की गर्जना करता हुआ, नदी की गुनगुनाती हुई एक लहर से कहता है—

'मौजे दरिया से ये कहता है समन्दर का सकूत।
जिसका जितना ज़र्फ़ है, उतना ही वो खामोश है॥'

क्यों न कहे वह अपने आपको महान् और खामोश—महान् लोगों का समर्थन जो उसे मिलता है और मिलता आया है। स्वयं श्रीकृष्ण उसे 'अचल प्रतिष्ठा वाला' बताते हुए कहते हैं :

'आपूर्यमाणामचल प्रतिष्ठः समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न काम कामी॥'

वाहरे! भगवान् आप भी आँधी के ही रूख को मुड़ गये। ठीक ही तो है 'बनीके चेहरे पर लाखों निसार होते हैं।' और होते भी क्यों नहीं, आखिर नारायण जो ठहरे! उनका आलय भी तो है सागर! इन छोटों को बहकाने में आपने भी कोई कसर नहीं छोड़ी। पर ईमानदारी से इतना बता दीजिए कि आप जैसे कर्मयोगी को छोड़ जिसने भी कामनाओं और भावनाओं को चुपचाप दबाना चाहा है, तब क्या भीतर एक हलचल भरा तूफान, एक उद्वेग, एक अनुताप पैदा नहीं हुआ है? क्या

इसी भीतर के तूफान ने आदमी को नहीं उखाड़ा है ? क्या उसकी शान्ति, स्थिरता और धीरता को इस तूफान ने तहस-नहस नहीं किया है ?

यदि नहीं तो निराला जी को क्या दिखायी दिया था, जो उन्होंने लिखा कि—

'पीछे, अप्रतिहत गरज रहा अम्बुधि विशाल।

× × ×

जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।'

क्यों ? ये जो ज्वार-भाटे आते हैं, ये सब क्या हैं ? यह सागर जो बीसियों फीट उछलता है; उबलता है; विक्षुब्ध होता है; अपने ही भीतर जो पछाड़ें खाता है, यह सब किसलिए ? क्या पन्तजी की कल्पना के अनुसार, सागर चाँद सुन्दरी के रूप-जाल को देख उसे आलिंगित करने के लिए नौ-नौ बाँस उछलता है, और उसे न पाकर फिर धड़ाम से पछाड़ें खाता है ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि सदा पराये माल को मारने वाले इस सागर के हृदय में इतनी अपराध भावना, इतना पश्चात्ताप भर गया हो कि वह प्रायश्चित्त में ही पछाड़ें खाता हो। जो कहीं बाहर मुँह दिखाने लायक नहीं होता, वह घर में ही दीवारों से सिर पटकता है। अपने कलेजे को ही मसोसता है। अपराध-बोध चैन से नहीं रहने देता। चोरी का माल पचता नहीं। छोटों के अस्तित्व का नाम-निशान मिटाकर, बड़ा फिर दिन रात करवटें बदलता है; बिलखता है; सुख की नींद नहीं सो पाता—अन्यथा बिना हवा के भी सागर में हर समय बड़ी-बड़ी लहरों के परेल न पलटते।

कुआँ जितना ही अपने आपको खाली करता है, उतना ही उसका जीवन शुद्ध, ताजा, निर्मल मधुर और अक्षय होता है, उस विद्या के समान जो 'व्यये कृते वर्धते एव नित्यम्।' खर्च करने पर दूनी बढ़ती है। सागर जितना ही अधिक अपने आपको बाहर से भरता है, उतना ही वह खारा, कषैला और अनुपयोगी होता है उस कंजूस के धन की तरह जो न उसके काम आता है और न दूसरों के।

एक तृप्ति देता है, दूसरे को चखकर मिचली आती है। एक के पानी से फसल लहराती है, दूसरा तेजाब का काम करता है। रहीम के शब्दों में सागर तू तो पोखरी–पोखरा से भी गया गुजरा है :

'धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पिअत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय।' (रहीम)

'जैसी संगति वैसा असर' इस सूक्ति को समुद्र ही चरितार्थ करता है। अच्छों के पास आने वाले बुरे लोग भी धीरे-धीरे अच्छे बन जाते हैं और बुरों की संगति अच्छों को भी बुरा बना देती है। जैसे मीठे जल वाली नदियाँ खारे समुद्र में मिलकर खारी और अपेय बन जाती हैं:—

''गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्य तोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्यभवन्त्यपेयाः॥''

बुद्धि और चतुराई के सागरों ने हजारों घर उजाड़े हैं। धन और धर्म के सागरों में मद और अहंकार के ज्वार-भाटे आते हैं। नीति और राजनीति के सागरों के तल पर अनीति और अत्याचार के सिकले घोंघे मिले हैं। शक्ति और सामर्थ्य के सागरों में भय और आतंक की लहरें किनारे तोड़ती हैं।

रत्नाकर की अतल गहराइयों में हीरे मोती जरूर हैं सफेद हाथी की तरह पर वे सर्व साधारण के लिए नहीं। न तो हीरे मोती खाकर किसी की भूख मिटी है और न किसी की प्यास। न किसी के तन को ढका है हीरे मोतियों ने और न किसी के मन को संतोष ही दिया है। सिर्फ तृष्णा की प्यासी प्यास बढ़ाई है सागर की इस सम्पदा ने और असंतोष की भूखी भूख पैदा की है।

यदि लक्ष्मी की ज्योति पैदा की है सागर ने, तो उस ज्योति से कालिख भी उगलवाई है। हीरे मोती किसी व्यक्ति विशेष को मालामाल भी करते हैं तो भय-भीत भी। कोई खुले हाथों लेकर घूम नहीं सकता; सरे बाजार बेच नहीं सकता; खरीद नहीं सकता। जितनी बड़ी चीज उतना ही चुपके-चुपके आदान प्रदान। जितनी बड़ी प्राप्ति उतना ही उसके पीछे भय !!

कुएँ में कीचड़ मिट्टी जरूर है, पर उस मिट्टी से ऐसा पसीना इकट्ठा होता है, जिसने दुनिया की भूख प्यास मिटाई है। कपास पैदा कर दुनिया का तन ढँका है। इसकी जगत पर बैठ, जगत् ने अन्न पाया है; शरीर पाया है; जीवन पाया है; सुगंध पायी है। कुआँ प्रेम है, तो सागर रुखाई। कुआँ सतल अक्षय है, तो सागर अतल अन्तहीन ! बे पेंदी वाले का क्या भरोसा ? अन्तहीन में कैसा विराम ?

परोपकारी वृत्ति भी सागर में है। जब यह समझता है कि धरती सूख रही है, उमस बढ़ गई है, संसार के किसानों की आँखें ऊपर आकाश को देख रही हैं—पर मैं फिर भी उपेक्षित हूँ—तो उस उपेक्षा से तिलमिलाकर, उसके हृदय से जो उच्छ्वास और आहें निकलती हैं—वही बादल बनकर दुनिया पर बरसती हैं। किन्तु नाम तो बादलों का ही होता है—कोई नहीं कहता कि समुद्र बरस रहा है जैसे : 'तेल जरै बाती फुकै नाम दिये कौ होइ।'

जिसने सदा आदान ही किया है, वह प्रदान क्या करेगा ? दाता होकर भी उसने अपनी छवि आदाता की ही बनायी है। □

१३. मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

सूरदास ने अपनी वन्द आँखों से एक वहुत वड़े सत्य को देखकर कहा था कि "ऊधौ मन नाहीं दस वीस" अर्थात् मन एक है–दो नहीं, दस वीस नहीं। पर यह सत्य तो वहुत वाद में चलकर ही दिखाई देता है, जव वाहर की आँखें वन्द हो जाती हैं और भीतर की आँखें खुल जाती हैं–तव। पहले तो हमें दो ही दिखाई देते हैं। एक "मैं" और एक "तू" दोही मन दिखाई देते हैं–एक "हाँ" करने वाला और एक "ना" करने वाला। एक ही आदमी में दो आदमी दिखाई देते हैं–एक वह जो आज प्रशंसा कर रहा है और एक वह, जो कल गाली देगा। दोही चहरे दिखाई देते हैं, एक वह जो आज प्रेम कर रहा है और एक वह, जो कल नफरत से पीठ में छुरा घोंपेगा। धीरे-धीरे फिर एक में अनेक हो जाते हैं और अनेकता का भाव आ जाने पर आदमी नेक नहीं रह जाता। मन की चाल एकता से अनेकता की ओर है और आत्मा की चाल अनेकता से एकता की ओर।

धर्मराज युधिष्ठिर से यक्ष ने एक प्रश्न यह भी पूछा था कि आकाश के तारों से और सिर के वालों से अधिक संसार में क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था कि मनुष्य के मस्तिष्क में विचारों की संख्या आकाश के तारों और सिर के वालों से भी अधिक है, अत: विचार भी एक नहीं। विचार विचलित कर देने वाली मन की अदृश्य लहरें हैं। विचारों की भीड़ ने ही आदमी को विक्षिप्त और पागल किया है। विचार भिन्नता ने ही अराजकता, अशान्ति, क्रान्ति और भ्रान्ति को जन्म दिया है। विचार जव तक विवेक नहीं वनता, तव तक तो वह मनुष्य को अस्थिर और अधीर ही वनाये रखता है। विखरे हुए विचार तंतु जव प्रज्ञा की रस्सी में वँधकर एक गट्ठर वन जाते हैं तो यह वँधा हुआ गट्ठर ही विवेक होता है, जिसमें विखराव नहीं घनत्व आ जाता है। अनेकता एकता वन जाती है।

जैसे, गणित के सवाल हैं–चाहे जोड़ हो, चाहे वाकी, चाहे गुणा हो और चाहे भाग! सव जानते हैं कि ये दो या दो से अधिक ही संख्याओं के होते हैं। एक संख्या का कोई सवाल नहीं हो सकता। पर रहस्य की वात यह है कि सवका उत्तर एक ही होता है। घटाओ, तो एक उत्तर और जोड़ो, तो एक उत्तर। संख्याएँ अनेक, उत्तर एक, ऐसे ही जीवन का भी गणित है–लोक से लेकर परलोक तक, या जीव से लेकर ब्रह्म तक, या नीति से लेकर राजनीति तक, या व्यक्ति से लेकर समष्टि तक–निष्कर्ष तक पहुँचते-पहुँचते अनेक का शेष भाग, एक ही रह जाता है। उस अकेले एक को ही सवके सामने छाँटकर रख दिया जाए तो क्या कोई पहचान पाएगा कि यह जोड़ था, या घटाना था, या गुणा था, या भाग था?

इसी प्रकार, जैसे हमें पहले सोपान पर खड़े होकर दिखायी देता था कि एक आदमी में कई आदमी, एक चहरे में कई चहरे, कई विचार, कई दिशाएँ घुसी हुई हैं, लेकिन गणित के निष्कर्ष की तरह अन्तिम सोवान या निष्कर्ष पर पहुँचकर एक ही दिखाई पड़ता है। वर्तमान के एक विशेष क्षण में आदमी सिर्फ एक आदमी होता है। उस क्षण विशेष में एक ही उसका विचार होता है और एक ही उसकी दिशा कि या तो वह आगे जाए या पीछे–बायें जाए या दायें,–ऊपर जाए या नीचे। पर ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही क्षण में एक आदमी एक ही साथ ऊपर भी जा रहा हो और नीचे भी, पूरब भी जा रहा हो और पश्चिम भी।

मन की भी यह स्थिति है कि या तो वह इन्द्रियों की ओर गिरता है या आत्मा की ओर उठता है। सूरदास ने उक्त पद की दूसरी पंक्ति में मन के इसी भेद को खोल दिया "एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को आराधै ईस।" श्याम संग क्या गया? मन श्याम का हो गया–श्याम ही हो गया! या समझें कि मन आत्मा हो गया–परमात्मा हो गया। अब किसी ईश्वर की पूजा, उपासना की जरूरत नहीं। जब एकाकार हो गये तो दूरियाँ मिट गयीं। जब तक अलगाव है, दूरी है–तभी दो हैं अन्यथा सब कुछ एक है। एक ईश्वर है, एक धरती है, एक मनुष्य है। फिर मन्दिर में खोजने की जरूरत नहीं, मस्जिद में पुकारने की जरूरत नहीं। मन ही मन्दिर है, मन ही मस्जिद और मन ही खुदा है। जरा गर्दन झुकाकर झाँकने की जरूरत है:

'दिल के आईने में है तस्वीरे यार। जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।'

मन बड़ी जटिल पहेली है। जो हम हैं, उसी को नहीं समझ पाते। मनुष्य जब तक मन के पार जाकर आत्मस्थित नहीं हो जाता, तब तक तो वह मन के अधीन ही है। अथवा कहें कि वह सिर्फ मन ही है तो अत्युक्ति नहीं और मनुष्य जब मन ही है, तो मन को कैसे समझ पाएगा? समझने वालों ने समझ कर यही निष्कर्ष दिया है कि मनुष्य वैसा ही होता है, जैसे उसके मनोभाव होते हैं। उसका मन प्रगाढ़ता से जो सोचने लगता है, धीरे-धीरे वह वही होने लगता है। मन ही शैतान बनाता है और मन ही फरिश्ता। मन कहीं और हो तो, जो सामने है–वह दिखाई नहीं देता। जो कानों तक पहुँच रही है–आवाज़, वह सुनाई नहीं देती। मन कहीं और हो तो, पैर भले ही चलते रहें, पर पता नहीं चलता कि हम कब, कैसे यहाँ आ गये?

मन कहता है कि देख! तो देखते हैं हम! मन कहता है कि चल! तो चल देते हैं हम। शरीर की गाड़ी का चालक मन ही है। विचार मन की तरंगें हैं, करवटें हैं, श्वास–प्रश्वास हैं। अतीत मन का बिछौना है और भविष्य उसका ओढ़ना! स्मृतियाँ, आकुली, पश्चात्ताप, सम्भावनाएँ, अपेक्षाएँ, कल्पनाएँ मन के सारहीन सपने हैं! बस बेहोशी में भरे हुए खर्राटे ही उसका वर्तमान हैं, जिसको वह न देख पाता है, न सुन पाता है और न यथार्थ में बदल पाता है। अपनी बड़-बड़ाहट और खर्राटों को सोते हुए आदमी ने कभी सुना है?

यह संसार मन का खेल है, मन का विस्तार और मन का ही फैलाव है। सारे रिश्ते और नाते मन के बहलाव के साधन हैं। हानि और लाभ मन की ही कल्पनाएँ हैं। उत्थान और पतन मन की ही मान्यताएँ हैं, जीत और हार मन की तराजू के दो पलड़े हैं। शरीर मन का धरातल है। इस धरातल से मन जब उठ जाता है तो आत्मा हो जाता है, और आत्मा जब शरीर के धरातल पर उतर आती है तो मन बन जाती है। दोनों ही एक रस्सी के दो छोर हैं। दोनों ही अदृश्य हैं। देखते-देखते मन, वैसे ही आत्मा में बदल जाता है, जैसे देखते-देखते रात दिन में बदल जाती है। रात में ही दिन छिपा है और दिन में ही रात! बस, खोज की दृष्टि से चाहिए और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।''

मन जब सारे तनावों, आग्रहों, दुराग्रहों, संकल्पों, विकल्पों, अपनों और परायों से मुक्त होता है, तो उसकी निकली हुई आवाज सच्ची भविष्यवाणी सिद्ध होती है। उसी से निकले हुए शब्द आशीष और शाप बनते हैं। उसी के देखे हुए अपने यथार्थ होते हैं। ऐसे ही मुक्त, शुद्ध मन से कही हुई बात और किये दुए कर्म का परिणाम सुफल, आनन्द, सुख और विकास होता है। ऐसे ही मन में सारे तीर्थ, सारे देव, सारी शक्ति और सारी सृष्टि बसती है—"जो मन चंगा तो कठौती में गंगा।"

मन अब पवित्र और समाधिस्थ होता है तो उससे नीति, सूक्ति और मन्त्र निकलते हैं और मन जब दूषित, कलुषित होता है तो उससे भ्रष्ट राजनीति, निन्दा, अपशब्द और छिद्रान्वेषण की दृष्टि पैदा होती है। केन्द्रित, संयत और व्यवस्थित मन की पुकार ईश्वर भी सुन लेता है और दूसरा सच्चा हृदय भी, फिर दूरी कोई महत्त्व नहीं रखती। शकुनों का विज्ञान, स्वप्नों का विज्ञान और अंग पकड़ने का विज्ञान इस बात को और स्पष्ट कर देता है। जन-जन के हृदय में बैठी हुई यह अटल धारणा है कि जब कुछ शुभ होने को होता है, या किसी प्रिय से भेंट होनी होती है या कोई अपना व्यक्ति गहराई से याद कर रहा होता है तो पुरुषों के दाएँ और स्त्रियों के बायें अंग फड़कने लगते हैं। मन अनायास ही आनन्द–तरंगित होने लगता है। सुन्दर सपने आने लगते हैं। मथुरा में बैठे रत्नाकर जी के कृष्ण ने गोपियों को सच्चे मन से याद किया था तो समूचे ब्रज की ओप और आभा ही बदल गयी थी और विरहिनियों के बाएँ अंग फड़कने लगे थे "बिरहिन वमिनि के वाम अंग फरके।" इसके अतिरिक्त विपरीत शुकनों से अशुभ की धारणा भी इसी प्रकार प्रचलित है।

ये शकुन आदि सही हों या न हों, पर एक बात अवश्य है कि जो सोच– अच्छा या बुरा, जब मन में घर कर बैठ जाता है तो देर-सबेर वह अवश्य सच हो जाता है और उक्ति चरित्रार्थ हो जाती है कि "मन के हारे हार है, मन के जीत जीत।" इस कथन पर जब गहराई से विचार करते हैं तो यह दुरंगा दिखायी देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह आगे भी देखता है और पीछे भी, यह धनात्मक

भी है और ऋणात्मक भी। अर्थात् हार-हार ही नहीं है, जीत भी है और जीत, जीत ही नहीं है,–हार भी है। जैसे, हारने वाला व्यक्ति, हारा हुआ दिखायी देता है पर हारता नहीं, अपितु जीत के प्रयास में लग जाता है। उसका मन पराजय स्वीकार नहीं करता, अपितु पहले से अधिक जागरूक होकर अपनी क्षतिपूर्ति में जुट जाता है। वह होश को उपलब्ध हो जाता है। उसके सामने एक लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। धुँधलका छट जाता है। सावधानी और चैतन्य की उपलब्धि हारने के बाद ही होती है। अपनी कमियाँ तभी दिखाई देती हैं। आत्म निरीक्षण तभी करता है आदमी। प्रतिपक्षी को जीतने की तरकीबें हारने के बाद ही सूझती हैं। जो कभी हारा नहीं, असली जीत के आनन्द से वह बंचित रह जाता है। जो हार को भी अपने दृष्टि-पथ में रखकर चलता है, वह दुःख, चिन्ता, शोक, पश्चात्ताप और किंकर्तव्य विमूढ़ता आदि का शिकार नहीं होता।

कुछ विचारकों का मत है कि जो पहले हारने को तैयार है, वह शोक संतप्त नहीं होता। यद्यपि यह सही है, लेकिन सही यह भी है कि कुछ पहुँचे हुए इने-गिने महामानव ही इस कसौटी पर चढ़ पाते हैं। आम तबके का आदमी तो इससे उलट ही जाता है। क्योंकि जो हारने के लिए तैयार है, उसका जीवन निष्क्रिय, प्रगतिहीन, उत्साहहीन, निराश और जड़ भी हो सकता है। जीत की कामना ही व्यक्ति को कर्म के लिए प्रेरित-उत्साहित करती है। जब जीत की कामना ही नहीं, तो उत्साह मर जाता है, गति धीमी हो जाती है. व्यक्ति लक्ष्यहीन हो जाता है। जानकारी अधकचरी रह जाती है, कूप मंडूकता के दायरे में आ जाता है और विचार संकीर्ण हो जाते हैं। उसका न आत्मिक विकास हो पाता है और न भौतिक, न माया मिल पाती है और न राम।

बाहर की, शरीरों की अथवा लौकिक हार-जीत, असली हार-जीत नहीं है। असली हारजीत तो मन की होती है। बाहर की जीत प्रकारान्तर से मनुष्य को मनुष्यता से और उसकी अस्मिता से गिरा देती है। यह जीत उन्माद को, अदूरदर्शिता को, विलासिता को, अहंकार को और असावधानी को जन्म देती है। पृथ्वीराज इसी कारण जीतकर भी हारा था कि बिलास-वासना ने, अदूरदर्शिता ने, असावधानी ने और जीत के उन्माद ने उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी। वह भूल गया था कि चोट खाये साँप को और हारे हुए शत्रु को कभी क्षमा नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा होता तो श्रीराम ने रावण को और श्रीकृष्ण ने कंस और कौरवों को सिर्फ परास्त कर, जीवित छोड़ दिया होता। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। पृथ्वीराज हारकर ही जीता। फूटी आँखों से भी उसने लक्ष्य-भेदन किया। शत्रु के शिकंजे में कसे होने पर भी उसने हीनता को आने न दिया और स्वाभिमान को जाने न दिया। शत्रु के हाथों न मारा जाकर अपने ही हाथों मर जाना उसकी सबसे बड़ी जीत थी।

उधर गौरी हारता रहा–हारता रहा और सत्तरह बार हारकर भी नहीं हारा। क्योंकि वह मन से नहीं हारा था। वह शत्रु की कमजोरी तलाशने में और

अपनी शक्ति बढ़ाने में अविरल लगा रहा। प्रतिशोध का काँटा उसको जगाता रहा और अवसर की घात उसको दौड़ाती रही। छल-कपट और कूटनीति ने उसे विश्वास-घात कीं रस्सी दे दी, जिसमें उसने पृथ्वीराज का गला फाँस लिया था। अन्त में वह जीत कर ही हारा। क्योंकि हारते समय जो उसे अनमोल निधि मिली थी—भारत की वीरता की, क्षमाशीलता की, निरहंकार की–वह उसके जीतने के बाद, विश्वास-घात की शिला के नीचे दब गयी। बाहर से जीतकर भी उसका मन पृथ्वीराज का कायल था, पृथ्वीराज से हारा हुआ था।

पाण्डव सबकुछ हारने के बाद ही जीते और कौरव सबकुछ जीतने के बाद समूल नष्ट हो गये। और जीतने के बाद पाण्डव ऐसे हारे कि हिमालय में गल जाने के अतिरिक्त उन्हें और कोई चारा न मिला। सिकन्र, हिटलर, नादिर, तैमूर जैसे जीते हुए लोग हारने वालों के अन्यतम उदाहरण हैं। शंकरचाय को, मंडन मिश्र की पत्नी से मिली पहली हार, उनकी अन्तिम जीत की भूमिका थी। जो जीत के लिए सारी मान-मर्यादा और नीति को ताख पर रख देता है, वह मन का हारा हुआ व्यक्ति है और जो हार को भी ऐसे मुसकराकर देखता है, जैसे कि वह ईश्वर का वरदान हो, वह मनका जीता हुआ व्यक्ति है।

आजकल जो हिंसा की राजनीति में, आतंकवाद में, अलगाववाद में, पद की छीनाझपटी में जातिवाद और वर्गभेद से मानवता को बाँटने में लगे हुए लोग हैं, वे मनके हारे हुए लोग किसी भी कुकर्म और अधम में बेहिचक उतर जाते हैं। वे अपने मन की हार को बाहर की जीत के दिखावटी पद से ढकते हैं। चिढ़ना, बदला लेना, चोरी करना, हत्या करना आदि सब पराजित मन की ही प्रवृत्तियाँ हैं। एक परास्त् मन वाला व्यक्ति बाहर की दुनिया को मिटाने की कोशिश करता है, लेकिन एक ऐसा भी होता है जो बाहर कुछ नहीं बिगाड़ पाता, अपितु अपने आपको ही मिटा लेता है। जैसे घरों में रहने वाली छोटी चिड़िया, दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब पर चोट मार-मारकर, अपने मुख को लहू लुहान कर लेती है।

जो मन से हार जाता है, उसके लिए संसार बुझ जाता है। वह खाल की धोंकनी की तरह, बस साँस लेता और छोड़्ता हुआ दिखाई भर देता है, पर जीवित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसमें न तो किसी आग को सुलगाने की क्षमता होती है और न किसी तिनके को उड़ाने की। ऐसा मरे मन का आदमी निष्क्रिय, निश्चेष्ट, निरानन्द और निर्बुद्धि होकर या तो आत्म हत्या कर लेता है या जीता भी है तो किसी को मुँह नहीं दिखाता। कुण्ठित होकर भीतर ही भीतर सड़ जाता है।

उधर, बाहर से हारकर भी, जिसने मन से हार नहीं मानी है, वह उसी प्रकार सचेतन और जीवन रस से अनुप्राणित होता है जैसे, गर्मी और लू से झुलसा हुआ वह वृक्ष जिसकी पत्तियाँ और फूल तो मुरझा गये हों, लेकिन कहीं गहराई में, जिसकी जड़ें हरी बनी हुई हों—जो कालान्तर में. अनुकूल मौसम-बरसात आने पर फिर से हरा भरा हो जाता है। अपनी अनथक जीवनी शक्ति से वह स्वयं तो मस्ती

में झूमता ही है, साथ ही थके हुओं को आश्रय, तपे हुओं को छाया और भूखों को भोजन भी देता है। ऐसे ही, उत्साही और मनोजयी व्यक्ति प्रतिकूल में से अनुकूल को खींच लेता है। निराशा के अँधेरे में उसे आशा का सूरज दिखायी देता है, विषाद के विष में उसे आनन्द के अमृत की लहर दिखायी देती है, शूलों को पारकर फूलों की गंध उसके नासा-रंध्रों तक पहुँचती है, हार में उसे जीत की गुनगुनाहट सुनायी देती है। वह दुनिया के लिए एक ऐसा आलोकित पथ बनाता है, जिस पर चलकर भूले राही भी मंजिल पर पहुँच जाते हैं। □

१४. प्रेम और वासना

जैसे क्रोध की पहचान क्रोधी को और अहंकार की पहचान अहंकारी को ही होती है, वैसे ही प्रेम की पहचान वासना के धरातल से सर्वथा ऊपर उठे हुए प्रेमी को ही होती है। प्रेम तत्त्व दिव्य है, भव्य है, दुर्गम है, अकथनीय है। मैं इसीलिए अभी इस प्रेम की बात नहीं कह सकता क्योंकि इससे मेरा साक्षात्कार अब तक नहीं हुआ है। पढ़ा है, पर अनुभव में नहीं आया है। अब तक जो भी अनुभव हुआ है, उसमें यह प्रेम मुझे मिलावटी ही दिखाई दिया है। अभी तो हमारा प्रेम स्वार्थ, क्रोध और घृणा का ही खोल है कि जरा सी निंदा और अपमान के झोंके से वह खोल उड़ जाता है। इसलिए वह शुद्ध प्रेम नहीं है—मिलावटी है—क्योंकि—

यदि समलिंगी या सजातीय प्रेम है तो उसमें स्वार्थ घुला हुआ है; यदि अपने से छोटे व्यक्ति से प्रेम है तो उसमें शोषण और अपनी सेवा कराने की भावना छिपी है। यदि जन सामान्य से विशिष्ट, किसी व्यक्ति से प्रेम है तो वह कच्ची श्रद्धा है। यदि किसी अलौकिक या दिव्य शक्ति से प्रेम है तो वह आधी अधूरी भक्ति है। यदि किसी भिन्न लिंगी से प्रेम है तो उसमें कहीं न कहीं वासना छिपी बैठी है। माता-पिता का प्रेम, भाई–बहन का प्रेम, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम आदि को एक-एक कर देखें तो—माता-पिता का प्रेम तभी है, जब तक कि हम समझदार नहीं। हमारी समझ बढ़ जाने पर माँ-बाप ना समझ हो जाते हैं और बच्चे जब माँ-बाप बन जाते हैं तो वे माँ-बाप उपेक्षित हो जाते हैं। उनकी मौत की प्रतीक्षा आरम्भ हो जाती है।

भाई-भाई के प्रेम के बीच शत्रुता सदा मौका तलाशती रहती है और भूमि, भवन, धन, स्त्री वही मौके हैं, जो विघटन और भेद की स्थायी दीवारें बनकर भाई को भाई से अलग कर देते हैं। बहिन का प्रेम जिन्दा है देने से, सिर्फ उसी को नहीं, उसकी सन्तान की सन्तान को भी देते रहो तो ही बहिन के लिए भाई है, न तो कसाई।

प्रकृति के बीच रहकर भी हमारी आँख में या हृदय में कहाँ है प्रकृति-प्रेम ? या तो हम किसी कवि की आँख से देखते हैं प्रकृति प्रेम को या किसी चित्रकार की आँख से। दूसरों की कविता और गीत गुनगुना कर हम अपना प्रकृति प्रेम जताते हैं। अदृश्य भगवान् का नाम लेकर न जाने कितने हँसते-मुस्कुराते फूलों की हत्या कर डालते हैं। अपने पेट की आग बुझाने के लिए न जाने कितने हरे-भरे वृक्षों को आग में झोंक देते हैं—चोरी से काटकर बेच देते हैं। यह हमारा प्रकृति प्रेम है ! पशु-पक्षियों के प्रति कितना गम्भीर प्रेम है ? इसका पता तो तब

लगता है जब कोई दूध देने वाला पशु दूध देना बन्द करदे या बोझ ढोने वाला पशु बोझ ढोने में असमर्थ हो जाए। विविध प्रकार की चिड़ियाँ यदि पकी फसल के ऊपर आकर कलरव करने लगें तो उनके ऊपर हमारा कितना है प्रेम, भलीभाँति प्रकट हो जाएगा।

देश-प्रेम तक पहुँचने की एक राह पड़ौस प्रेम से भी निकलती है और हममें से कितने ऐसे हैं, जिनको अपने पड़ौस से सच्चा और निस्वार्थ प्रेम है ? पड़ौसी से यदि प्रेम होता भी है तो वह प्रेम नहीं, प्रेम का अभिनय होता है—सिर्फ एक नाटक, जिसके भीतर अपने आड़े वक्त में काम आने का, अपने न रहने पर घर की सुरक्षा बनी रहने का, स्वार्थ निहित रहता है। इस पर भी हम यदि प्रेम के महा-काव्य रचें तो रच सकते हैं। कोई रोकने वाला नहीं।

प्रेम, न लिखने की वस्तु है, न पढ़ने की। न खरीदने की वस्तु है न बेचने की। न लेने की चीज है, न देने की। हाँ प्रेम देना हो सकता है, सिर्फ समर्पण अपने "अहं" अपने होने को भूल जाना, प्रेम की ओर पदार्पण है। अपने आलम्बन का होना ही अपना होना हो और आलंबन का न होना अपनी समाप्ति—जैसे पानी और मछली, जैसे धड़कन और जीवन ! तब कहीं प्रेम को जाना जा सकता है।

वासना— वासना की बात कुछ जम सकती है—क्योंकि इससे रोज, दिन हो या रात, पूजा हो या प्रार्थना, सेवा हो या शिक्षा--मुलाकात होती रहती है। मुलाकात भी यों ही आयी-गयी नहीं, इसकी छाया भीतर उतर जाती है, फिर कल्पनाओं में बड़े रसचित्र उतारती है यह वासना।

वासना एक ऐसी अनचीती कामना की लता है, जिसका अंकुरण बचपन के खिलौनों की सामान्य इच्छा से शुरू होकर यौवन के रूपजल की चाहों और आहों से पल्लवित होता हुआ बुढ़ापे की एषणाओं और तृष्णाओं के काल्पनिक फलों में अतृप्त भाव से परिणत होता है।

सारी जिन्दगी, वासनाओं के इन्हीं विभिन्न तंतुओं से बुनी हुई एक चादर है, और जो इस चादर को समय-समय पर आत्मालोचन और विवेक के जल से धोते रहते हैं, उनकी चादर में दाग नहीं लग पाते—और जो विवेक को ही इस चादर से ढककर ओढ़े फिरते हैं तो फिर दाग धब्बों से उसे बचाना मुश्किल है।

वासना मूलतः विषयिनिष्ठ होती है, विषयनिष्ठ नहीं। यह एक स्थायी भाव है जो आश्रय के भीतर सदा सोया रहता है और आलम्बन को देख जग जाता है। फिर अतिशय नैकट्य, अतिशय सान्निध्य पाकर मसलन और घर्षण से तृप्त होकर फिर सो जाता है।

हमारे मन में विविध भावों को जगाने के मूल कारण बहुत कुछ शब्द और उनके अर्थ ही हैं। जब तक हमें किसी शब्द का अर्थ मालूम न हो, तब तक मन में कोई भी भाव नहीं उठता चाहे उस शब्द को तोते की भाँति रटते रहो। अर्थ का

पता चल जाने पर विभिन्न प्रकार की खट्टी-मीठी अनुभूतियाँ आना शुरू हो जाती हैं—फिर भावनाएँ—फिर चेष्टाएँ—फिर प्रयत्न और फिर अच्छी या बुरी क्रियाएँ। अर्थ सब अनर्थों का भी मूल है।

जैसे एक बार स्वाद चख लेने के बाद फिर कभी नींबू और इमली का नाम आ जाने पर मुँह में पानी आ जाता है, उसी प्रकार अर्थ की जानकारी हो जाने पर वासना शब्द अपना जादू भीतर दिखाना आरम्भ कर देता है। आदम और ईव ने जब तक उस विशिष्ट वृक्ष के फल नहीं खाये तब तक पास रहकर भी वासना पास नहीं आई। किन्तु जैसे ही उन्होंने उन फलों को खाया कि वासना पैदा हो गयी। वे फल 'शब्द' थे और उनका रसास्वादन 'अर्थ' था। वह 'अर्थ' ही वासना के जागरण का, और 'वासना' विश्व-सृष्टि का हेतु बनी। आश्चर्य तो इस बात का है कि इस 'वासना' के वर्तन में न जाने कब और किसने "बुरे" अर्थ-जल को भर दिया कि जिसे पीकर और न पीकर भी सब बुरा ही कहते हैं। पर एक विरोधाभास यह भी है कि वासना का नाम आते ही बाहर दिखाने को तो नाक भौं सिकुड़ जाते हैं किन्तु भीतर चित्त की कलियाँ खिलने लगती हैं, उनकी रंगीन कोपलें विकसित होने लगती हैं। जैसे व्रत का नाम लेकर बाहर खाना छूट जाता है, पर भीतर खाद्य–पदार्थों का चिन्तन चलता है। वासना, एक भूख है,—भूखे की! एक प्यास है—प्यासे की—तन की भी और मन की भी, और कौन है संसार में ऐसा जिसे भूख–प्यास नहीं लगती। यदि भूख प्यास ही मिट जाए तो यह दुनिया रह पाएगी? निर्माण हो पाएगा? फूल खिल पाएँगे? समाज चल पाएगा? प्रेम को जाना जाएगा। ईश्वर को याद किया जाएगा?

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जिस अर्थ पर समाज की स्वीकृति की मुहर लग जाती है, वही प्रचलित हो जाता है। वासना शब्द के खण्ड किये जाएँ तो इसके इस प्रचलित "कुत्सित" अर्थ से अलग और भी अर्थ हैं जैसे वास + ना = वासना। ब्रजभाषा में "बास" दुर्गन्ध या बदबू को कहते हैं। इस आधार पर वासना एक ऐसी कामना है जिसमें बदबू नहीं, दुर्गन्ध नहीं, वास नहीं। कुत्सित भाव का जिसमें निवास ही नहीं। अपितु, जिसमें अनखिले फूल की महकने वाली गन्ध, सर्जन की साँस और अकुंठा का निरन्तर वास है। वासना में वास है निर्माण का, वासना में वास है प्रेम का, सौन्दर्य का, भक्ति का, प्रवृत्ति का और वासना में सन्देश है विरक्ति का। जैसे अँधेरी के गर्भ से उजाला पैदा होता है और रोशनी की कोख से अँधेरा जन्म लेता है। इसी तरह वासना से पवित्र प्रेम, नया समय, नूतन सृष्टि, नव्य दर्शन और मन मोहन पैदा होते हैं। यह वासना न होती तो मोहन की मुरली से संगीत और मीरा के हृदय से गीत न फूटते। यह वासना न होती तो सूर के कृष्ण और तुलसी के राम भी न होते—

"कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि जिमि प्रिय दाम" (तुलसी, मानस)

सूरज में जो तेज है, आग में जो दाहक तत्व है, जल में जो शीतलता है, वायु में जो गन्ध है और आकाश में जो शब्द है—वही मनुष्य में वासना है। वासना

नहीं तो शक्ति नहीं, गीत नहीं, उल्लास नहीं, तेज नहीं, ओज नहीं और विकास की सम्भावना नहीं। वासना में दुर्गन्ध और घिन उसी दृष्टि के शीशे के लिए है जो सूरज की धूप को अपने भीतर समेटकर आग पैदा कर पदार्थ को जला देता है। अन्यथा जेठ की दुपहरी का सूरज रुई में भी आग नहीं लगा सकता, पर रुई के ऊपर आतिशी शीशे की धूप दिखाई जाए तो रुई जलने लगती है। आदमी ऐसा ही आतिशी शीशा है, जो वासना के सूरज की धूप को आग में बदलकर अपने आप को जला डालता है। विकृत वासना नहीं, यह आदमी है—

"भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।
सुधासराहिअ अमरताँ, गरल सराहिअ मीचु॥" (तुलसी, मानस)

प्रेम और वासना में लोगों ने कंचन और काँच का अन्तर बताकर कंचन को अमूल्य और काँच को निर्मूल्य घोषित कर दिया है। कीमत के हिसाब से कंचन भले ही कीमती हो, पर मूल्य काँच का अधिक है। कंचन और कामिनी वासना के जनक हैं। कंचन दाग पैदा करता है। दर्पण तो हमारे चहरे के दाग को दिखा देता है और यदि हम अपना दाग देखकर भी बेदाग होने का प्रयास नहीं करते, तो यही वासना ग्रस्त होना है। दाग को देखकर भी दागी ही बने फिरे हम, तो न दाग का दोष है, न दर्पण का। वासना ने हमें नहीं पकड़ा, हमने ही वासना का दाग लगा रखा है। काँच तो खाली है। हम ही उसमें अपना रूप देखते हैं—हँसते हुए या रोते हुए, जैसी आकृति लेकर हम उसके सामने जाएँगे हमारे उसी रूप को वह दिखा देगा। सुन्दर और कुरूप, दागी और बेदाग तो हम ही हैं—दर्पण नहीं। उसके सामने से हटते ही हमारी छाया भी उसमें नहीं रहती। यदि वासना काँच या दर्पण के समान होती तो सारी बात ही बन जाती, फिर तो अपना दाग देखकर उसे धोनें की फिकर होती, उससे मलिन होने की नहीं।

वासना शब्द को हमने एक विशेष अर्थ में रूढ़ कर दिया है—इसीलिए वह कुत्सित हो गयी है। अन्यथा, यदि इस शब्द को किसी महाशक्ति के पर्यायवाची शब्दों में रख दिया जाता (जो मूलतः महाशक्ति ही है क्योंकि सारा विश्व इसी के कारण उत्पन्न हुआ है) तो फिर इसका यह कुत्सित अर्थ न होता। सम्बन्धों के अर्थ-ज्ञान से वासना पैदा भी होती है और इसी अर्थ-ज्ञान से वासना मर भी जाती है। जैसे सुन्दर युवती का नाम आते ही एक बूढ़ा भी मचल उठता है और किसी जर्जर बुढ़िया का नाम सुनकर कोई कामातुर युवक भी विमोहित नहीं होता। प्रेमिका के सम्बन्ध-ताप से हृदय की पतीली में जो उफान आने लगता है, वह अपनी सगी माँ का नाम आते ही उसी प्रकार बैठ जाता है, जैसे उफनती हुई दाल में पानी पड़ जाने से उफान बैठ जाता है।

आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम का अन्तर बताते हुए कहा कि 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण।' यहाँ हम कहना चाहेंगे कि यदि वासना स्वप्न है तो प्रेम जागरण। क्योंकि दिन में प्रेम, स्वप्न में वासना होती है। प्रेम और वासना में अन्तर

तो है, पर उतना ही जितना तृप्ति और अतृप्ति में, जितना चाह और प्राप्ति में, जितना दर्शन और स्पर्श में।

डाल पर लगे हुए सुन्दर फूल को अलग खड़े देखते रहें, तो लोग इस देखने को प्रेम कहते हैं, और फूल के पास जाकर, एक चाह के खिचाव के कारण उसे तोड़-कर सूँघ लिया, काज में टाँक लिया तो यही वासना बन गयी। सरस व्यंजनों को गिनाते रहें—सुन्दर साहित्यिक नाम ले लेकर, उन पर गीत लिखते रहें, सराहते रहें तो प्रेम कर रहे हैं और खाकर भूख मिटालो तो वासना बन गयी। ठण्ड के मारे सिसिकते रहें, रंगीन रजाई गद्दों के विज्ञापन देखते रहें, कम्प, पुलक, रोमांच आदि संचारियों की काव्यशास्त्रीय समीक्षा करते रहें, धूप और आग की परिभाषा बनाते रहें, तो यह प्रेम है और आग के निकट बैठकर धूप या रजाई में लेटकर शरीर के शीत को दूर कर लिया, तो यह वासना है। प्यासा आदमी नदी किनारे खड़ा-खड़ा उस बहती धारा पर कविता लिखता रहे, तो प्रेम है और नदी में घुसकर प्यास बुझा ली तो वासना बन गयी ? आश्चर्य !

वासना अव्यक्त प्रेम का विकृत व्यक्त रूप है—क्योंकि प्रेम को तो व्यक्त किया नहीं जा सकता, उसको जब भी व्यक्त करने की चेष्टाएँ की जाएँगी, वे दूषित चेष्टाएँ या क्रियाएँ वासना की परिभाषा में सिमट जाएँगी। वासना निराकार प्रेम का विकृत साकार स्वरूप है—क्योंकि जिसका कोई आकार ही नहीं, उसकी मौन के अतिरिक्त और कोई प्रतिमा बन ही नहीं सकती, जब भी उस निराकार को साकार करने के लिए कोई प्रयास किया जाएगा तो इस प्रयास में वासना का समावेश होगा—क्योंकि वासना किसी वस्तु या फल को प्राप्त करने की उत्कृष्ट इच्छा से उत्पन्न प्रयास ही है और यह प्रयास भगवत् प्राप्ति के लिए भक्ति भी है, पूजा, उपासना, व्रत और तपस्या भी हो सकता है तथा निम्न धरातल पर आकर अपनी कामेच्छा को उपशमित करने के लिए रति कर्म भी हो सकता है। भक्ति के आचार्यों ने भक्ति का स्थायीभाव भी अलौकिक रति ही बताया है और प्रेम का भी यही है। नाम बदले हुए हो सकते हैं मूल तत्त्व वही है।

प्रायः सभी पढ़े लिखों ने अंग्रेजी की यह कहावत सुनी होगी कि 'ब्यूटी इज़ टू बी सीन, नॉट टू बी टच्ड'। अर्थात् सौन्दर्य सिर्फ देखने की चीज है, छूने की नहीं। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि किसी सुन्दरता को सिर्फ दूर से देखते रहो तो ही प्रेम है, यदि उसे छू दिया तो वासना कही जायेगी। इस बात को आजमाने के लिए कोई बैरागी चित्त का आदमी या कोई सुन्दर नपुंसक युवक किसी विशिष्ट गुणवती और सुन्दरी युवती से विवाह कर ले ···· और ध्यान रहे कि उसे छूए नहीं। चाहे उसके लिए विश्व के सुख विलासों की सारी व्यवस्था कर दे, चाहे घी के दीप जलाकर उसकी आरती उतारे, चाहे प्रेम और सौंदर्य के गीत गाने के लिए कालिदास की आत्मा को आहूत करले, चाहे दुनिया के चतुर चितेरों से उसके सुन्दर चित्र उतर-वाले, पर स्वयं न उसको छुए और न उसके पास जाए तो निश्चित ही वह सुन्दरता की मूर्ति चार-छह महीने में तलाक देकर किसी छूने वाले के साथ भाग जाएगी।

जो दूर से ही देखकर सौंदर्य की बात करते हैं, वे मन से सौंदर्य की बखिया-बखिया उधेड़कर उसके पराग को पीते रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि यह आँख जिससे देखा जाता है, वही वासना के प्रवेश का पहला द्वार है। और यह कान जिससे सुन्दर शब्द सुना जाता है, वासना के प्रवेश का दूसरा द्वार है। और यह आनन जो सुन्दरता का वर्णन करता है, वह वासना के प्रवेश का तीसरा दरवाजा है। गांधी जी के आँख, कान और मुँह बन्द किये हुए तीन बन्दर वासना के प्रवेश द्वारों की किवाड़ें बन्द किये बैठे हैं। तो वासना को प्रेम में बदलने के लिए दृष्टि को रूपान्तरित करना पड़ेगा कि सार, सार दिखने लगे, असार, असार दिखने लगे। कि थैले के भीतर की असलियत दिखने लगे। कि सुन्दर गोरी चमड़े की थैली में भरे मांस, हड्डी और मवाद दिखने लगें। पर हम भीतर नहीं देखते इसीलिए बाहर मर मिटते हैं और वासना हमें दागी बना देती है। वासना हमें वासना नहीं दिखाई देती इसीलिए हम वासना ग्रस्त हैं। तटस्थ दृष्टि से वासना को देखने की जरूरत है—बिना देखे उसके निषेध की नहीं, और जिस दिन वासना दिखने लगेगी, उसी दिन उससे पीठ फेर हम प्रेम की ओर मुँह कर खड़े हो जाएँगे।

'प्रेम' सुधा और 'वासना' विष है। प्रेम के निषेध से वासना जन्म लेती है और वासना के निषेध से कुंठा और तनाव पैदा होते हैं। कुंठा और तनावों से मन का उल्लास मर जाता है और उल्लास समाप्त हो जाने से उद्विग्नता घेर लेती है। उद्विग्न आदमी या तो पागल हो जाता है या ज्ञान और चिन्तन में उतर जाता है। श्रीकृष्ण के अनुसार यदि यह चिन्तन असत् का है तो फिर इससे संग, संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति विभ्रम, स्मृति-नष्ट होने से बुद्धि नाश आदि पर हिचकोले खाता हुआ पुरुष सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है।

इसके विपरीत यदि चिन्तन सत् है तो आदमी द्रष्टा बन जाता है और द्रष्टा फिर निर्लिप्त होकर काम को और क्रोध को, चिन्ता और विषाद को, जिन्दगी और मौत को केवल देखता है, स्वयं अलग होता है।

वासना ग्रस्त व्यक्ति को ही दूसरे शब्दों में कामातुर कहा जाता है। कामातुर के प्रमुख लक्षण "कामातुराणां न भयं न लज्जा" अर्थात् निर्भयता और निर्लज्जता बताये गये हैं। दुनिया में ऐसा व्यक्ति मिलना मुश्किल है—जो निडर हो. जिसमें लाज न हो। या तो कोई योगी, वीतरागी ही ऐसा हो सकता है या फिर कोई कामी, क्रोधी और लालची ही। वासनाग्रस्त किसी योगी से कम नहीं होता कि वासना की साधना करते हुए उसे कोई गाली दे प्रशंसा करे, उस पर जूते बरसें या फूल, फलदार वृक्ष या गुणवान् व्यक्ति की तरह उसका सिर झुका ही रहता है। परम ज्ञानी की तरह अपने ऊपर बरसते जूतों की चोट को खड़ा-खड़ा मुसकराकर देखता है "इनकी जिन्दादिली को क्या कहिए, जूते खाते रहे मुस्कुराते रहे।" इनकी दृष्टि में दुनिया की मार और अपशब्द तुलसीदास जी की वाणी को चरितार्थ करते हैं कि—

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन संत सह जैसे ॥ (तुलसी, मानस)

इन महासंतों के लिए दुनिया के लोग खल ही हैं। कोई कुछ भी बके इन्हें अपने काम से काम।

वासना आदमी को महात्यागी और महादानी बना देती है। किसी को चवन्नी तक न देने वाला, अपनी वासना पूर्ति के लिए, जर-जेवर तक लुटाकर कर्ण का दादा बन जाता है। वेश्याओं की तराजू में स्वयं को समूचा चढ़ाकर, दानी शिवि से भी ऊपर उठ जाता है। भक्त, प्रेमी और योगी का साध्य-आराध्य कोई एक ही होता है, पर वासना ग्रस्त कामी का लक्ष्य एक निष्ठ नहीं, अनेक निष्ठ होता है। "शुनि चैव श्वपाकेच" की भूमिका में पहुँचकर वह गधी, घोड़ी, कुतिया, भैंस, पुंलिंग, स्त्रीलिंग सब में एक ही परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है—'बूढ़ा मरे या जवान, इन्हें हत्या से काम।" एकेश्वर बाद में कामी का यकीन नहीं होता, बहुदेववाद क्या हर जीवधारी में वह अपने आराध्य को ताक लेता है।

वासना की साधना खण्डित होते देख आदमी प्रचण्ड क्रोधी भी हो जाता है। यदि कोई शकुन्तला उसकी गिड़गिड़ाती गुहार को कानों पर होकर उतार जाती है, तो वह दुर्वासा बनकर शाप ही नहीं देता, गला दबाकर अपना काम पूरा कर चलता बनता है।

वासनाग्रस्त के सन्तोष को असन्तोष खींचता रहता है, निकटता को दूरी खींचती रहती है, अपने को पराये खींचते रहते हैं। जो चीज उसको मिल जाती है, वह मिलने के बाद ही व्यर्थ हो जाती है और आँख फिर उस पर टिक जाती है, जो नहीं है, जो अप्राप्त है, दूर है।

वासना की बास उठती है—पर्दे के भीतर से, आवरण के पीछे से और ढक्कन के नीचे से। यह ऐसी गंध है, जिसको नाक नहीं, आँख सूँघती है—और चारों ओर सूँघती फिरती है। वासता की ऐसी भूख है जो पेट में पैदा नहीं होती, मन के उकसाने पर किन्हीं विशेष इन्द्रियों में पैदा होती है और इन्द्रियाँ पशु से अधिक मंनुष्य की वेगवती तथा शीघ्र ग्राहिणी होती हैं। इसीलिए वासना का निवास पशु में नहीं, मनुष्य में होता है। □

१५. जि़न्दगी और मौत

बड़ी रुचि और प्रेम से मुँह में दबाया हुआ पान, थूका ही जाता है; आँख की कमनीयता के लिए लगाया हुआ काजल, धोया ही जाता है; वेश कीमती वस्त्र फट जाने के पश्चात्, फेंका ही जाता है; सौन्दर्य-वर्द्धक अवलेप (पाउडर) कुछ समय बाद मैल की परत बन जाता है। विपत्ति ग्रस्त व्यक्ति, उजड़ा हुआ चमन और पद-मुक्त अफसर कितने ही बुद्धिमान्, मूल्यवान् और बलवान् रहे हों एक दिन उपेक्षित कर दिये जाते हैं। आँखों से नीचे गिर जाने के बाद आँसुओं को, उँगलियों से अलग हो जाने के बाद नाखूनों को, उखड़ जाने के बाद हीरे से दाँतों को, कट जाने के बाद शोभाशाली अलक जाल को, मुरझा जाने के बाद सतरंगी फूलों को और मर जाने के बाद प्रेम और रूप की खान प्रियतमा को, एक दिन भी सँभालकर कोई अपने पास नहीं रखता।

जिन्दगी, मौत की मुख्य प्रतिज्ञा है और मौत जिन्दगी की निष्पत्ति। जिन्दगी की यात्रा मौत की ओर निरन्तर जारी है और मौत हाथ पसारे उसे सीने से लगाने के लिए प्रतीक्षारत है। जिन्दगी सरिता है तो मौत सागर। मौत को आदमी ने सबसे बड़ा भय बना दिया है, किन्तु भय मौत में नहीं, अज्ञान में है। यहाँ मौत के ज्ञान की बात तो दूर मौत के नाम पर भी पर्दा डाला जाता है। जिससे बचा जा रहा है, वह अनिवार्य रूप से हावी है। किसी बच्चे की माँ या बाप मर जाता है तो अस्पताल जाने के बहाने बताकर उसे अज्ञान में धकेल दिया जाता है। शव, शव-यात्रा और श्मशान को देखना और बोलना हमारे समाज में अभिशाप है। मौत से बड़ा कोई धर्म नहीं, मौत से बड़ा कोई दूसरा सत्य नहीं।

जिन्दगी एक ऐसी अबूझ पहेली है, जिसका समाधान केवल मृत्यु के ज्ञान में निहित है और मृत्यु कबीर की उलट बाँसी की तरह है जो देखने में भयंकर और विकट लगती है, पर जिसका अर्थ बड़ा सरल और सुखकर है। जीवन इच्छा और तृष्णा का बेतरतीब फैलाव है तो मृत्यु उस फैलाव की सीमा। मृत्यु एक ऐसा अजीब हादसा है जो तोड़ते ही जोड़ना शुरू कर देता है। किसी का इकलौता बेटा मर जाता है तो आँसुओं में दूसरे बेटे की छवि झलमलाने लगती है और उसको पैदा करने के लिए तंत्र-मंत्र, औषधि आदि सभी उपाय आदमी अपनाता है। किसी की पत्नी मर जाती है तो दूसरी पत्नी के सपने शुरू हो जाते हैं। यदि खुद की इच्छा नहीं होती तो शोक-सहानुभूति देने वाले लोग उसे दूसरे विवाह की सलाह देने लगते हैं। और व्यक्ति मौत से टूटकर फिर जिन्दगी से जुड़ता है। किसी का पति मर जाता है तो ख्यालों में दूसरा जुड़ जाता है।

यह झूठ है कि हम स्वजन के मर जाने पर दुःखी होते हैं। हमें शोक और

विषाद स्वजन के मरने का ही नहीं, अपितु हम इसलिए दुःखी हैं कि उसके न रहने पर हम अकेले रह गये, उससे हमारा जो स्वार्थ सिद्ध होता था, अब वह सहारा टूट गया। वह हमसे प्रेम करता था, हमारी सेवा करता था हमारे खाने-पीने का प्रबन्ध करता था। उसके रहते हम आजाद थे—अब विवश हो गये। तब दुनिया की बातों की फिकर नहीं थी—अब अंकुश लग गया। अच्छा खाएँगे-पिएँगे, पहनेंगे, घूमेंगे तो दुनिया क्या सोचेगी ? किसी के घर जाने में हिचक, पर स्त्री या पर पुरुष की ओर आँख उठ गयी तो कलंक। प्रिय था, तब यह सब कुछ नहीं था, और अमरबेल बने हम उसी का खून चूस कर लहलहा रहे थे, जिसको अमरबेल ने ही सुखा दिया। अब पोषण नहीं मिलता तो आँसू बहाते हैं, घर द्वार छोड़ वैरागी होते हैं, अन्यथा हम किसी अनजान, अपरिचित या शत्रु की मौत से उतने शोकाकुल क्यों नहीं होते ? जाहिर है कि उनसे हमारा कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता था। वह हमारे किसी काम नहीं आता था। इसके अतिरिक्त, अतिवृद्ध, रोगी, कुकर्मी और नाकारा अपना स्वजन भी यदि मर जाता है तो हमें किञ्चित् शोक के स्थान पर हर्ष ही होता है कि चलो अच्छा हुआ, उसकी वजह से बड़ी परेशानी, बड़ा खर्चा, बड़ी बदनामी होती थी, हमारे सुख में बाधा आती थी।

जिन्दगी आने का नाम है और मौत जाने का। आने के बाद जाना अनिवार्य है। आने और जाने के दो बिन्दुओं को एक मोह का तार जोड़े हुए है। इस मोह से ही हर्ष और शोक पैदा होता है। कभी-कभी यह नियम उलट जाता है—अशुभ के आने पर शोक और जाने पर हर्ष होता है। जीवन हर्षोन्मुखी है और मृत्यु शोकोन्मुखी। जब भी हम शोक का खयाल छोड़कर हर्ष प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं, तभी से शोक हमारा पीछा करना शुरू कर देता है। जो दिखाई दे रहा है, गतिशील, उसी को जीवन कहा जाता है। और जो देखते-देखते ओझल हो गया, उसका नाम मृत्यु रख दिया गया है। जिन्दगी अकेली मंजिल तक अकेले की यात्रा है। जो भीतर से अकेला हो जाता है, उसे मौत का भय नहीं रहता। मृत्यु का भय तभी पैदा होता है, जब हम एक से दो होते हैं। दो होने पर ही शत्रु और मित्र तैयार हो जाते हैं और मित्र की मौत से कष्ट तथा शत्रु की मौत से खुशी होती है।

हमारे सम्बन्धी और स्वजन एक गाड़ी में बैठे हुए सहयात्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हर व्यक्ति के अलग स्टेशन हैं। इस वास्तविक जीवन की यात्रा में कोई भी दो व्यक्ति एक गंतव्य तक नहीं जाते। जिसका गंतव्य स्थल आ जाता है, वही साथ छोड़ उतर जाता है। वह अपनी मंजिल पर पहुँच जाता है और हम रोने लगते हैं। उसके कपड़े पकड़कर अपने ही साथ चलने को खींचते हैं और चले जाने वाला जब नहीं रुकता, बस इसी को हम मौत कह कर सिर पीटते हैं। कोई मरता नहीं, अपने गंतव्य स्थान को चला जाता है। हम बढ़े जा रहे हैं तो जी रहे हैं, मंजिल आ जाएगी तो उतर जाएँगे। जिन्दगी यात्रा है तो मौत मुकाम। जीवन संघर्षों, विरोधों और बुराइयों की राह से गुजरता है तो मृत्यु भलाई, प्रशंसा और सद्गुणों की किताब खोल जाती है। वास्तविक जीवन मृत्यु के बाद ही मिलता है।

डाल से अलग होने के बाद ही फूल देवता के सिर पर चढ़ाया जाता है। जिन्दगी, ऊँच-नीच, मनुष्य-देवता, हिन्दू-मुस्लिम, अच्छा-बुरा, राजा-रंक, आदि का भेद बनाकर देश और समाज को विघटित कर, खुरदरा करती है, तो मौत वह विशाल बुलडोजर है, जो पर्वत चोटी और घाटी सबको समतल बनाकर चिकना कर देता है। जिन्दगी आशा और प्रतीक्षा—इन दो सहेलियों के कंधों का सहारा लेकर चलती है, जबकि मौत इन दोनों का गला घोंट समय की पाबन्दी के साथ कूदती है। मौत के समान समय का पाबन्द और जिन्दगी के समान धोखेबाज़ और कोई दूसरा नहीं।

जिन्दगी, झूठ-फरेब, बेईमानी, शोषण और अत्याचार से कमाया हुआ काला धन है, जिसकी सारी पोल मौत के समय ही खुलती है। मृत्यु शंकर का तीसरा नेत्र है, जिसके खुलते ही सारी कामुकता, विलासिता, धन-वैभव का मद, शक्ति और सामर्थ्य आदि समूचे भस्म हो जाते हैं। मृत्यु सच्चा गुरु है, जो अपने दर्शन मात्र से ही व्यक्ति में कुछ क्षणों के लिए ज्ञान की अलौकिक ज्योति जला देता है। मौत के सामने यदि रोये नहीं, काँपे नहीं और सन्तुलन न खो बैठे तो मृत्युञ्जय हो सकता है।

जिन्दगी एक ऐसी झूठी छाया है, जिसकी शीतलता के अभाव में तपन भरी है, तृप्ति में गहरा असंतोष है; प्राप्ति में चाह है. प्रतीक्षा में व्याकुलता है, प्रिय में वियोग है, अप्रिय में क्रोध है. धन में मद है। मौत वह हिमानी आग है, जो दूर से धधकती है, निकट बुलाकर ठंडा कर देती है। जिसमें केवल तृप्ति है—असंतोष नहीं, जिसमें प्राप्य की प्राप्ति है—चाह नहीं, जिसमें न प्रतीक्षा है, न आकुलता है, जिसमें न वियोग है, न संयोग; जिसे प्राप्त होते ही क्रोध और मद इकसार हो जाते हैं।

जिस शरीर को हम सुन्दर और अपना समझ रहे हैं, वह तो मात्र किराये का मकान है, जिसमें एक निश्चित कालावधि तक रहने के लिए हमें भेजा गया है, परन्तु कब तक हमें इस मकान में रहना है—यह पता नहीं। मृत्यु अचानक स्थानान्तरण का आदेश है जो तुरन्त मकान को खाली करा लेता है। यदि कोई राजी से नहीं निकलता तो मकान फूँक दिया जाता है, ढहा दिया जाता है। किरायेदार को जबरन खींचकर बाहर कर दिया जाता है। जिन्दगी नियुक्ति है तो मौत स्थानान्तरण और पदोन्नति। सेवा श्रेणियों की तरह जिन्दगी और मौत की भी श्रेणियाँ हैं। कोई जीवन भर कुकर्म करता है और सुख से रहता है। कोई जीवन को सत्कर्म और सद्धर्म के साथ बिताता है और सदा दुःखी रहता है। इसी तरह कोई रोग से मरता है, कोई जलकर मरता है, कोई डूबकर प्राण त्यागता है तो कोई कटकर, किसी की सदमें से हृदय गति बन्द होती है तो किसी की अत्यन्त खुशी के कारण।

जो स्वयं जलकर, कट कर या पानी में डूबकर मरते हैं, लोग इस मृत्यु को आत्महत्या कहते हैं। गीता से सिद्ध है आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है। उसकी हत्या का सवाल ही नहीं। इसका साफ अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है कि

जिसका घर जलता है, टूटता है या पानी में डूबता है तो उसमें रहने वाला पहले तो छटपटाएगा, चीखेगा, चिल्लाएगा और फिर राह देख उसमें से निकल भागेगा। निवास जलता रह जाता है और निवासी फिर नये आवरण में, नये घर में सकुशल भेज दिया जाता है। बस लोक में इसे ही अज्ञान के कारण आत्म हत्या कह दिया जाता है। जिन्दगी सहारों पर टँगी है और मौत बहानों पर।

जिन्दगी एक सैलाब है जो अपने साथ कूड़ा करकट, पवित्र-अपवित्र सबको लेती हुई चलती है और मौत वह सूप है जो थोथे को उड़ा देता है और अच्छे को तब तक छोड़ देता है जब तक वह भी थोथा नहीं हो जाता। जिन्दगी का स्वभाव है कि उसे थोथा, कूड़ा-कबाड़ अधिक अच्छा लगता है। इसी कारण मृतक के लिए, लाश का मुँह देखने के लिए, उसे न जाने देने के लिए, मृतक की निशानी सँभालकर रखने के लिए जिन्दगी दहाड़ मारकर रोया करती है।

मौत जिन्दगी को शोक, आँसू और पश्चात्ताप देकर जाती है। शोकाकुल व्यक्ति जीते जी मरा हुआ होता है—निष्क्रिय, निश्चेष्ट और उल्लासहीन। वह भटकता है, भरमता है, अपने आप से भागता है। उस समय उसके शोक को कम करने के लिए गीता, रामायण, कुरान, पुराण सब असफल हो जाते हैं; कोई काम नहीं आता। मौत के शोक को कम करने का एक ही उपचार समझ में आता है और वह यह कि मृतक व्यक्ति के सद्‌गुणों को भुलाकर उसके दुर्गुणों को बार-बार याद करना। जबकि होता इसके विपरीत है। आदमी चाहे कितना ही बुरा हो, मौत के बाद अच्छा हो जाता है। जिन्दा व्यक्ति उसके सारे अवगुणों को भुला देता है और गुणों को बार-बार याद कर रोता है। इसीलिए मृतक की स्मृति हमारे अन्दर मोह को बढ़ाकर शोक और पीड़ा को घनीभूत करती रहती है। अपने प्रति मृतक व्यक्ति की कमियाँ ही वह कैंची है जो हमारे हृदय के मोहजाल को काट सकती है।

जिन्दगी मौत की शाखा पर पड़ा हुआ झूला है, जिस पर सारा संसार झूल रहा है और कब वह शाखा चरमरा कर टूट जाएगी, झूला कहीं और हम कहीं होंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ इने-गिने धीर और ज्ञानी पुरुषों को छोड़, अधिकांश की जिन्दगी एक खयाल, एक सपना, एक किस्सा भर बनकर रह जाती है और खयाल भंग होने के लिए आते हैं, सपने भी अधिकतर झूठे होते हैं और किस्से कुछ दिन बाद भुला दिये जाते हैं। यह भंग होना, यह असार कहा जाना और यह भूल जाना ही मौत है। मौत यदि मारने का विष है तो अमर बनाने का अमृत भी है। शरीर का नष्ट हो जाना मौत नहीं है। शरीर तो राम और कृष्ण का भी नहीं रहा पर वे आज भी अमर हैं। जितने त्यागी, सुकर्मी, युग पुरुष अब तक इतिहास बने हुए हैं वे अमर हैं। ईसा को यदि फाँसी न लगती, सुकरात को यदि जहर न पिलाया जाता और गांधी को यदि गोली न लगती, तब ये मर सकते थे' किन्तु इन्हें मौत ने ही अमर बना दिया। मरे हुए तो वे जीवित लोग हैं जिनकी सूची रावण के सामने तुलसी की भाषा में अंगद ने पेश की थी। अंगद ने कहा था

कि कामवश, कृपण, विमूढ़, अति दरिद्र, अजसी, अतिवृद्ध, सदा रोगी, बात-बात पर क्रोधित हो जाने वाला, भगवद् विमुख, अच्छे शास्त्र और सत् पुरुषों की निन्दा करने वाला, अपने ही शरीर का हर कर्म, कुकर्म से पोषण करने वाला, दूसरों की निन्दा करने वाला और पापाचारी ये चौदह प्राणी मृत तुल्य जीते हैं।

जिन्दगी दाग है तो मौत उन दागों को धोने का साबुन। जिन्दगी यदि राह भूली बुद्धि है तो मौत सत पंथ पर आने का निर्देश। लूट, कत्ल, हिंसा, बेईमानी, अत्याचार, शोषण, परिपीड़न, झूठ, धोखा, आदि अनेक ऐसे दाग हैं, जिन्होंने जिन्दगी को बदरंग कर दिया है और ये धब्बे तभी लगते हैं, जब मौत को भूलकर जिन्दगी स्वेच्छाचारिणी हो जाती है। ओस के चाटने से कभी प्यास नहीं बुझती, सूखे पत्तों की आग से कभी ठण्डक नहीं छूटती, तिनकों की नाव से कभी नदी पार नहीं होती और शोषण, झूठ, बेईमानी आदि से आदमी धनवान्, बलवान् भले ही दिख जाए बेदाग नहीं हो सकता। बाइबिल कहती है कि, 'चाहे ऊँट सुई के छेद में घुस जाए, पर ईश्वर के राज्य में धनवान् का प्रवेश नहीं हो सकता। मौत को भूली हुई जिन्दगी धन-सम्पत्ति की ओर भागती है, पद और प्रतिष्ठा की ओर दौड़ती है, हिंसा और आतंक को गले लगाती है। धन में से यदि वक्रता निकल जाए, शक्ति में से यदि आतंक निकल जाए, पद और प्रतिष्ठा में से यदि मद निकल जाए, ज्ञान में से यदि अभिमान निकल जाए, लेखन से यदि बेईमानी निकल जाए, करनी से यदि कथनी निकल जाए, शरीर से यदि हड्डी–चमड़ी की परख निकल जाए, विवाह से यदि दहेज निकल जाए, दूसरों की बढ़ती देख यदि ईर्ष्या की आह निकल जाए, भाई-भाई के बीच से यदि द्वेष और जलन निकल जाए तो जिन्दगी इतनी सरस, सरल और तेजोमयी सावित्री हो जाए कि यमदूतों की भी हिम्मत जिसके पास आने के लिए न पड़े और यमराज स्वयं विवश हो जाए, जिसको मन वांछित प्रदान करने के लिए।

पर मौत का दूसरा पहलू भी है—चार्वाक के वंशजों का। इनके लिए खाना-पीना और मौज उड़ाना ही सबसे महान् दर्शन, सबसे बड़ा ईश्वर, सबसे बड़ा न्याय और सबसे बड़ा मोक्ष है। जब तक जियो सुख विलास के साथ जियो। जी भरकर लूटो, खाओ एक दिन तो मर ही जाना है। ईश्वर और मोक्ष, स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य सब बकवास हैं। अप्राप्त की आशा में प्राप्त जीवन को दीनता, दुःख, कष्ट-अभाव, भूख से तड़पा-तड़पा कर जर्जर कर देना इस आशा में कि अगले जन्म में हमें सुख मिलेगा, स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा; महामूर्खता है। सुख सुविधाओं के साथ जीना ही स्वर्ग है और दुःख तथा अभावों में जीना नरक का जीवन है। रावण और कंस सारी जिन्दगी लूटते रहे, अत्याचार करते रहे, बलात्कार करते रहे, धन और शक्ति के बलबूते देवताओं पर पानी भरवाते रहे, पर कभी उनको बुखार तक नहीं आया, सिर तक नहीं दुखा, कभी खटिया नहीं पकड़ी, परिवार फलता-फूलता रहा, दुनिया तलवे चाटती रही, मौत चिलम भरती रही, जो मन में आ

गया, वही कर डाला और अन्त समय में उस तथाकथित त्रिलोकी को भी नाकों चने बिनवा दिये। सारी उमर किये पापों की सजा बस एकाध घण्टा मिली होगी, जब मारे गये होंगे और वह भी उनको मारा नहीं, अपने मुँह में घुसा लिया। सदा के लिए मोक्ष प्रदान कर दिया।

बड़ी विचित्र विसंगति है, जिन्दगी और मौत की। मौत के भय से जीवन फूँक-फूँक कर भी कदम रखता है तो 'मरता क्या न करता' मनमानी भी कराता है। मौत का भय जीवन से छीना-झपटी रोकता है तो भूखे से भड़ियाई भी कराता है। मौत का भय आदमी से उपवास भी कराता है तो 'भूखे भजन न होइ' कहलवा-कर कंठी माला को फिकवा भी देता है। मौत के भय से आदमी किसी का कर्ज चुकाने के लिए इज्जत, आबरू भी गिरवी रख देता है और दूसरी ओर मौत के बाद किसने क्या देखा है ? यह सोचकर पराये माल से अपनी तिजोरी भी भरता है। मौत का भय आदमी को एक पत्नी व्रती बनाकर बुढ़ापे तक विधुरावस्था में तड़पाता भी है तो किसी से बीसियों बलात्कार भी कराता है।

मौत निश्चित है, यह जानकर भी जीवन उसकी अनिश्चितता से ही गति, प्रगति, उल्लास और विकास करता है। यदि किसी को पता चल जाए कि एक माह या इतने दिन बाद वह मर जाएगा तो उसी क्षण से उसमें निराशा, निरुत्साह, कर्महीनता, पलायनवादिता, हिंसा आदि का जन्म हो जाएगा। उसके भीतर का और बाहर का सारा उल्लास आनन्द, भक्ति और नीति सब समाप्त होकर अतिशय मोह जग जाएगा, बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी और वह जीवित लाश में बदल जाएगा। अनिश्चय से विकास और निश्चय से विनाश ही जिन्दगी और मौत का दर्शन है। दूसरी ओर जिन्दगी की अवधि का निश्चय, मद, आतंक शोषण और अत्याचारों को जन्म देता है अर्थात् रावण, कंस और हिरण्यकश्यप पैदा करता है, हिटलरों को उठा-कर खड़ा करता है तो अनिश्चय काल के कुठार के भय से 'भजले हरिराम अरी रसने ! फिर अन्त समय पै हिली न हिली' आदि भाव जगाकर भक्त भी बनाता है, सन्मार्ग पर लाता है। □

१६. तरुवर फल नहिं खात हैं

स्वार्थ और परमार्थ

मनुष्य का आचार और विचार, रूढ़ि और परम्परा, कर्म और अकर्म, धर्म और विश्वास, भक्ति और मुक्ति, आस्तिकता और नास्तिकता, आना और जाना, देखना और कहना, विधि और निषेध, दया और क्रोध, वैर और प्रीति, संग्रह और त्याग, चोरी और न्याय, रक्षा और विध्वश, झगड़ा और समझौता आदि सारे करणीय और अकरणीय कृत्य स्वार्थ की धरती से ही खुराक खींचकर फैलते हैं—उस वृक्ष की तरह जो अपने नीचे की धरती को चूस-चूस कर खोखली कर देता है और ऊपर फल-फूलों से युक्त होकर कवियों की भाषा में परमार्थ का दृष्टान्त बन गया है कि—

'तरुवर फल नहिं खात हैं,
सरवर पियहिं न पान।
कह रहीम परकाज हित,
संपति सँचहिं सुजान ॥' (रहीम)

वास्तविकता जीवन और किताबी जीवन में उतना ही अन्तर है, जितना कहने और करने में। तरुवर का स्वयं अपने फल न खाने का और सरोवर का स्वयं अपना नीर न पीने का यह मानवेतर उदाहरण, सिर्फ किताबों में काम करता है, या पेड़ों, सरोवरों पर। मनुष्य पर तो इसे कहीं अपवाद स्वरूप ही खोजा जा सकता है। किसी के कहने पर न जाकर, इस बृक्ष का यदि आमूल अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि जिसे परम परमार्थी बताया गया है, उसके समान जलन, द्वेष और डाह का उदाहरण खोजना मुश्किल है। क्योंकि एक बड़ा फलदार वृक्ष अपने निकट, अपनी छत्र-छाया में किसी दूसरे पेड़ को उभरने नहीं देता, उसे फलने-फूलने नहीं देता, किसी फसल को पनपने नहीं देता और चूस डालता है, भीतर ही भीतर उस जननी की सारी नमी को जिसके ऊपर तनकर यह परमार्थी खड़ा हुआ है। पूरे साल दोहन करता है और एक बार लेकर खड़ा हो जाता है अपने फलों को। यदि दुबारा किसी भूखे पर तरस खाकर कोई पेड़ फल उगल दे तो परमार्थी मानें। एक फसल को सींचकर जो नदी दसियों वर्ष के करे धरे पर पानी फेर जाती है, हजारों जान ले जाती है—यदि बरसात में अपने उस विध्वंसकारी रूप बाढ़ को रोक पाये, तो परमार्थिनी जानें। यह तो एक संयोग, एक प्रकृति है कि पेड़ के फल दूसरे खाते हैं। नदी के जल से कोई अपनी खेती सींच लेता है–परन्तु दीनगरीब को तो फल भी नहीं मिलते। साधनहीन का खेत नदी किनारे भी सूखता है। और पेड़ के द्वारा अपने फल न खाने वाली या नदी के द्वारा अपना नीर न पीने वाली बात प्रकारान्तर से अपने

स्थान पर सही भी है क्योंकि कोई खाता है अपने उगले हुए को। या अपने थूक, अपने उत्सर्ग, अपने विसर्जित मल को ? खाया कुछ और जाता है और निकाला कुछ और जाता है। और जो निकाला जाता है, वह खाया नहीं जाता। वृक्ष गहरे तक धरती को खा डालता है और मल के रूप में फल विसर्जित करता है। नदी पर्वतों के खून पसीना को खींचकर पहले अपना पेट भरती है, जब नहीं पीया जाता है तो छोड़ देती है। फल और जल, वृक्ष और नदी के विसर्जित मल या वमन हैं। जो खाएगा नहीं वह विसर्जित कहाँ से करेगा ? पक्की सड़क पर मिट्टी की तह लगाकर रोपा हुआ आम का पौधा हो पाएगा, फल-फूल देने लायक ? अपने ही प्राण बचाने के लाले पड़ जाएँगे ? सूखी नदी में उलट कर तो देखें पचास-चालीस घड़े पानी के, देखें एक लोटा भी पानी किसी प्यास से मरते हुए को वापस दे दे !! अपना पेट भर जाने के बाद बची हुई जूठन परमार्थ कही जाती है।

यदि वृक्ष में मनुष्य की चेतना होती या यह मनुष्य ही वृक्ष होता तो कल्पना कीजिए कि वह अपने फलों को दे देता किसी को ? कोई छोड़कर दिखाये अपना घर, अपनी जमीन-जायदादी, कोई दान करके दिखाये अपनी सारी कमाई ? कोई देकर दिखाये अपना बेटा किसी पुत्रहीन बाप को ? कोई हरिश्चन्द्र, कोई मोरध्वज ही इस दृष्टान्त की पूर्ति कर सकते हैं और दृष्टान्त दे देने या नाटक खेल देने से संसार नहीं बदलता। हेय दृष्टि से देखा जाने वाला यह स्वार्थ बहुत ऊँचा तत्त्व है, यदि यह संकीर्ण न हो। अपने अर्थ को पा जाना ही स्वार्थ है। स्वयं को विकसित करने का अभिप्राय स्वार्थ है, पर दूसरों को दबाकर नहीं। जो अपने विषय में कुछ नहीं सोच सकता, अपने लिए कुछ नहीं कर सकता और जो अपनी पीड़ा को नही समझ सकता वह समाज, देश और विश्व के विषय में न तो कुछ सोच सकता है, न कुछ कर सकता है, अपने और सिर्फ अपने ही लिए किया गया कार्य कालान्तर में दूसरों की थाती बन जाता है।

जैसे, आदमी घर बनाता है अपने लिए, पर न जाने कितने जीव जन्तु उस घर में निवास करते हैं और निर्माता के मरने के बाद आने वाली कितनी पीढ़ियाँ उसका उपभोग करती हैं—यह किसी से छिपा नहीं है। यहाँ तक कि किसी की कब्र भी दुनिया के लिए तीर्थ हो जाती है। मनुष्य के हर कार्य के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। फलतः 'स्वार्थ' शब्द का संकुचित भाव तो व्यक्ति के भीतर दबा रह जाता है, किन्तु इसके कारण किगे गये कार्य की परिणति अन्ततोगत्वा परमार्थ में होती है।

जैसे, एक सच्चा लेखक जीवन और जगत् के अनुभव को रचना का रूप देता है आत्मतोष के लिए, पर उसके वे शब्द ही ग्रन्थ बन जाते हैं, विधान बन जाते हैं, और एक दिन यही इतिहास बन जाते हैं, जिसमें मृतक बोलते हैं, जीवित प्रेरणा लेते हैं, और भविष्य जिनके बिना अधूरा होता है।

उपनिषदों के अनुसार इस सृष्टि की सर्जना स्थार्थ के ही कारण हुई। कहते हैं कि जब वह सृष्टिकर्ता अकेला था तो उसकी साँस घुटने लगी, जी घबराने लगा।

उसकी अन्तरात्मा से एक हूक उठी कि 'एकाकी न रमते। एकोऽहं बहुस्याम्।' और अपनी तनहाई मिटाने के लिए उसने पहले नारी का, फिर समस्त सृष्टि का सर्जन किया।

तो पहले स्वार्थ की उत्पत्ति हुई। परमार्थ बाद की परिकल्पना है, और इस परिकल्पना के पीछे भय और लोभ बैठे हुए हैं। अर्थात् अपनी उपेक्षा, तिरस्कृति, अपकीर्ति अथवा नर्क के भय से स्वार्थ में लिप्त व्यक्ति को परमार्थ याद आता है अथवा यश की कामना या स्वर्ग की लालसा से। इस प्रकार परमार्थ, स्वार्थ का विकल्प है। या स्वार्थ के घंटे पर जब भय और लोभ का हथौड़ा पड़ता है तो परमार्थ की अनुगूँज पैदा होती है।

एक श्रेणी और है परमार्थियों की। जो सम्भवतः अक्षम, अशक्त, परमुखापेक्षी रहे होंगे या जो दबाये गये होंगे, दौड़ में पीछे रह गये होंगे उनकी! क्योंकि जो स्वयं के लिए कुछ नहीं कर पाता, वह दूसरों से पकी हुई खिचड़ी प्राप्त करने के लिए कुछ ऐसी बौद्धिक तरकीबें खोज लेता है जो समाज में दान, त्याग, परमार्थ आदि आदर्शों के नाम से ठगने और लूटने के काम आती है। इसलिए परमार्थ स्वार्थ के ऊपर चढ़ा हुआ खोल है। अथवा बगल में छुरी दाबे हुए व्यक्ति के मुँह में राम-नाम है यह परमार्थ।

दूसरों की भलाई करना, भूखों को भोजन देना, असहायों की सहायता करना, गिरे हुओं को उठाना, दान करना, पुण्य करना, धर्म करना आदि कार्यों को लोक में परमार्थ की संज्ञा दी जाती है। किन्तु हम जरा सोचें कि इन महान् कार्यों को सम्पादित करने के मूल में कौन सी भावना कार्य कर रही है? क्या इन सबके पीछे अपने यश के प्रसार की और परलोक सुधार की गूढ़ भावना क्रियाशील नहीं है? ये सब कार्य मूलतः अपने प्रच्छन्न स्वार्थ को ढकने के लिए आवरण हैं। स्वार्थ की सीढ़ी से होता हुआ आदमी परमार्थ की अटारी पर चढ़ता है।

धर्मशाला, मन्दिर, विद्यालय, अनाथालय आदि जितने बड़े तथाकथित परमार्थ के कार्य करनेवाला व्यक्ति कोई सामान्य नहीं होता। धनवान् होता है, और जितना ही बाहर धन का त्याग किया जाता है, उससे दूनी कीर्ति और नाम कमाने की प्यास भीतर बढ़ रही होती है। बाहर त्याग दिखाया जाता है भीतर संग्रह होता रहता है। दूसरों की सहायता करने के मूल में जो निहित व्यंजना है वह उसी प्रकार है जैसे पेट भर जाने के बाद रोटी का एक टुकड़ा कुत्ते को फेंक दिया जाता है। यदि सार कहें तो परमार्थ स्वार्थ का भरपेट भोजन करने के बाद आई हुई डकार है।

मतलब से मतलब रखने वाली बात हमें बताई गई है, और दुनिया सरोकार रखती भी उसी से है, जिससे उसका काम सधता है, शेष सब व्यर्थ है। इन बातों को सूत्र रूप में कहा जाता है, कि "जिस बाग के फल नहीं खाने, उसके पेड़ गिनने से क्या लाभ? जिससे कुछ लेना-देना नहीं उससे कैसी दुआ सलाम?" आदि कथन

गहराई से निकले हुए स्वार्थ के बीजमंत्र हैं और इन बीजमंत्रों का प्रयोग कौन नहीं करता है ? यह बता पाना मुश्किल है। परन्तु सच्चा और परम अर्थ इन बातों को आचरित करने में नहीं, इनके विपरीत जाने में है।

लाभ है, उस बाग को और उसके मालिक को जिसकी समूची जानकारी सभी को नहीं है। लाभ है, उस घर को जिसके आन्तरिक भेदों का सबको पता नहीं है। कहा जाता है कि जब मोरी का पता नहीं होता तो चोरी भी नहीं हो सकती। जिस बाग की ओर किसी की आँख नहीं जाएगी, तो उसके फलों की चोरी भी नहीं होगी, पेड़ काटे नहीं जाएँगे, चोर डाकुओं के गिरोह छिपने के लिए इकट्ठे नही होंगे—माली सुख की नींद सोएगा।

बहुत लाभ है किसी परिचित व्यक्ति की अपेक्षा अपरिचित व्यक्ति से, जिससे हमें दुआ सलाम तक न रखने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि जिस व्यक्ति से कोई परिचय नहीं—उससे मिलकर या न मिलकर किसी प्रकार के खतरे की सम्भावना भी नहीं। उसके कारण हमारे मन में बैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष, चुगली आदि दोष उत्पन्न नहीं हो सकते। ये सारे दुर्गुण तो परिचय से घनिष्ट परिचय में पहुँचने पर ही पैदा होते हैं।

"ना काहू से दोस्ती, ना काहू से वैर।" की भूमिका पर पहुँचने के लिए भीतर से अपरिचय बनाना आवश्यक है। परिचय आसक्ति का प्रमुख कारण है और आसक्ति सारे दोषों को पैदा करने की उर्वर भूमि है। परिचय सदा दो मुहाँ होता है। परिचय से यदि प्रेम जैसा तत्त्व उत्पन्न होता है. तो यही प्रेम एक दिन वैर में बदल जाता है। परिचय से आदमी यदि अपने सारे काम बनाता है, तो वे परिचित ही उसको एक दिन मटिया-मेट कर देते हैं। परिचय से आदमी को यदि जीने के सहारे मिलते हैं, तो एक दिन ऐसा भी होता है कि सब सहारे टूट जाते हैं।

यदि गहराई से सोचा जाए तो मनुष्य के नितान्त व्यक्तिगत या स्वार्थ के लिए किये गये कार्य भी समष्टि के लिए होते हैं। जैसे कोई नहा-धोकर स्वच्छ रहता है, साफ सुथरे कपड़े पहनता है—मात्र अपने लिए, पर सबका जी उसे पास बिठाने के लिए करता है। कोई महान् परमार्थी, जिसके शरीर से बदबू की लूकें छूट रही हों, उससे नाक-भौं सिकोड़ सब दूर खिसकते हैं।

माँ-बाप नितान्त स्वार्थ के लिए संतान पैदा करते हैं, किन्तु उसी संतान में से कोई राम, कोई कृष्ण, कोई बुद्ध, कोई ईसा, कोई विवेकानन्द, कोई शिवाजी, कोई राणाप्रताप भी निकलते हैं और इनके सामने इनके माँ-बापों को लोग भूल जाते हैं। स्वार्थ सीमातीत हो जाता है तो परमार्थ बन जाता है।

कोई अपने घर के सामने झाड़ बुहार कर सफाई रखता है तो आने जाने वालों को वहाँ आने पर कितनी प्रसन्नता होती है। यदि सभी अपने ही घरों के सामने सफाई आरम्भ कर दें और फूल बोना आरम्भ कर दें तो सारे गाँव पर स्वर्ग

उतर आये। इकाई के बिना दहाई, हजार और लाख की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वार्थ की बैसाखी लिए बिना परमार्थ खड़ा नहीं हो सकता।

अपने घर के सामने कूड़े के ढेर को छोड़, दूसरों के दरवाजों की सफाई करने के परमार्थ से क्या लाभ ? अपने बच्चे अनपढ़ रह जाएँ और दूसरों के बच्चों को पढ़ाने में जी-जान एक कर देना कैसा परमार्थ ? दूसरों की दिन-रात रस्सी बटें–और अपनी खटिया की बखिया उधड़ी हो, पराये परिधान सीयें और अपने पेबन्द भी न लगा पायें, तो ऐसा परमार्थ हमें किस स्वर्ग की प्राप्ति कराएगा ? जो दीप स्वयं प्रज्वलित नहीं, वह दूसरों के अंधकार को कैसे दूर करेगा ? जो स्वयं न उठ सकता हो, वह दूसरों को कैसे उठाएगा ?

स्वार्थ की सफल व्यंजना, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' वाक्य में छिपी है, जिसमें 'परभाव' की समाप्ति और अहंकार रहित 'स्व' भाव की व्याप्ति है। अर्थात् या तो 'पर' मिट जाए और सर्वत्र 'स्व' ही रह जाए या 'स्व' मिट जाए और 'पर' ही रह जाए 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' 'स्व' और 'पर' दोनों का मूल एक ही है—'अर्थ'–और जो 'अर्थ' को पकड़ता है, उसके 'स्व' और 'पर' दोनों छूट जाते हैं। शेष जो बचता है, वही है 'परमअर्थ'।

हर काम को ऐसे करना जैसे अपना हो, हर किसी से वही व्यवहार करना जैसा हम दूसरों से अपने लिए चाहते हैं–तो परमार्थ प्रतिफलित होता है। जो कार्य अपना समझ कर किया जाता है, उसमें सच्ची लगन होती है, नवीनता होती है, रक्षा का भाव होता है और सौंदर्य विधायक तत्त्व होते हैं। इस कर्म से किसी का उपकार नहीं हो सकता, हिंसा नहीं हो सकती। अन्यथा इस भाव के बिना, यह तथाकथित परमार्थ मात्र एक बेगार, एक औपचारिकता भर बन कर रह जाएगा।

स्वार्थ तो वहाँ है, जहाँ व्यक्ति स्वयं को उठाने के लिए दूसरों को गिराता है। दूसरों को पीछे धकेल कर आगे बढ़ता है। दूसरों का नाम पोंछ कर स्वयं अखबार बनाता है। अपना काम बनाने के लिए दूसरों के तलवे चाटता है और काम निकल जाने पर मुड़कर भी नहीं देखता।

चापलूसी या झूठी प्रशंसा स्वार्थसिद्धि का टोना या टोटका है, और यह चापलूसी स्वार्थ का प्रमुख लक्षण है। स्वार्थी व्यक्ति कुछ ही समय के लिए सही, किन्तु प्रेम, दया, त्याग, सहानुभूति आदि भावों का बड़ा सफल अभिनेता होता है। वह अपने ही हित के लिए अपने ही बचाव के लिए और अपने ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए–लोक कल्याण को ताक पर रख देता है, जनहित को ठोकर मार देता है, सत्यासत्य का भेद नहीं कर पाता, नीति अनीति को सोच नहीं पाता—बस दूसरों को मिटाने में ही अपना अहोभाग्य समझता है, चाहे स्वयं मिट जाए–

> "पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं।
> जिमि हिम उपल कृषीदलि गरहीं॥" (तुलसी, मानस)

☐

१७. मान–अपमान

पत्थर उसी पेड़ पर फेंके जाते हैं, जिस पर फल लगे होते हैं। फल भी कच्चे नहीं, पके। कुछ मूर्ख कच्चे फलों पर भी पत्थर उछालते हैं, किन्तु पके फल वाले पेड़ पर पत्थर फेंकने वाले मूर्ख नहीं, तथा कथित समझदार होते हैं। दूसरों के फलों की उपयोगिता और मूल्य का उन्हें पता है। अपने पास नहीं है, इस अभाव का भी उन्हें अहसास है। इसीलिए वे पत्थर फेंकते हैं।

अपमान उसी का होता है, जो किसी न किसी बात में अपमान करने वाले से बढ़चढ़ कर होता है। अपमान करने वाला व्यक्ति, अपने भीतर दमित मान की भावना से उत्पन्न हुई खोज के कारण. दूसरे का अपमान करता है और अपमानित व्यक्ति अतिशय सम्मान की भावना से ग्रसित होने के कारण जरा सी ठेस लगने पर अपमान का अनुभव करता है। मान या सम्मान की भावना दोनों में ही होती है। एक को अभी मिल नहीं पाया है, दूसरे पर उसके समाज द्वारा प्रदत्त सम्मान का ठप्पा लग चुका है। एक में प्राप्ति की चाह है और न पाकर खीजा हुआ है। दूसरे में प्राप्त की रक्षा और प्रसार की चाह है तथा कभी कम न होने देने के लिए वह व्यग्र है। भीतर सम्मान की भावना जितनी गहरी होती है, उतना ही बाहर, जरा से इशारे पर अपमान महसूस होता है।

मान और अपमान अहंकार के घाव की टीसें हैं। इस घाव की रक्षा के जितने भी उपाय किये जाएँ, अवश्य चोट उसी में लगती है और फिर फिर टीस उठती है। या कहें कि अहंकार एक रस्सी है और मान अपमान उसके दोनों छोर हैं। एक छोर को हाथ में पकड़ते ही दूसरा पानी में डूब जाता है, दूर हो जाता है—पर रहता अपने ही हाथ में है। या कहें कि अहंकार एक मोमबत्ती है और उसमें पिरोये हुए धागे के दोनों ओर के छोर एक मान है दूसरा अपमान—एक जलकर प्रकाश करता है, दूसरा अपने ही आँसू में चिपक जाता है—बुझ जाता है। हँसकर हम सम्मान लेते हैं और अपमान मिलने पर बुझ जाते हैं, डूब जाते हैं। एक ही कागज पर दोनों ओर बने दो चित्र हैं मान और अपमान ! एक सामने आ जाता है, दूसरा पीछे हो जाता है। अपमान मिलकर कष्ट देता है और मान मिट कर।

जीवन में जो भी जैसा दिखायी देता है, उसका परिणाम सदा विपरीत आता है। 'अपेक्षा' का प्रतिफल 'उपेक्षा' है। 'मान' का प्रतिफल 'अपमान' है और प्रेम का प्रतिफल बैर-वैमनस्य होता है। जब-जब हमारे मन में आया है कि हम बहुत गुणवान् हैं और हमारे गुणों की दुनिया कदर करे, जब-जब हमने सोच लिया

है कि हम शक्तिशाली हैं और हमारी शक्ति का सब लोहा मानें और जब-जब हमारे भीतर भरा है कि हम जैसा कोई सुन्दर नहीं, हमारी सुन्दरता को दुनिया चाहे और सराहे, बस उसी समय हम गाँठ बाँध लें कि अब हमारे गुणों पर कीचड़ उछाली जाएगी, शक्ति कुचली जाएगी और सौन्दर्य पर थूका जाएगा। अहंकार के इन सब रंगों के मिश्रण से जो एक रंग बनता है वह अपमान का पक्का रंग है, जो मिट जाने तक नहीं उतरता।

अपमान, कभी न दिखाई देने वाला ऐसा घाव है, जिसकी सिर्फ टीस तड़पाती है, चोट कसकती है। अपमान करने वाले के सर्वनाश की भावना या प्रतिशोध ही जिसका मरहम है। जब यह मरहम लग जाता है तभी घाव पर ठंडक पड़ती है। मान अपमान को देखने, महसूस करने के लिए आदमी के हजार आँखें हजार कान होते हैं। शरीर में जितने रोम-रन्ध्र नहीं, उतने मान अपमान के आने-जाने के मार्ग हैं। इन मार्गों को बन्द करने का प्रयास नहीं किया जाता, बल्कि अहंकार की झाड़ू से नित्य इनकी सफाई की जाती है।

कुछ हमने किसी से माँगा और न मिला, बस अपमान हो गया। कुछ हमने किसी को दिया और उसने हमारा नाम न लिया, बस अपमान हो गया। एक मजदूर मालिक के सामने कुर्सी पर बैठ गया, बस मालिक का अपमान हो गया। छोटा बड़े के सामने बोल गया, बड़े का अपमान हो गया। पत्नी ने पति से पूछ लिया कि आज कहाँ थे, क्या किया था ? पति अपमानित हो गया। परिचित व्यक्ति अपनी धुन में बिना नमस्कार किये आगे बढ़ गया, हमारा अपमान हो गया। विद्यार्थी ने प्रश्न पूछा और गुरुजी उत्तर नहीं दे पाये, पानी उतर गया। अकेले में हम ऐसे गिरे कि हाथ पैर टूट गये, तो कोई बात नहीं,—चार लोगों के सामने फिसल गये, अपमान हो गया। हम पूरा भाषण दे गये, अपनी पूरी बात कह गये और किसी ने ताली नहीं बजायी, सिर नहीं हिलाया, हमारा अपमान हो गया।

भिखमंगे को भीख न मिली, अपमानित हो गया। चार मित्रों के बीच यदि हमने भीख नहीं डाली, हमारा अपमान हो गया—और मित्रों से अधिक एक रुपया हमने दे दिया, गर्व से आँखें चौड़ी हो गयीं। कोई अनजान और अपरिचित व्यक्ति हमारे लिए कुछ कह गया तो एकाध दिन में हम भूल जाते हैं, और परिचित ने हमारे पीछे भी हमारी निन्दा कर दी तो वर्षों नहीं भूलते। सम्मान की चाह ही हमें अपमान के सामने ले जाकर खड़ा कर देती है। यश की सफेद चादर बहुत जल्दी अपयश का दाग पकड़ती है। लोभ के भाल पर विडम्बना का तिलक लगाया जाता है।

हम मन के हाथों बिके हुए लोग हैं और यह मन, जो है मूलतः उसे नहीं देखता, उसे देखता है, जो नहीं है। उसी को करने की प्रेरणा देता है, जो नहीं करना है। इसकी समझ में वही आता है, जो समझने योग्य ही नहीं।

यह जितना जानता है, उसके आधार पर, जो नहीं जानता—उसके विषय में ऐसी धारणाएँ कल्पित कर लेता है कि झूठ, सत्य दिखायी देने लगता है और सत्य संदिग्ध हो जाता है। द्वन्द, संघर्ष, स्वीकार-अस्वीकार, विचलन-मोहन, अस्थिरता-अधीरता, सोच-विचार सब इस मन की लहरें हैं। जिनमें यह हमें अविरल तैराता रहता है। यह मन सच्चे अर्थों में एक जादूगर है और जादूगर की विशेषता यह है कि वह जो कुछ करता और दिखाता है, वह असलियत नहीं, असलियत जैसा दिखायी देने वाला झूठ होता है। यह हमारी दृष्टि को बाँध देता है, सम्मोहित कर देता है और जो यह दिखाना चाहता है, उसके अलावा हम और कुछ देखते ही नहीं। यही जादूगर मान-अपमान के झूठे फूल खिलाता है। ऐसे दूध को गिलास में भरकर दिखा देता है, जिसे आज तक किसी ने पिया नहीं। ऐसा सिक्का बनाकर उछालता है, जिससे आज तक किसी की जेब नहीं भरी।

सम्मान चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाकर पाया जाता है, जबकि अपमान मुफ्त मिल जाता है। बड़ी विसंगति है कि हम हर चीज मुफ्त और बिना प्रयास ही पा जाना चाहते हैं किन्तु मुफ्त मिले अपमान से हम घबराते हैं और घबरा जाते हैं तो कमजोर पड़ जाते हैं और कमजोर पड़ जाते हैं तो हमही इस अपमान को मुफ्त में मिल जाते हैं। हमको अपमान मिला या अपमान को हम मिले, बात एक ही है। और जो श्रम साध्य है मान, वह कभी रुकता नहीं—पारे की तरह। मान तो वह चोर है, जिसके पैर नहीं होते। अपमान की जरा सी आहट से जो कायर भागता है, उसकी प्राप्ति के लिए हम जी-जान एक कर देते हैं। उस 'का पुरुष' को लेकर हम सीना तान कर, सिर उठाकर चलते हैं और एक अपमान के सामने आते ही—मान सहित हम हवा हो जाते हैं।

मान, अपमान से सदा भयभीत रहता है, और अपमान मान पर सदा क्रुद्ध ! एक कोख से जन्मे दोनों भाई सदा एक दूसरे के विरोधी होते हैं। सारा जीवन मान और अपमान की लड़ाई का ही मैदान है। जानकारी बढ़ने के साथ-साथ मान बढ़ने लगता है और मान की आड़ में अपमान छिपा रहता है। मान को हमने अत्यन्त सम्मान के साथ मान रखा है, इसीलिए अपमान हमें चोट पहुँचाता है। हम बेईमानी करते हैं--पक्षपात करते हैं कि दो भाइयों में से एक को गले लगाते हैं, दूसरे को दुत्कारते हैं। जिसे दुत्कारते हैं, वह विरोधी हो जाता है और वह मौका देखता रहता है कि कब मेरा दाव लगे और मैं बदला लूँ। जब भी उसे मौका मिला है, उसने एक साथ दो पर वार किया है—एक तो हमारे मन में छिपे हुए अपने भाई मान पर और दूसरे हमारे शरीर पर। उस समय हमारा मुँह लगा मान हमारी कोई सहायता नहीं कर पाता और अपमान की चोट से हम जिन्दगी भर कराहते हैं। यह मान हमारे 'सोलहों करम' करा देता है। अपनी ही बगल में लेकर हमें अपने भाई का दुश्मन बना देता है। आज जमाना उलट गया है। सीधे चलकर मंजिल नहीं मिलती—उल्टा चलना पड़ेगा। विनम्र और सरल आदमी की दोस्ती के साथ कुटिल व्यक्ति से भी दोस्ती का अभिनय आवश्यक है, अन्यथा वह कभी भी चोट पहुँचा सकता है।

जिस दिन हम अपने एक तरफा व्यवहार को बदलेंगे, उसी दिन अपमान का विष उतरता नजर आएगा। जिस दिन हम इन दोनों को अलग खड़े होकर मुसकराकर देखने का अभ्यास साध लेंगे, उस दिन इन दोनों के ऊपर उठ जाएँगे। जिस दिन हम सारी झुंझलाहटों, सारी बेचैनियों, सारी टूटन को गले लगा लेंगे, उस दिन हमारा गला मोहन की बाँसुरी बन जाएगा। किन्तु बड़ी-बड़ी बातें कह देने या लिख देने से कुछ नहीं बदलता—परिश्रम करना होगा–कुआँ खोदना होगा–अपना स्रोत फोड़ना होगा। अन्यथा ओस की बूँदों को चाट-चाट कर हम प्यास बढ़ाते रहेंगे।

मान और अपमान न तो आदमी का कुछ बनाते हैं और न बिगाड़ते हैं। बस एक ही काम है दोनों का कि मान का भोजन करके अहंकार पुष्ट होता है और अपमान का टॉनिक पीकर प्रतिशोध बलिष्ठ होता है। सुख-दुःख, भूख-प्यास, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि मनोविकार तो पशु-पक्षी-मनुष्य सबमें पाये जाते हैं, किन्तु ये मान-अपमान तो मनुष्य की ही पैतृक सम्पत्ति है। इनका मनुष्य पर ही जन्मसिद्ध अधिकार है। जिसके पास कुछ नहीं है वह भी सम्मान की अकड़ में है और जिसके पास सब कुछ है, उसका तो कुछ कहना ही नहीं। धन न हो, आदमी सब्र कर लेता है; मकान न हो आदमी मन समझा लेता है,–झोपड़ी में रह लेता है,–किराये पर रह लेता है; अच्छे कपड़े न हों आदमी धीर धर लेता है—पर मान सम्मान बिना या अपमान के साथ जीना—आदमी को बर्दाश्त नहीं। जीवित आदमी तो मान-सम्मान का भाजन है ही मरा हुआ आदमी भी फिर अदृश्य रूप से सम्मानित होता है। वीर चक्र, परमवीर चक्र, पुण्य तिथियाँ, ये सब लाशों के काल्पनिक चित्रों के सम्मान के उत्सव हैं। कार्य काल में जिसकी निन्दा की जाती है, विदाई के वक्त उसे फूलों से लादा जाता है।

मान यदि मदिरा है तो अपमान विष। मदिरा पीकर भी आदमी, आदमी नहीं रहता और विष पीकर भी। दोनों ही चेतना का अपक्षय करते हैं। इसीलिए कहा गया कि, 'मान सहित विष खाइकैं सम्भु भये जगदीश।' इस पंक्ति को कवि ने चाहे शंकर द्वारा समुद्र से निकले हुए विष-पान सन्दर्भ में लिखा हो—पर इसका प्रतीकार्थ यही है कि शंकर ने मान और अपमान, दोनों के हलाहल को हँसकर पी लिया था, पचा लिया था, तभी वे अमरत्व को प्राप्त हुए, परमात्म पद पा सके। मनुष्यत्व से देवत्व के शिखर पर चढ़ने के लिए सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान के पाय-दानों को नीचे छोड़ना होगा। □

१८. आँसू और मुसकान

जिन्दगी आँसू और मुसकान की आँख मिचौनी का मैदान है। जीवन की कहानी रुदन से आरम्भ होती है और आँसू भरी आह पर जाकर समाप्त होती है। आँसू और आँसू के बीच में ही मुसकान की फेरी लगती है। आँसू यथार्थ है और मुसकान आदर्श। आँसू मौलिक और सहज स्वाभाविक है और मुसकान ऊपर से ओढ़ी हुई।

बच्चे का जन्म होता है। धरती पर आते ही जीवन चीख मार कर रो पड़ता है। पहली क्रिया ही रोने की है। गर्भ से, उस नरक से, बाहर आते ही क्यों रोता है बच्चा? खुली हवा में आकर उसे क्या हो जाता है? माँ के पेट में वह नौ महीने पड़ा रहा सिकुड़ा हुआ—पर माँ को कभी उसके रोने का अहसास नहीं हुआ। क्यों? क्या वह नौ मास तक एकाग्र हो उपासना करता रहा परमात्मा की कि मुझे मुक्त करो इस नरक से और मैं वायदा करता हूँ कि बाहर पहुँच कर सारी उम्र धर्म के साथ बिताऊँगा? नहीं, ये सब बातें नहीं हैं।

बात यह है कि आँसू मुक्ति नहीं-बंधन चाहते हैं। काम के बंधन में बँधे माँ-बाप के विलास-बंधन के खेल ने, बंद धरती में एक चिरबंधन का बीज बोया था। वह बीज नौ महीने की अवधि तक आकाश, प्रकाश और वायु हीन वातावरण में अंकुरित होता रहा। नाभि से बाँधकर उसे उल्टा लटका दिया गया। बंधन की हवा उसकी साँस बनी अर्थात् माँ साँस ले तो बच्चा साँस ले। माँ खाये-पीये तो बच्चा खाये-पीये। माँ जिए और मरजाय तो बच्चा भी जीए और मरजाए। जन्म के प्रारम्भ से ही इतने बंधन कि बंधन से ही उसका हृदय, मन, मस्तिष्क, त्वचा, हड्डी, खून, मांस सब कुछ निर्मित हुआ। बंधन हमें रास आ गया। बंधन हमारा साँचा था, जिसमें ढलकर हम बाहर आये। हम बंधन के आदी हो गये। और उससे मुक्त हुए तो रो पड़े। जब-जब मुक्ति का प्रश्न हमारे सामने आया है, तब-तब हम डहक-डहक कर रोये हैं। बंधन ही हमारी मुक्ति है और बंधन ही उल्लास! हम मोक्ष की बात करते हैं और मरने से डरते हैं! मौत के नाम पर आँसू निकल पड़ते हैं—मुसकान कहाँ होती है?

बंधन के साँचे से छूटे हुए को फिर बाहर के बंधन जकड़ लेने के लिए तैयार खड़े मिलते हैं। पाँच मिनट धरती पर नहीं रहने देते कि हाथ पकड़ लेते हैं, गोद समेट लेती है, उत्सव घेर लेते हैं और चारों ओर बाहें फैली मिलती हैं। बचपन बंधन के हाथों का खिलौना है, यौवन बंधन की रंगरेली है और बुढ़ापा बंधन का

तारकोल है। भीतर बंधन और बाहर बंधन। बंधन से छूटना आँसू और बँधे हुए जीना मुसकान! यही हमारा जीवन है।

वैसे, जीवन एक कारागृह ही है, जिसमें हमको बाँधने वाली अनेक कोठरियाँ हैं। कोई माँ-बाप की कोठरी है, कोई भाई-बहिनों की, कोई बीवी-बच्चों की और कोई नाते रिश्तेदारों की। एक में से नहीं निकल पाते कि तबतक दूसरी का द्वार हमारे लिए खुल जाता है। ये कोठरियाँ ही हमारे लिए सुख के ठिकाने हैं। मिलते हैं किसी से तो मुसकान भरे आँसू और बिछुड़ते हैं तो दुःख बिछोह भरे आँसू। गीत का जन्म भी आँसू से हुआ और संगीत का भी। प्राप्ति की चाह को भी आँसू पैदा करते हैं और प्राप्त की रक्षा में भी आँसू बहते हैं। काम मिला तो आँसू, नाकारा घूमे तो आँसू। समस्या के आँसू को समाधान की मुसकान थोड़ी देर के लिए पोंछती है, पर फिर कोई दूसरी समस्या आँसुओं की अंजलि लेकर खड़ी दिखाई दे जाती है और फिर समाधान भी बिना आँसू के नहीं मिलता। जीवन आँसुओं की पुनरावृत्ति है—कभी सुख के आँसू और कभी दुःख के आँसू।

असल में, जबसे हमने होश सँभाला है, तब से, और किसी भाव-कुभाव को दबाया हो या न दबाया हो, लेकिन आँसुओं को इतना दबाया है, इस मुसकान की चादर के नीचे, कि भीतर सारा अस्तित्व कषैला हो गया है। जब भी हम किसी से मिलते हैं तो मुसकान के साथ ही मिलते हैं, चाहे भीतर कितना भी संताप और विषाद भरा हो। अपने विषाद को दबाकर हर आदमी दूसरे पर झूठी मुसकान फेंक देता है। यही कारण है कि हर आदमी अपने अतिरिक्त सभी दूसरों को सुखी और प्रसन्न समझता है, लेकिन इस प्रसन्नता के नीचे सब एक ही धरातल पर खड़े हैं।

कोई रोता हुआ दिख जाए तो उसे चुप कराने के लिए, उसके आँसुओं को दबाने के लिए दस लोग इकट्ठे हो जाते हैं, कोई दर्शन की बात करता है कोई धर्म और नीति के उपदेशों से उसके आँसुओं को पोंछ मुसकराने की प्रेरणा देता है किन्तु कहीं कोई बच्चा हँसता हुआ पैदा हो जाए, तो बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती है पैदा होने वाले बच्चे की मुसकान आदमी के रोने का और उसका रुदन आदमी की खुशी का कारण है।

सबने पढ़ा है कि राम और कृष्ण का जन्म नहीं—अवतार हुआ था। गर्भ के घृणित पदार्थों ने इनको रूपाकार नहीं दिया। प्रसव की पीर से माँ की आँखें बंद हो गईं और जब आँख खुली तो बेटे चतुर्भुज रूप में खड़े मुसकराते मिले। माताएँ मुसकान से डर गयीं, घबरा गयीं और विनती करने लगीं कि प्रभो बंद करो यह लीला! अपने बाल रूप में ही आओ! फलतः भगवान् को आदमी के लिए रोना पड़ा। आँसू मुसकान को बर्दाश्त नहीं कर पाते। बंधन मुक्ति को देख पछाड़ें खाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, शंकर, कबीर, तुलसी जन्मते समय रोये नहीं थे, हँसते हुए पैदा हुए थे। इसीलिए इनको मोह का बंधन, धन और ऐश्वर्य का बंधन, प्रीति और क्रोध का बंधन, बाँध नहीं पाया। जीवन भर हँसते रहे। यदि कहीं रोने का अवसर भी आया तो रोने का अभिनय किया, अपने पर नहीं दूसरों पर हम सदा

हँसने और रोने का अभिनय करते हैं। न तो हमारी हँसी हमारे तल से आती है और न हमारा रुदन।

अन्यथा तल से आये हुए आँसू और मुसकान कुछ और ही होते हैं,–वे मीरा के श्याम होते हैं, तुलसी के राम होते हैं। कबीर के कंत होते हैं, दुनिया के संत होते हैं। बुद्ध का ज्ञान होते हैं, महावीर का समय होते हैं। वे प्रसाद की करुणा के कण से होते हैं और निराला के जीवन की कथा। वे महादेवी के दुःख की नीर भरी बदली हैं और पंत के सौन्दर्य के झलमल मुक्ताहार। वे गांधी की अहिंसा होते हैं और रवीन्द्र का गीत।

बुद्ध लुम्बिनी वन में पैदा हुए थे। अमल, धवल, प्रकाशित, बिना रोए। जो धरती पर आने पर रोया नहीं; उसने आँसू की वास्तविकता पहचानी और एक अमर मुसकान को खोज लिया—और हम बनावटी मुसकान को पहचानने की दौड़ में भागकर आँसू के अन्धकूप में गिर पड़ते हैं। जब तक आँसू को परखने की आँख हमारी नहीं खुलेगी, जब तक आँसुओं के कारणों तक तटस्थ भाव से हम नहीं पहुँचेंगे, तब तक आँसू हमारी वास्तविक मुसकान को उभरने नहीं देंगे।

इतना दबाया है हमने इन दोनों को कि परिणामतः दोनों एक दूसरे के उत्प्रेरक और जनक बन गये हैं। आँसुओं की सीमा आती है तो मुसकान छिटक पड़ती है और हँसी हद से गुजर जाती है तो आँसू फूट पड़ते हैं। हँसते-हँसते आँखों से आँसू भी बहने लगते हैं। यहाँ रोने वालों के लिए हँसी के आयोजन किये जाते हैं और सदा हँसने वाले को पागल कह दिया जाता है। पुरुष मुसकराये तो कोई बात नहीं, स्त्री मुसकराती हुई निकले तो तमाशा बन जाती है। घर में बेटी हँसोड़ स्वभाव की हो तो नित्य झिड़की और डाँटी जाती है, बेटा हँसोड़ हो तो कोई अधिक फर्क नहीं पड़ता। हमारी अच्छी बात पर कोई मुसकराये तो गर्व का अनुभव होता है, बुरी बात पर मुसकराये तो पानी उतर जाता है।

आँसू दुःख की भाषा है और मुसकान सुख की परिभाषा, यदि दोनों स्वाभाविक हों तो। अभिनय के संसार में आँसू और मुसकान का कोई महत्त्व नहीं। आभ्यन्तरिक खोज के लिए निकले हमारी पुकार भरे आँसू, मुक्ति का द्वार खोल सकते हैं यदि सांसारिक चकाचोंध वाली मुसकान उनकी शिला बनकर न आए तो। आँसू वह कड़ी है जो दुःख और सुख दोनों बिन्दुओं को जोड़ती है। एक साथ दो छोरों को छूती है।

बेटी की विदाई पर माँ-बाप के आँसुओं में उसके भविष्य की कल्याण कामना टपकती है तो बेटी के आंसुओं में एक बँधन से छूटकर दूसरे चिर बंधन के कल्पित सुख की चाह। क्रोध के आँसुओं में किसी के सर्वनाश का लावा कुलबुलाता है तो भय के आँसुओं में गिड़गिड़ाहट और दीनता। गरीबी के आँसुओं में रोटी नजर आती है तो अमीरी के आँसुओं में वैभव का संसार। भक्ति के आँसुओं में भगवान् झलमलाते हैं तो मुक्ति के आँसुओं में दिव्य सत्ता।

आँसू और मुसकान कभी-कभी विरोधी स्थितियों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। स्वजन के आँसू देख हमें सहानुभूति होती है और साधारणीकृत होकर हमारे भी आँसू निकल पड़ते हैं। वहीं शत्रु के आँसू देख हमारे मन में खुशी की लहर उठती है और पीठ फेर मुसकान फूट पड़ती है। अपने पतन पर आँसुओं की धारा फूटती है और पराये पतन पर हँसी का फव्वारा!! ऐसी ही विषम स्थितियों में इनको घड़ियाली आँसू और विषभरी मुसकान का नाम दे दिया गया है। □

१९. कवि जी ! मेरे औगुन चित न धरौ

आदमी का मानसिक अहंकार जब भावुकता से बुनी हुई सर्वज्ञता की चादर ओढ़कर शब्दों में फूटता है, तब एक कवि निर्मित होता है। जब अपनी ही भावनाएँ काबू में नहीं होतीं, जब स्वयं को ही बर्दास्त करने की क्षमता जबाब दे जाती है, जब संसार भीतर घुसकर हलचल मचाता है—तब बाहर एक कविता जन्म लेती है। जब-जब आदमी के मन में किसी को हँसाने की, किसी को रुलाने की, किसी को उठाने की, किसी को गिराने की और किसी को चिढ़ाने की, झक सवार हुई है, तब-तब कविता निकलकर आई है। जब-जब मन गगन में कुंठा और तनावों की धटनाएँ घिरी हैं, तब-तब कविता की वर्षा से वे हलकी हुई हैं। बेरोजगारी ने जब-जब दर-दर की ठोकरें खाई हैं. तब-तब कविता के चौबारे में बैठकर उसने अपनी भूख मिटाई है। जब-जब हाथों की शक्ति निचुड़ी है, तब-तब कविता की तलवारें म्यान से बाहर निकली हैं, कुछ चारण कवियों को अपवाद स्वरूप छोड़कर। कविता बन्द कमरे में बैठकर युद्ध का चित्रण करती है, पोखर के किनारे बैठकर सागर के ज्वार-भाटों को दिखाती है, रेत के टीले पर चढ़कर हिमालय को शब्दों में उतारती है। जब-जब मन-तुरंग पर स्त्री सवार हुई है—तभी उसमें कविता के पंख लगे हैं, कल्पना के आकाश में उड़ान भरी है और फिर वह मुँहजोर कवि-तुरंग, कवि-सम्मेलन के मैदान में कूद पड़ा है।

कवि सम्मेलन की तैयारी के साथ ही कवि का हृदय विश्व-विजय की भावना से भर जाता है। उसकी नजर आये हुए अन्य कवियों का अवलोकन करती है और फिर अन्तर्दृष्टि एक बार डायरी के तरकश में बन्द रामबाणों को टटोलती है। एक कवि पढ़ने लगता है—दूसरे अपनी उधेड़ बुन में लग जाते हैं। शान्त बैठा कवि, दिखाई तो ऐसा देता है कि बड़े गौर से सुन रहा है—पर एक कवि दूसरे कवि को बहुत कम सुनता है। बस सिर हिलाता है, वाह-वाह कर देता है, ताली पीट देता है—पर इन क्रियाओं के बीच एक तलाश जारी रहती है—पढ़ने वाले कवि की कविता के जोड़ की। यदि उससे भी उत्कृष्ट कोई कविता उसके पास निकल आई तो पूरे समाज से ताली बजवाता है, चीख कर वाह-वाह निकालता है। और यदि पढ़ने वाले की कविता के जोड़ की कविता उसके खजाने में नहीं है तो पानी उतर भी जाता है। और घड़ों पानी पड़ भी जाता है। फिर कविता की तलाश खतम और बहानों की तलाश शुरू होती है। श्रोता भले ही तारीफ कर दें पर एक कवि दूसरे कवि को हृदय से बहुत कम स्वीकार करता है। भीतर का कपट बाहर निष्कपटता की कविता कहता है। भीतर की जलन बाहर प्रेम के गीत गाती है। दूसरी कविता के दोषों को तुरन्त पकड़ती है अपनी कविता।

कविता भावनाओं की उछल कूद है : भावों की ही दुकान है और भाव ही ग्राहक है। मनोवेगों की पूंजी है कविता। बुद्धि के इनकम टैक्स अफसर को देखते ही, दुकान को बन्द कर दुकानदार बगलें झाँकता है।

वास्तविकता में और कविता में दूर तक भी सम्बन्ध दिखाई नहीं देता—पर कविता यही कहती है कि मैं वास्तविकता को दिखाती हूँ, मैं समाज का दर्पण हूँ, व्यक्ति के भीतर का प्रतिबिम्ब हूँ। जबकि गीत या कविता कवि के आत्मभाव से ही कोसों दूर होती है। आदमी जब वास्तव में रोता है तो कंठ रुंध जाता है, हिचकियाँ बातों को तो क्या साँसों को भी नहीं निकलने देतीं "नैक कही बैननि अनेक कही नैंननिसों, रही-सही सोउ कहि दीनी हिचकीन सों।" पर देखा जाता है कि रोती हुई कविता, आँसुओं के पतनाले बहाता हुआ गीत, कहीं भी अपने आपको बेसुर, बेतुक और बेताल नहीं होने देता, रुदन को सदैव ख्याल रहता है कि मेरी तुक-ताल कहीं भंग न हो जाए। यह कैसा दहाड़ मार कर रोने वाला रोदन है, जिसका गला कभी भर्राता नहीं, हिचकियाँ कभी उसकी कोमल कान्त पदावली में किसी काव्य दोष को नहीं आने देतीं।

कविता एक ऐसी धारणा–शक्ति को जन्म देती है या भगवान् जाने उखाड़-कर फेंकती है कि हमारे भीतर असल धारणा जम ही नहीं पाती। राम और भरत की बंधुत्व भावना के गीत युग-युग से गाये जाते रहे हैं, पर राम भरत की धारणा कितने सीनों में समाई हुई है ? बताने की आवश्यकता नहीं है। राम के आचरण का नशा थोड़ी देर रहता है और फिर रावणत्व हावी हो जाता है। कविता हमको अपने आप से ही बिता देती है। जो प्रकृति सिद्ध कवि हैं, उनकी बात नहीं, पर जो देख सुनकर या पराया माल अपना बनाकर कवि होने का दावा करते हैं, उनके अन्दर कविता का जुनून घुन की तरह काम करता है। सोते–जागते, उठते–बैठते खाते-पीते. अँधेरे में उजाले में हर समय उसकी किरकिराहट चालू रहती है। कविता में हँसना. कविता में रोना, कविता में पाना, कविता में खोना। आँख कविता में देखती है, कान कविता में सुनते हैं, कविता में पत्थर बोलते हैं, पेड़ आँसू बहाते हैं, कविता में पशु-पक्षी मनुष्य की भाषा बोलते हैं।

कविता सहानुभूति की अभिव्यक्ति तो है ही, स्वानुभूति की विस्मृति भी है। जो अनुभूति कवि करता है, उसको बाहर भूलने का प्रयास है कविता। जब तक कोई भाव हमारे भीतर रहता है, तब तक वह हमको मथता रहता है। हृदय को आन्दोलित करता रहता है और नाना प्रकार की अर्थच्छवियों को जन्मता रहता है—पर जैसे ही वह भाव शब्दों का रूप लेकर कविता में उतरता है—अपने से पराया हो जाता है, बाहर की हवा में खो जाता है,—तभी तो हमें अपनी ही कविता लिखने के बाद याद नहीं रहती है। अपनी ही कविता को लोगों को सुनाने के लिए रटना पड़ता है, अभ्यास करना पड़ता है, एकान्त में बैठकर अपनी ही कविता का रिहर्सल करना पड़ता है। कितनी विचित्र बात है कि कवि पहले बाहर की अपने भीतर अनुभूति करता है, फिर भीतर की अनुभूति को बाहर अभिव्यक्त करता

है और फिर बाहर निकली अपनी ही अभिव्यक्ति को भीतर लाकर रटता है, याद करता है। शायद इसलिए कवि को पागल कहा गया है।

पागलपन के कुछ और भी बिन्दु हैं, जैसे—कवि देखता है पर देखता नहीं, सुनते हुए भी सुनता नहीं, चलते हुए भी स्थिर रहता है, स्थिर रहते हुए भी दौड़ लगाता है। जहाँ रहता है, वहीं नहीं है, पास बैठा दिखाई देता है पर है बहुत दूर। कूड़ा सामने है पर दिखाई दे रहे हैं फूल। मधुपकुमारियों से मीठे गीत सुनने का अनुरोध करता है, पर कोई मधुप कुमारी कान के पास आकर सुनाने लगे तो सिर हिलाकर पीछे भागता है। साँप सी पगडंडियों पर गीत लिखता है और साँप को देखकर होश गायब हो जाते हैं। शेर की दहाड़ को शब्दों में उतारता है, पर अँधेरे में कुत्ते की परछाईं से पसीना छूट जाता है। जो बोलता नहीं कवि उससे गवाता है।

कवि खाता नहीं, जुगाली करता है—जीभ से जुगाली। उल्टी कर देने के बाद ही, भीतर के सारे माल को उड़ेलकर ही उसका खाना पचता है। अर्थात् बिना सुनाये या बिना लिखे उसकी मिचली समाप्त नहीं होती। बड़े-बड़े वीरानों को चमन बना दिया है कवियों ने और बड़े-बड़े बागों को वीराने। बड़े-बड़े महलों को हटाकर उन पर झोपड़ियों को चढ़ा दिया है और झोपड़ियों को किलों का रूप दे दिया है। रेगिस्तानों में समुद्र बिछा दिये हैं और सागरों के ऊपर रेगिस्तान सुलाये हैं। कोयल की कूक से अंगारे बरसाता है कवि और अंगारों से फूल। असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव बनाना कवि के लिए चुटकियों का काम है।

कविता एक मेनिया है, एक मानसिक रोग है। कविता रोग भी है और इलाज भी, कविता तृप्ति भी है और प्यास भी, कविता तलब भी और नाश भी। भूख को खाकर भूख मिटाती है कविता और प्यास को पीकर प्यास। कवि को अपनी कविता सुनाने का मेनिया होता है, अपनी सृष्टि को दिखाने का मेनिया होता है। कविता लिखने के बाद कवि ढूँढ़ता है कि कोई सुने। पत्नी को सुनाता है, जवानों को सुनाता है, बूढ़ों को सुनाता है, सहयोगियों में अपना सिक्का जमाने को सुनाता है। साहित्य-प्रेमियों की सूची बनाता है। जब कोई सुनने वाला नहीं होता तो दीवारों को सुनाता है, पेड़-पौधों को सुनाता है, उछलता है, नथनों को फुलाता है, भुजदण्डों को फड़काता है। जब तक सुना नहीं देता, तब तक ततैयों का सा काटा घूमता है।

दिखावट और बनावट का जितना भाव एक कवि पुंगव में होता है। उतना और किसी में नहीं। जितना तीव्र गामी वाहन कवि के पास है उतना तीव्र गामी राकेट विश्व में नहीं बना। खुर्दबीन और दूरबीन भी कवि की दृष्टि के सामने विफल हैं। सारे लोकों और भुवनों का दर्शन और भ्रमण पलक झपकते ही कर लेता है कवि। समाज की बुराइयों और रूढ़ियों को लिख-लिखकर तोड़ता है और देश के स्वर्णिम भविष्य को शब्दों में उतारता है। अमूर्त को मूर्त रूप देता है,

अव्यक्त को व्यक्त करता है। राई को पर्वत और पर्वत को राई भगवान् तो कभी कर नहीं पाया पर कवि अवश्य बना देता है। आँगन में कवि बेल बोता है और आकाश में फल लटकवाता है। कवि के घर में बिना व्याई गाय का दूध खरगोश के सींग की बनी बाल्टी में निकाला जाता है। और बाँझ का बेटा यह कार्य करता है। कथनी और करनी कहावत को कविता ही सार्थक करती है। गर्म भगौने को सँड़ासी से पकड़ने वाला कवि अंगारों पर चलता है। ब्लेड चेंट जाने के भय से 'शेविंग बाक्स' में फिटकरी और डिटाल रखने वाला कवि तलवारों पर नाचता है। अपनी संभोगेच्छा पूरी नहीं होती तो पवन से कली के कपोल मसलवाता है, सोने के सागर में नाव दिखाकर उसमें सूरज के गोले को डुबाता है। सूरज रहे मार्तण्ड दुनियाँ के लिए पर कवि की दृष्टि में कभी-कभी वह मर्द नहीं कायर है—जो स्त्री और हिजड़ों पर अपनी शक्ति दिखाये वह कैसा मर्द ? बरसात के मौसम में बादलों से ढँके सूरज को देख कोई संस्कृत का कवि कहता है 'ग्रीष्म के महीने में धरती (स्त्री-लिंग) को और पेड़-पौधों (न० पु० लिंग) को सुखाने वाले, रात (स्त्री) के अस्तित्व को मिटाने वाले ओ कायर ! आज बादलों के भय से भीतर जा छिपा है। निकल कर क्यों नहीं आता ?'

कहा जाता है कि कवि स्वतन्त्र होते हैं—पर स्वतन्त्र कवि की कविता भेड़-चाल का उदाहरण होती है। काव्य-साहित्य का इतिहास साक्षी है कि हर युग का एक प्रतिनिधि कवि जिस किसी एक दिशा को गया है, अनेक कवियों ने उसकी लकीर पीटी है। चारण युग की बड़ी भेड़ का जिधर मुँह उठा, उसी के पीछे अनेक भेड़ें चल पड़ीं, और नाम पड़ गया 'चारण काल'। किसी वीर राजा के किले में घुसकर एक बड़ी भेड़ मिमियाई होगी, तो सारी भेड़ों का टैना मिमियाने लगा और नाम रख दिया 'वीरगाथा काल'। विलासिता में डूबे हुए राजाओं पर जब विदेशियों ने धावा बोला और उनसे धरा-धाम छीन लिया तो अब बेचारी भेड़ों का भी चारा पानी समाप्त हो गया और कोई सहारा न देख किसी कोने में बैठकर 'निर्बल के भगवान' याद आने लगे। चारों तरफ से ढपली, खंजड़ी, ढोल मजीरों की ध्वनि आने लगी। भारत की तलवार का स्थान तिलक त्रिपुंड़ ने ले लिया और भक्तिकाल चारों ओर छा गया। सिद्ध नाथ, जैन बौद्ध आदि साहित्य भी इसी 'भेड़ी धसान' का उदाहरण है। रीतिकाल भी यही दिखाता है।

और इस आधुनिक युग में तो कविता अनेक वादों में ही अपने अस्तित्व की दाद देती है। अनेक वाद, वादों में विवाद, विवादों के प्रतिवाद और प्रतिवादों के अनुवाद प्रकट करती हुई जाने किन दिशाओं को, जाने मनुष्य के किस लोक को, जाने किस लोक की किन परिस्थितियों को और जाने किन परिस्थितियों की कौन सी प्रवृतियों को प्रकाश मंडित कर रही है आज की कविता। कुछ समझ में नहीं आता। प्रगतिवाद के बाद की कविता की कुछ अपनी अलग ही पहचान है। जो किसी की समझ में न आये, वही इसकी श्रेष्ठता और साहित्यिकता है। जिसकी चार पंक्तियाँ याद कर झूमने और गुनगुनाने न पायें, बस यही उसकी सम्प्रेषणीयता है। कछुआ,

केंचुए, छिपकली, साँप, बिच्छू जैसे विराट प्रतीकों को देख जी मिचलाने लगे तो बस यही उनकी प्रभविष्णुता है। कौड़ी सी आँख, पकौड़ी सी नाक, पापड़ की तरह टूटते अरमान, कफन की तरह उजले वस्त्र पहने हुए लोग, आदि उत्कृष्ट कोटि का उपमान-विधान यह आज की कविता कामिनी की सजावट है।

समस्त काव्य धारा के किनारे खड़े होकर देखने से पता चलता है कि कविता एक दलबंदी का प्रयास है। जिस प्रतिपाद्य को लेकर कोई एक युग-पुरुष चलता है, तो कालान्तर में वह मूल प्रतिपाद्य गायब हो जाता है और एक दल तैयार होता है। तुलसीदास जी ने राम को गाया और हम राम भक्ति शाखा के दल पर शोध कर रहे हैं। कृष्ण कहाँ हैं हमारे अन्दर? कृष्ण-भक्ति शाखा का दल हावी है। पुस्तकालय भरे पड़े हैं दलबन्दी के दस्तावेजों से। प्रेम और सौन्दर्य कहाँ है आज कल? कुछ किस्से दुहराकर फिर हम बैर विरोधों में फँस जाते हैं। राम, कृष्ण प्रेम ये सब कहाँ हैं? दलबंदी के पीछे रह गये हैं, सिर्फ हमें भटकाकर अपने पीछे-पीछे चलने के लिए। दल बनते ही महापुरुष तो गायब हो गये। परतंत्रता तैयार हो जाती है परम्परा बनते ही? परम्पराएँ रूढ़ियों और अंध विश्वासों की जननी हैं। अनुकरण सबसे बड़ा अंधापन है। वाद सारे विवादों का जनक है। और कविता अधिकतर परम्पराओं में बँधकर चली है, दलों में बँट कर चली है, वादों में घिर कर चली है। जो विश्व कवि हो चुके हैं, जिनको मनीषी, परिभू और स्वयंभू कहा गया है—मात्र वे कुछ गिने चुने ही परम्पराओं और वादों को तोड़कर आगे बढ़े हैं, इसीलिए इतिहास उनको कभी बिसार नहीं पाएगा। शेष, गली-गली और चौराहे-चौराहे रेंगने वाले कवियों को कोई याद नहीं रख पाया।

अन्यथा सच्ची कविता में तूफान का प्रभंजन भी है और भूचाल का कम्पन भी। जिंदा दफन करने का जहर भी है और आत्म हत्या से बचा लेने का अमृत भी। चुल्लू भर पानी में डुबाकर कविता मार भी सकती है और डूबते को तिनके का सहारा भी बन जाती है। कायरों को शूर भी बनाया है कविता ने और शूरों को कायर भी। कविता पुरस्कृत भी होती है। और कविता हथकड़ियाँ भी पहनाती है। चुनौती भी बनती है और चुनौतियों का सामना भी करती है। कविता में पायल की झंकार भी है और गोलियों की तड़-तड़ाहट भी। कविता सर्जन भी करती है और संहार भी। नारी की प्रेरणा से लिखी कविता अध्यात्म के उद्यान में भी पहुँचा देती है और वासना की कीचड़ में भी डुबा देती है। अँधेरे में दीपक भी बनती है कविता और उजाले में अँधेरी रात भी। कविता लखपती भी बनाती है और टुकड़े-टुकड़े को मुँहताज भी कर देती है। कविता ने सूर भी बनाया है और जुगनू भी। □

२०. भाषा : विघटन की परिभाषा

जब एक हृदय की बात को, दूसरा हृदय सुनने को तैयार नहीं होता और सुनकर भी यदि स्वीकार नहीं करता, तभी एक काँटा चुभता है और दरार दरक जाती है। यह भी भीतर की बात ही जीवन की असली 'बोली' है, जो बाहर आते-जाते जगत् की 'भाषा' बन जाती है। जीवन की बोली और जगत् की भाषा दोनों बिल्कुल अलग-अलग हैं। बोली स्वाभाविक होती है। सहज होती है। अकृत्रिम होती है। किन्तु भाषा बनावटी होती है। एक पैदा होती है। दूसरी पैदा की जाती है। हृदय की या जीवन की बोली ने जब-जब बाहर की, मुँह की या जगत् की भाषा का रूप धारण किया है, तब-तब अशान्ति और बेचैनी पैदा हुई है—क्योंकि हृदय की बोली का कभी अनुवाद नहीं हो सकता, ज्योंही वह शब्दों में उतरती है, कि झूठी हो जाती है। शब्द में वह क्षमता ही नहीं कि सत्य का अनुवाद कर सके। सत्य मौन है।

वह हृदय की भाषा गांधी जी में जगी थी—और जब तक वह उनके ही भीतर रही, तबतक तो ठीक, पर जैसे ही उसने शब्दों का परिधान धारण किया वह जगत् की भाषा बन गयी। आजादी तो उसने दिलायी, पर एक के दो कर दिये। अन्ततोगत्वा जगत् की भाषा ने उसे गोली से उड़ा दिया—क्योंकि गांधी की भाषा के पास नाथूराम गौडसे की भाषा न कभी बैठी है, न बैठेगी।

कृष्ण की भाषा जबतक उनके हृदय में छिपी रही, तबतक पाण्डव वन-वन भटकते रहे, भीख माँगने को भी तैयार हो गये—पर जैसे ही उस भाषा ने गीता के शब्दों का रूप धारण किया कि महाभारत हो गया। जीसस की भाषा जब शब्दों में उतरी उसे शूली पर चढ़ा दिया गया। सुकरात की भाषा जब शब्दों में घुसी, उसको जहर पिला दिया गया। बुद्ध की भाषा, महावीर की भाषा जब शब्दों में कुलबुलाई राजपाट छोड़ दिया।

भीतर का चिन्तन या भाषा, एक मानसून की तैयारी का पूर्वाभास है। तूफान आने से पहले की उमस है। परिवर्तन की किताब का आमुख है। शब्दों के रूप में मानसून छा जाता है—और अभिव्यक्ति से, चाहे वह गर्जन-तर्जन हो और चाहे रिमझिम, मानसून आ जाता है। 'भेजे मन मानन के ऊधव के आवन की' सुधि पाकर गोपियाँ 'मूरति निरास की सी आस भरी' उद्धव के कुछ न कहने तक चुपचाप जोहती रहीं परन्तु उद्धव के कठोर बैन-पाहन चले कि उनका 'मन-मुकुर' टूक–टूक हो गया। भीतर घुमड़ता हुआ आक्रोश और क्षोभ जब तक बाहर शब्दों में प्रकट नहीं होता, तब तक तो पेड़-पौधे सलामत रहते हैं, किन्तु जैसे ही मुँह की भाषा से वह अंधड़ आया, कि विध्वंस शुरू हो जाता है, परिवार विघटित हो जाते हैं। मित्र शत्रु बन जाते हैं।

हमने एक धारणा बना ली है कि हमारी अव्यक्त भावनाओं को, हमारी अज्ञात कामनाओं को और अनकही बातों को, बिना बताये ही दूसरे लोग समझ लें, और अपने आप ही समझ कर हमारे मुताबिक व्यवहार करें। पर ऐसा नहीं होता। जब ऐसा नहीं होता तो सब गड़बड़ हो जाता है।

पति की भाषा में पत्नी सिर्फ उसकी अव्यक्त भावनाओं की अनुकृति मात्र है। यदि वह पति की भावनाओं का अनुकरण बिना बताये नहीं करती, तभी तनाव पैदा होते हैं। अलगाव की दरार पड़ने लगती है—और जब-जब यह अव्यक्त तनाव भाषा में प्रकट हुआ है तभी दरारें खाई बनी हैं,–ऐसी खाई, जो एक बार बनकर फिर कभी अटती नहीं। वह जो विवाह होने के बाद महकी थी प्रेम की भाषा, वह तो बनावटी थी, घासलेटी थी। उस भाषा में भावनाओं को भावनाओं पर थोपने का प्रयास नहीं था। मिलाने का भी नहीं, सिर्फ अन्धे–अन्धी का आंख मिचौनी खेल था। आज दोनों अलग-अलग अन्धकूपों में गिर पड़े हैं। अपेक्षा ने धक्का देकर उपेक्षा की खायी में ढकेल दिया है। प्रेमी-प्रेमिका की शुरूआत की यह रूमानी भाषा आखिर में तलाक के कागजों से माथा पीटती है क्योंकि जब यह तथाकथित प्रेम परवान चढ़ा था, उस समय उनकी भीतर की भाषा ओट में खड़ी हो गयी थी, उस समय जो भाषा वे बोलते थे, वह आदि–अन्त को जोड़ने वाली नहीं थी। आदि-अन्त के दो छोरों के बीच, भीतरी भाषा के या जीवन की भाषा के कुछ बिन्दु भी नहीं थे। खाली था वह बीच का हिस्सा, जिसमें बाद में चलकर तनाव, कुण्ठा और आक्षेपों के अक्षर भर दिये गये। इसीलिए बिना एक दूसरे की मूल भाषा को समझे जीवन की किताब प्रकाशित नहीं हो पायी।

जब तक दो भाई कुँआरे होते हैं, तब तक उनके बीच जीवन की असली बोली होती है और गृहस्थी की ग़ाड़ी लाइन पर दिखाई देती है। पर जैसे ही विवाह हुए और बाहर की भाषा से गठजोड़ हुआ कि भीतर की भाषा गायब हो जाती है। फिर होती है वहाँ देवरानी के पास जेठ–जेठानी की शिकायत की भाषा और उनके पास इनकी शिकायत की भाषा। साँस के पास बहुओं की और बहुओं के मुँह में सास ननद की। कहीं से व्यंग्यों के तीर चलते हैं, कहीं से अन्योक्ति के तानों की बरछी ! कोई सामान इकट्ठा करता है, कोई हल्का करता है—और एक दिन यह भाषा सारे परिवार को वहाँ ले जाकर खड़ा कर देती है, जहाँ सब होते हुए भी कोई किसी का नहीं होता। उस नक्कारखाने में घर का बुजुर्ग मुखिया, तूती की आवाज बनकर रह जाता है। ऐसी स्थिति में उसके पास सिर्फ कुढ़ने की भाषा होती है। बिगड़ती हालत पर पश्चात्ताप करने की भाषा होती है—जो उसे रात-रात भर जगाती है, करवटें बदलवाती है–आखिर हृदय रोग का मरीज बना देती है यह भाषा। ऐसी है यह दुण्टा, जिसे वह किसी से कह भी नहीं सकता, सह भी नहीं सकता। मुँह में उबलता दूध है न पिया जाए न उगला जाए। न जिया जाए, न मरा जाए, बस "दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै"।

भाषा के अपने अलग चुनाव और अलग-अलग पात्र होते हैं, बच्चे के पास

भाषा बूढ़ी होती है,–जैसे उसकी मांस पेशिया ठिठुर गयी हों, इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी हों ! और बूढ़े के पास जवान भाषा होती है—अनुभव रस के यौवन से भरी हुई। भाषा के मामले में हम लोग बड़े कलाकार हैं। अनजान और अज्ञानियों के सामने हमारे पास दार्शनिक और ज्ञानियों की भाषा होती है और विद्वानों के बीच निपट मूर्ख की भाषा ! कमजोरों के सामने हम भाषा में वीररस घोलते हैं और सबल के चंगुल में फँसकर करुणरस में बोलते हैं। बूढ़ी औरतों के लिए हमारे पास बेटे की भाषा होती है और सुन्दरी युवती के लिए मजनू की भाषा। माँ-बाप के सामने भाषा सुशीला होती है और लोफर मित्रों के साथ सड़क छाप भाषा। थाने की भाषा मयखाने में बदल जाती है, और मयखाने की भाषा जेल खाने में गल जाती है। विजय की भाषा सड़क पर जुलूस निकालती है और पराजय की भाषा एकान्त में सिर धुनती है।

नीति को ताख पर रखकर आयी हुई राजनीति की भाषा जब धर्म के सम्मुख खड़ी होती है तो अधर्म पैदा होता है। साहित्य की ओर देखती है तो जीवन से सदाचार का रंग उड़ जाता है और जब समर्थ भाषा को बगल में लेती है यह राजनीति की भाषा तो फूट, शोषण और जबरदस्ती का दौर आरम्भ होता है। राज्य की यही भाषा है। हमारे विचार से राज्य की भाषा का अर्थ होना चाहिए–वह भाषा, जिससे सब राजी हों कोई नाराज न हो परन्तु आज राज्य की भाषा का अर्थ है, नाराजी की भाषा, जबरदस्ती की भाषा !! हम गाय को भैंस कहते हैं तुम भी कहो ! हम दिन को रात कहेंगे, तुम भी बोलो ! हम आम को बबूल बनाएँगे, तुम भी मानो ! यह राज्य की भाषा है, राजी करने की भाषा है। कोई होगा राजी इस भाषा से ? किसान नाराज है, व्यापारी नाराज है, शिक्षक नाराज है, हर कर्मचारी नाराज है। सबमें नाराजी भरी है, इस राजी करने की, राज्य की भाषा ने !

इस भाषा ने ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बना दिये और भाषा ने ही इंग्लैंड और अमेरिका। भाषा ने ही हिटलर और मसोलिनी निर्मित किये और भाषा ने ही सुकरात और बुद्ध ! भाषा ने बिहारी बनाया और भाषा ने ही भूषण ! भाषा ने ही जयचन्द पैदा किया और भाषा ने ही पृथ्वीराज। इसी भाषा ने मानसिंह बनाया और इसी ने राणा प्रताप ! भाषा ने ही लक्ष्मीबाई को जन्म दिया और भाषा ने ही वेश्या को ! भाषा ने ही क्लबों में नृत्य किया और भाषा ने ही तीर्थों में पूजा ! भाषा ने ही विभीषण को भाई से अलग किया और भाषा ने ही उसे राम से मिला दिया।

अहिंसा की भाषा ने भारत की खोई हुई आजादी वापस दिला दी, तो हिंसा की भाषा ने नागासाकी और हिरोसिमा को रसातल पहुँचा दिया। प्राप्ति की भाषा ने महाभारत कराया तो त्याग की भाषा ने पाण्डवों को हिमालय में गला दिया। भाषा ने ही काम सूत्र लिखा और भाषा ने ही विनय पत्रिका।

काम की भाषा मनुष्य का पतन करती है तो निष्काम की भाषा महावीर बनाती है। बैर की भाषा जलाती है तो प्रेम की भाषा फूल सा खिलाती है। भय की भाषा कायर बनाती है तो निर्भय की भाषा सूरवीरों को ढालती है। भाषा आदमी को अमर भी बनाती है और भाषा कुत्ते की मौत मार भी देती है।

वह जो भीतर की बोली है असली वही प्रकाश की भाषा है—ऐसे प्रकाश की भाषा, जिसकी कोई परिभाषा नहीं. शब्दों के कटघरों में उसको भरा नहीं जा सकता। वह भाषा सारे विश्व की एक ही है और वह मानव की भाषा है, मानवता की भाषा है, सिर्फ लिपियाँ अलग हैं—मनुष्य के रूपरंग की तरह—परचेतना की तरह और पीड़ा की तरह भाषिक चेतना एक है, यह उजाले की भाषा जब-जब बाहर आई है तब-तब इसे पीने के लिए अँधेरा तैयार खड़ा मिला है। परन्तु प्रकाश की भाषा ही एकमात्र ऐसी है, जिसने कभी भी अँधेरा नहीं देखा और अंधेरे की भाषा भी बेजोड़ है, जिसने कभी उजाले की भाषा को बाँचा तक नहीं।

नींद की भाषा ने कभी जागरण की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और जागरण की भाषा आलस्य की भाषा को देख सदा कुढ़ी है। दोस्ती की भाषा ने सदा दोस्तों का ही गला दबाया है और दुश्मनी की भाषा ने आदमी को सदा चैतन्य रखा है। दुःख की भाषा ने सदा सुख का द्वार खोला है और सुख की भाषा ने सदा अपना भविष्य बिगाड़ा है। विरोध की भाषा ने आदमी को आगे बढ़ाया है और अनुकरण की भाषा ने पीछे ढकेला है।

यह जो बाहर बोली जाने वाली भाषा है, या यह जो विविध धार्मिक, साम्प्रदायिक ग्रन्थों में लिखी हुई भाषा है इससे भीतर की भाषा की पटरी नहीं बैठती। क्योंकि बाहर की भाषा या तो हिन्दु की भाषा है या मुसलमान की! सिक्खों की भाषा है या ईसाइयों की! देश की भाषा है या विदेश की! इन भाषाओं के पीछे बड़े झगड़े हैं कि इस भाषा को राष्ट्र भाषा बनाया जाए या उस भाषा को, पर कुछ भी हो ये बाहर की भाषाएँ आदमी की भाषाएँ नहीं। ये तो मजहबों की भाषाएँ हैं या जातियों की भाषाएँ हैं। भीतर की भाषा शुद्ध मनुष्य की भाषा है, इन्सान की भाषा है। यह भाषा मजहबों से पैदा नहीं होती—मजहबों को बनाती भी नहीं—अपने आपमें ही एक धर्म होती है और एकता इसका नारा होता है। यह भाषा हिन्दू-मुसलमान, सिख-इसाई, अपना-पराया, मित्र-शत्रु, ऊँच-नीच आदि शब्दों को कतर कर फेंक देने की कैंची है, इसके बाद कोष में विश्व, इन्सान और प्रेम ये तीन ही शब्द सारे शब्दों की व्युत्पत्तियों के मूल स्रोत हैं।

यह बाहर की भाषा जितना जोड़ती नहीं उतना तोड़ देती है। जब यह जमीन जायदाद की भाषा बनती है, तो बन्दूक की नोक पर खून के बटवारे होते हैं। जब यह भाषा कोर्ट कचहरी की बनती है तो सैकड़ों बेगुनाह सीकचों में खड़े हो जाते हैं। जब यह भाषा पूँजीपति की बनती है तो गरीबों की रोटी छीन लेती है, जब यह भाषा कुर्सियों की होती है तो पुरानी चारपाइयों को बाहर फिंकवा देती है।

महलों की भाषा ने सदा झोपड़ियों को उजाड़ा है और बगीचों की भाषा ने जंगलों को दुतकारा है।

जाने कितने जुल्हे काले किये हैं इस भाषा ने। जाने कितनों को घर से बेघर और बेघर से घर कर दिया इसने। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य छूत और अछूत सब इस भाषा की जादूगरी के खेल है। इस भाषा ने मस्जिद बड़ी कर एक इन्सान के दिल से राम को निकाल दिया और मन्दिर बनवाकर एक मानव को खुदा का विरोधी बना दिया। धर्मों की, संघों की, सम्प्रदायों की, और जातियों की भाषाओं ने इस देश को मथ डाला है—मानवता को पीस डाला है। एक देश के व्यक्ति को दूसरे देश में विदेशी और एकही प्रदेश का व्यक्ति जब उसी प्रदेश के दूसरे छोर पर पहुँचता है तब यह भाषा पूरब और पश्चिम का भेद खड़ा कर देती है और भाई-भाई के बीच घृणा की दीवार खड़ी कर देती है।

"रंग क्या बदलेगा गिरगिट, आप उससे भी बड़े हैं," कहने की आवश्यकता नहीं कि रंग बदलने में भाषा का मुकाबला किसी और से नहीं किया जा सकता। इस भाषा ने न जाने कितने दोगले खड़े कर दिये हैं, जिन्होंने पल भर में ही पूछों को मूँछों में और मूँछों को पूँछों में बदलवा दिया। कहते हैं जिसे बात नहीं लगी उसे लात क्या लगेगी! भाषा के ये रंग देखने लायक हैं। कहीं बोली गोली से भी भयंकर मार करती है तो कहीं बात कुत्ते की लात का भी मुकाबला नहीं कर पाती। कहीं बातों से पहाड़ उड़ाये जाते हैं तो कहीं तिनका भी नहीं हिलता। कोई अपनी नासमझी से बात बिगाड़ लेता है तो कोई बिगड़ी बात बना लेता है। कहीं बातों-बातों में बतबढ़ होती है, तो कहीं बातों-बातों में फैसला। कहीं जबान से बेटी पराई होती है तो कहीं जबान के कारण ही आत्महत्या! कहीं बातों से असम्भव भी सम्भव हो जाता है तो कहीं कोई बातों के पुल से पार नहीं हो पाता। कहीं पानी की बात करने से प्यास नहीं बुझती तो कहीं रस न दे तो रस की सी बात ही करने का उपदेश दिया जाता है। कहीं फालतू बातें हैं, तो कहीं काम की बातें! कहीं बे सिर-पैर की बातें हैं तो कहीं खास और गहरी बातें। कोई बातों का ही खाता है, तो कोई बिना बात जीता है। कोई आकाश-पाताल के कुलावे मिलाता है, तो कोई बातों से पूरब-पश्चिम की हाँकता है।

जिन जन भाषाओं ने राष्ट्र भाषा को बनाया, वही राष्ट्र भाषा पदासीन होकर उनसे घिनयाने लगती है और परायी माँ को अपनी माँ कहने में गौरव समझती है। भाषा ने ही भारत को विधर्मियों से कुचलवाया और भाषा के कारण ही अंग्रेजों ने भारत को चूसा। देवताओं की अंधी भाषा मन्दिरों को टूटते हुए देखती रही और जाने कितनी देव प्रतिमाओं को उसने सीढ़ियों में चिनवा दिया। शूद्र की भाषा ने सदा पराये पाखाने साफ किये हैं और क्षत्रिय की भाषा ने तलवार की धार पर सुलाया है। जाने कितनों को ब्राह्मणों की भाषा ने अन्धविश्वासी बना दिया और बनियों की भाषा ने न जाने कितनों को लूट लिया। तस्करी की भाषा ने विदेशों को

स्वदेश में और स्वदेश को विदेश में भर दिया। चोरों और बलात्कारियों की भाषा ने न जाने कितने पराये धन और शील की गठरियाँ फाड़ डालीं।

गरीब की भाषा से कभी अमीर की भाषा के कान पर जूँ नहीं रेंगती, पर अमीर की भाषा ने सदा गरीबों का दिल तोड़ा है। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों, पेड़-पौधों की भाषा सदा मनुष्य पर आँसू बहाती आयी है, पर मनुष्य की भाषा के खयाल में इनको कभी दुःख ही नहीं होता। वाल्मीकि ने इनकी भाषा को समझा था, तो आदि कवि हो गये। शकुन्तला ने इनकी भाषा को समझा था तो भरत की माता बन गयी। परन्तु जगत् की भाषा ने बैल की भाषा को सिर्फ जुतने की भाषा समझा है, कुत्तों की भाषा को दुतकारने की भाषा समझा है। बकरों की भाषा को कटने की भाषा समझा है, चीटियों की भाषा कुचली ही गई, तोता-मैना की भाषा पिजड़ों में बन्द की गयी है। साँप की भाषा ने अच्छे-अच्छे पहलवानों को भी उछाला है और शेर की भाषा ने, सदा सीने दहलाये, पेड़-पौधों की भाषा को सदा फल खाकर बेच देने की भाषा समझा गया है और औरत की भाषा को आँसुओं की भाषा ! बेटी की भाषा सदा पराये घर का कूड़ा समझी गयी और बेटे की भाषा आँखों का तारा !

आदि मानव के पास जब कोई भाषा न थी, सिर्फ इशारे थे, तब कोई झगड़ा न था। कोई राजा भी नहीं था, प्रजा भी नहीं। कोई पूँजीपति भी नहीं कोई भिखारी भी नहीं। कोई जाति, धर्म, सम्प्रदाय संघ पंचायत चोरी, मुकदमे, तस्करी, आतंक कुछ भी नहीं था। बस जीवन की भाषा थी। ज्यों-ज्यों जगत् की भाषा उन्नत होती गयी—जीवन की भाषा मरती गयी। □

२१. गणित का काव्यशास्त्र

भौतिक ज्ञान के दो गमले हैं—एक अंक-ज्ञान का और दूसरा अक्षर-ज्ञान का। अंक-ज्ञान के गमले में आगे चलकर गणित और विज्ञान के कँटीले गुलाब लगाये जाते हैं और अक्षर ज्ञान के गमले में काव्य और कला की कुन्दकलियाँ महकती हैं। फूलों के साथ काटों के अस्तित्व को भी नकारा नहीं जा सकता, लेकिन बहुत कम ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो काँटों की ओर अपना हाथ बढ़ाते हैं। अधिकांशतः वे ही हैं जो चाहे अपने आँगन (बिना काँटों के) फूल बोएँ या न बोएँ पर उनके मन में फूल अवश्य मुसकाते महकते हैं।

मैं अपने आपको इन्हीं अधिकांश लोगों में पाता हूँ कि कविता का नाम सुन मेरा मन **नौ-नौ बाँस उँछलने लगता है** और गणित का नाम सुन मेरा मन ऐसे काँप जाता है जैसे सिर **पर शनीचरी ढैया** आ गयी हो। जबसे मेरी 'तखती पुजी', तभी से गणित मुझे मौत का फरमान और गणित पढ़ाने वाले अध्यापक मुझे यमदूत जैसे दिखाई देते थे। गणित का घंटा आता और मैं कक्षा से आँख बचाकर ऐसे चुप-चाप सरक जाता, जैसे अधिकांश बच्चे टी० वी० पर समाचार नाम आते ही धीरे से खिसक जाते हैं। यही कारण रहा कि कक्षा एक से नौ तक, मैं गणित विषय में सबसे रद्दड़ विद्यार्थी रहा और मेरे अध्यापकों द्वारा यह कहावत कई बार मेरे ऊपर चस्पा की गयी कि "**पढ़ गये पूत कुम्हार के सोलह दूनी आठ**। परीक्षा-फल का आलम यह था कि कभी 'जीरो' तो कभी चार, पाँच क्रपांक देकर मुझे हिकारत के धक्के से अगली कक्षा में धकेल दिया जाता। गणित के अध्यापकों के लिए मैं, मियादी बुखार से लेकर मौत तक की दुआएँ माँगता रहता था। हाई स्कूल की बोर्ड परीक्षा में पता नहीं मेरे सैंतालिस अंक कैसे आ गये? हाई स्कूल क्या पास हुआ—एक वैतरणी पार हो गयी। जान बची और लाखों पाये। बड़ी राहत की साँस आयी। ऊपर से **साढ़े साती हटी**। आगे से दीवार गिरी। नीचे से दल-दल छँटी। मन कविता कामिनी की वज्म में जाने को मचलने लगा—

"फिर नजर में फूल मँहके, दिल में फिर शम्मा जली।
फिर तसब्बुर ने लिया उस बज्म में जाने का नाम ॥"

पर खुशी तो **चार दिन की चाँदनी है**। जो व्यक्ति उत्कर्ष के साथ अपकर्ष को, खुशी के साथ गम को और पाने के साथ खोने को भूल जाता है, उसका विरोधी तत्त्व पीछा नहीं छोड़ते। भय का कारण उसे चारों ओर से घेरे हुए खड़ा दिखाई देता है। मेरे साथ यही हुआ। हाई स्कूल के बाद मैं समझा था कि गणित से पिंड छुट गया। अपनी ही जान जैसे-तैसे इस राक्षस से बची थी, कि अब औलाद खोपड़ी पर आ गयी। लगता है कि मेरे बच्चों का नहीं मेरा ही फिर से कक्षा एक में दाखिला हो गया है। जब बच्चे

गणित की किताब, स्लेट और पेंसिल, लेकर सवाल पूछने आते हैं तो मेरे **छक्के छूटने** लगते हैं। मेरी प्राध्यापकी का दम्भ बच्चों से कतराकर बगलें झाँकने लगता है। फिर भी मेरा अहंकार उछाल भरता है। और अपने अज्ञान को दबाने के लिए मैं बच्चों को ही दबाते हुए फटकार देता हूँ कि 'इतनी छोटी-छोटी बातें भी नहीं जानते। जाओ अपने आप करो स्कूल के मास्टरों से क्यों नहीं पूछते ?' बेचारे बच्चे ! सहम जाते हैं। डर कर मेरे पास फिर नहीं आते। मैं जानता हूँ कि उनके गणित के भविष्य को तो मैं **चौपट** कर रहा हूँ।

परस्पर विरोधी भावों की आँधी मुझे झकझोर जाती है, लेकिन गणित से डर और फिर उसे कोसना बन्द नहीं है। गणित की ये भिन्न मेरे मस्तिष्क को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। यह गुणा-भाग मेरे सुख-चैन में आग लगा देते हैं। यह बीजगणित और रेखागणित ! मुझे **चारों खाने चित्त** कर देते हैं। हे भगवान् ! किस औंधी खोपड़ी ने इस बेहूदी बातों की कल्पना की थी। अब बताइए जीवन की कौन सी समस्या का समाधान कर दिया—इन त्रिभुज चतुर्भुजों ने ? मुझे त्रिशंकु अवश्य बना दिया। और यह बीज गणित ! कि 'क' की घात दो धन 'ख' की घात तीन धन 'ग' की घात पाँच बराबर पत्थर ! बाप रे ! ये बीजगणित की घातें हैं या मेरे ऊपर आघात।

× × ×

गणित मेरे भय का सबसे बड़ा मुद्दा था जिससे मैंने हर सूरत में बचना चाहा, पर सत्य तो यह है कि जिससे हम बचना चाहते हैं, वह हमारे अवचेतन पर हाबी हो जाता है और फिर विभिन्न रूपों में जीवन के हर मोड़ पर दिखाई पड़ता है–कभी डराता है, कभी कँपाता है, कभी भगाता है, पर पीछा नहीं छोड़ता। भय मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है उसे पलायन बादी बना देता है और जीवन उसके हाथ से निकल जाता है। दिनकर जी के शब्दों में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था—

"जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो उससे डरते हैं।
वह उनका जो पैर रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।।" (दिनकर)

इस कथन ने मुझे मथ डाला और फिर मुड़कर, तटस्थ होकर मैंने अपने काव्य और साहित्य शास्त्र के चश्मे से गणित को देखा तो किसी शायर की ये दो पंक्तियाँ मेरे जहन में उत्तर आईं—

"सोचा था तुझसे दूर निकल जाएँगे कहीं।
देखा तो हर मुकाम तेरी रह गुजर में है।"

और सचमुच इस समय देख रहा हूँ कि गणित तू "ओमनी प्रेजेन्ट" है, सर्व व्यापक है, हर, वस्तु और पदार्थ को उचित आकार तू ने ही दिया है–"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।"

गणित का अर्थ है एक कायदा, एक नियम, एक तरकीब, एक तरतीब, एक योजना, एक सिद्धान्त, एक अन्विति, एक अनुशासन, एक रीति, एक राह,

अनेकता में एकता और विषमता में समता की स्थापना–और इन्हीं तत्त्वों से जीवन का निर्माण और निर्वाह होता है। जहाँ ये नहीं, वहीं जीवन ऊबड़-खाबड़ और विषम हो जाता है जैसे कोई एक से दस तक की गिनती ऐसे बोले कि पाँच, तीन, आठ, दो, चार, एक, नौ, छह, दस, सात, तो कोई कह सकता है कि ये गणित की गिनतियाँ हैं ? यद्यपि ये गिनती ही हैं गणित की, लेकिन एक क्रम एक तरतीब नहीं तो गणित नहीं। सिर्फ पागल का प्रलाप है। इसी प्रकार कविता की इस पंक्ति को ऐसे भी बोला जा सकता है कि "हूँ तू जिधर देखता है ही तू उधर" क्या यह वही काव्य-पंक्ति है ? यही है गणित में काव्य और काव्य में गणित और इस सन्दर्भ में भारतीय और पाश्चात्य का काव्य-शास्त्री एक मत है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्री कॉलरिज ने कहा कि "पोइट्री इज दी बैस्ट वर्ड्स इन बैस्ट आर्डर" अर्थात् सुन्दर शब्दों की क्रमबद्ध योजना ही काव्य है। यही बात प्रकारान्तर से भारतीय आचार्य 'भामह' ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" परिभाषा देकर कही। यदि यही क्रम न हो, नियम न हो, सिद्धान्त न हो तो गणित, गणित नहीं, भाषा, भाषा नहीं और काव्य, काव्य नहीं। जीवन की भी अस्मिता खो जाए और सारा संसार उलट जाए। इन तत्त्वों की आवश्यकता की अनुभूति की सरस, मनोरम अभिव्यक्ति जो जीवन को आनन्दमय बनाती है, काव्य है और इन तत्त्वों की तात्त्विक विवेचना या शास्त्रीय विवेचन ही काव्य-शास्त्र या काव्य का गणित है। गणित जीवन को उपयोगिता और अनुशासन का गुण प्रदान करता है तो काव्य आनन्द का। अतः यदि हम यह कहें कि अनुशासन और सुन्दरता का अथवा गणित और काव्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, तो अतिश्योक्ति नहीं। दोनों ही जीवन को पूर्णता और सत्य की ओर ले जाते हैं। दोनों की मंजिल एक है, पर राहें अलग हैं–थोड़ी सी। एक का रास्ता कंकरीला–पथरीला है जो झाड़–झंखाड़ों और रेगिस्तानों से होकर जाता है, जिस पर अंक, बीज और रेखाओं की तिपहिया ऊँटगाड़ी ही जा सकती है और दूसरे का मार्ग सपाट, चिकना और छायादार है, जिस पर भावना और कल्पना की मारुति सरसराती हुई जाती है। पर, जीवन, समाज और लोक के संचालन में दोनों का हाथ बराबर है। एक की भी अनुपस्थिति सारा गुड़ गोबर कर सकता है–सिर्फ उन योगी–विरक्तों को छोड़कर जो तुलसी की भाषा में कहते हैं कि—

"माँगिकै खैबो, मसीत को सोइबो
लैबे को एक न दैबे को दोऊ।" ––(तुलसी, कवितावली)

अथवा जिन्हें किसी के **नौ नगद न तेरह उधार** से कोई मतलब नहीं है; अन्यथा, गणित यदि एक व्यवस्था है तो काव्य उस व्यवस्था में चार चाँद। गणित यदि अस्थिपिंजर है तो काव्य सुन्दर सजीली देह यष्टि। गणित यदि साँचा है तो काव्य उसमें ढली ईंट से निर्मित सुन्दर भवन। गणित यथार्थ है तो काव्य आदर्श। गणित फूल का आकार है तो काव्य उसकी सुगन्ध। गणित आदमी की बुद्धि के खेत में पैदा होता है तो काव्य कमल उसके हृदय सरोवर में खिलता है। गणित बीज है तो काव्य फल और फूल। बनाने और पकाने का तरीका गणित है तो बने हुए

व्यंजन काव्य। सीने और काटने की विधि गणित है तो पहनकर अलंकृत होना काव्य। गणित, कागज, स्याही और कूँची बनाता है तो काव्य गीत, चित्र और मूर्ति बनाकर संसार को अलौकिक आनन्द देता है। गणित सिर्फ नींद लेता है तो काव्य सपने देखता है। विज्ञान की भाषा में गणित यदि पिण्ड है, तो काव्य 'द्रव' और 'गैस'। गणित धरती है तो काव्य पवन, जल और आकाश। गणित यदि अद्वैत दर्शन है तो काव्य द्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और त्रैत दर्शन, गणित विज्ञान है तो काव्य एक कला। गणित यदि भौतिक शरीर है, तो काव्य उसमें निवास करने वाला मन और आत्मा।

सारांश यह कि जिस प्रकार हर संख्या में इकाई छिपी है, उसी प्रकार गणित जीवन के हर क्रियाकलाप में मौजूद है। घर से लेकर बाजार घाट तक, भीतर से लेकर बाहर तक–चाहे खाना-पीना-रहना हो, चाहे कुछ खरीदना–बेचना हो, चाहे पढ़ाई, लिखाई, नौकरी हो, चाहे मर-मुकदमा हो, चाहे ब्याह-शादी हो, चाहे जन्म और मौत हो–गणित के हिसाब-किताब के बिना कोई समस्या नहीं सुलझती। पैसे के बिना जीवन नहीं और जहाँ पैसा है, वहीं गणित का बासा है। पैसे से आदमी को यश मिलता है और काव्य का प्रयोजन भी यश और अर्थ है। काव्यशास्त्री यही कहते हैं कि "काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे—।" 'हितोपदेश' कार ने तो जीवन को सुखकारी बनाने वाली इन छह चीजों में दो बार धन की दुहाई दी है—

"अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीव लोकस्य सुखानि राजन्।"

गणित बुद्धि की कसौटी है और बुद्धिहीनों के लिए संसार में क्या है? "यस्य बुद्धिर्बलं तस्य"। बेतरतीब और झाड़-झंखाड़ बने जीवन-बन के लिए गणित एक प्रशिक्षित माली की कैंची है, जिससे छँट-सँवर कर जीवन की बगिया मनोरम बनती है। योगी का योग गणित है, ध्यानी का ध्यान गणित है। भक्त की भक्ति गणित है, गृहस्थ की सूझ-बूझ और कार्यकुशलता गणित है। सरकार का प्रशासन गणित है, सामाजिक रिश्तों का निर्वाह गणित है। काव्य का काव्य शास्त्र गणित है, संगीत की सरगम गणित है। आलोचक की आलोचना के प्रतिमान गणित हैं और भाषा का व्याकरण गणित है। इनमें बस एक हासिल की चूक हुई कि सब कुछ गया।

सारी उत्पत्ति (प्रोडक्शन) विभिन्न तत्त्वों के योग या समीकरण से ही होती है और समीकरण गणित का प्रमुख सिद्धान्त है। वैज्ञानिक गणित के इसी समीकरण सिद्धान्त से सृष्टि, भाषा और काव्य की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि यह धरती पहले आग का एक गोला थी। चारों ओर गैसें ही गैसें थीं। हजारों वर्षों बाद ऐसा संयोग हुआ कि उन गैसों में दो भाग "हाइड्रोजन" और एक भाग "आक्सीजन" (एच$_2$+ओ) मिल गयी और पानी बन गया। पानी से धरती ठण्डी हो गयी और फिर वनस्पति, जीव, पशु

और मनुष्य पैदा हुआ । अतः कुदरती संयोजन या व्यवस्था इस सृष्टि के आदि जनक हैं ।

भाषा के मूल तत्त्व ध्वनि या वर्ण भी भीतर के समीकरण से ही पैदा होते हैं । आचार्य पाणिनी के अनुसार सबसे पहले आत्मा कुछ कहने की इच्छा से बुद्धि से सम्पर्क करती है, बुद्धि मन को, मन शरीर की शक्ति अग्नि को, अग्नि वायु या साँस को प्रेरित कर फेफड़ों से ऊपर मुख विवर की ओर भेजती है । मुख विवर में आकर यह वायु जीभ के सहयोग से भिन्न-भिन्न स्थान और प्रयत्नों से भिन्न-भिन्न ध्वनियों को पैदा करती है । येही ध्वनियाँ एक गणितीय क्रम से वर्णमाला (स्वर-व्यंजन) के रूप में शिक्षा के प्रारम्भ में हमें सिखायी जाती है । हर शब्द 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' के योग का ही फल है ।

श्रेष्ठ कविता में भी चार तत्त्वों (हृदय, बुद्धि, कल्पना और शैली) का संयोजन आवश्यक है । काव्य रचना भी तीन हेतुओं–शक्ति, निपुणता और अभ्यास की सहायता से होती है । इनके अतिरिक्त आचार्य भरत ने कुछ अन्य बातों की संघटना भी काव्य के लिए आवश्यक बतायी है । यथा—

"मृदुललित पदाद्यं गूढ़ शब्दार्थहीनं, जनपद सुख बोध्यं मुक्तमन्नृत्य योज्यम् ।
बहुकृत रसमार्ग संधि संधान युक्तं स भवति शुभ काव्यम् ॥"

यद्यपि हर चीज के निर्माण की प्रक्रिया के पीछे गणित काम करता है, फिर भी कई चीजें ऐसी हैं, जिनको बराबर, फिर उनके समझने में, गणित स्वयं मुँहकी खा जाता है, अपनी ही संतान के आगे घुटने टेक देता है, पछताता है । पर मुँह से निकली बात और बन्दूक से निकली गोली फिर कहीं वापस आती है ? गणित के इस पश्चात्ताप की घड़ी में काव्यशास्त्र और अर्थविज्ञान उठकर आते हैं, उसकी धूल झाड़ते हैं और अपनी लक्षणा तथा व्यंजना की घुट्टी पिलाकर उसे समझाते हैं कि मित्र तुम घबराओ नहीं, यदि तुम अपनी बात सिद्ध नहीं कर सकते तो हम तुम्हारे कथन को सत्य सिद्ध करके दुनिया को बताएँगे ।

गणित के मुहावरे ऐसी ही उसकी रचना हैं, जिनमें गणित अपना अर्थ छोड़ बैठा है, पटकी खा गया है । उसकी सारी अकड़ **नौ दो ग्यारह** हो गयी है । अब गणित के हिसाब से इस **नौ दो ग्यारह** में कौन सी नयी बात है ? सीधा सपाट मामला है जिसे बिना पढ़े-लिखे भी जानते हैं कि नौ और दो मिलकर ग्यारह होते हैं लेकिन काव्यशास्त्र कुछ और कहता है । काव्यशास्त्र कहता है कि गणित से जिसका अर्थ 'बढ़ना' होता है, काव्यशास्त्र से उसका अर्थ घटना होता है–घटना ही नहीं उड़न छू हो जाना होता है । और इस मुहावरे का यही काव्यशास्त्रीय अर्थ लोक में प्रचलित है, गणित महाराज अपनी ताख पर धरे रह गये हैं । **नौ दो ग्यारह** हो जाना मुहावरे का अर्थ है किसी से डरकर, बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये, अचानक भागकर आँखों से ओझल हो जाना । अथवा भीरुता, कायरता, निष्क्रियता और पलायन वादिता जैसी प्रवृत्तियों से भरा कैसा मुहावरे का ताबीज

दिया है गणित ने **नौ दो ग्यारह** हो जाना कि जिसमें मंत्र भरे हैं काव्यशास्त्र ने। इस मुहावरे को बोलते ही किसी के दिमाग में वह जोड़ नहीं आता जो वास्तव में ९+२=११ होता है, अपितु कुछ और ही आता है जिसे अभिव्यक्त करने के लिए कविता भी ओंठ फड़फड़ाकर रह जाती है कि—"कहा कहैं उद्धौ सौं, कहैं हूँ तो कहाँ लौं कहैं, कैसे कहैं, कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं ॥

और प्रेम की अकथ कथा जब शुरू हो जाती है तो फिर एक और एक दो नहीं होते। **एक और एक ग्यारह** होते हैं। अब देखिए कोई भी गणित का पण्डित मजबूर है सफेद झूठ बोलने के लिए–जब वह यह मुहावरा बोलेगा कि एक और एक ग्यारह, उसको यह गलत सवाल बोलना ही पड़ेगा—गणित के हिसाब से, यदि वह मुहावरेदार भाषा बोलेगा और लिखेगा तो; भले ही वह कहने के बाद पछताए कि मैंने यह क्या सरासर झूठ बोल दिया तब उसका साहित्यकार मित्र उसको सान्त्वना देगा कि बन्धु ! तुमने झूठ नहीं कहा, अपितु जीवन के छिपे हुए एक सत्य और दर्शन का उद्घाटन किया है। तुम्हारी दृष्टि किसी को ऊपर और किसी को उसके नीचे उतारकर जोड़ती है इसलिए तुम $\frac{1}{1}$=२ को ही सही मानते हो। तुम यदि हमारी समता और संवेदना की दृष्टि से देखो, जहाँ बिना धन, ऋण अर्थात् अमीर, गरीब, ऊँच-नीच के भाव से सबको एक कतार में लाकर बराबर खड़े कर दिया जाता है, तो एक और एक ग्यारह ही होते हैं।

एक और एक ग्यारह मुहावरा सही अर्थों में सहकारिता का स्रोत है और सहकारिता समाज और देश का बल है। समता और बराबरी की भावना ही निरहंकार है। ऊपर नीचे का आंकलन अहंकार है। हिटलर इसीलिए विवाह भी नहीं करना चाहता था कि वह किसी को अपनी बराबरी में नहीं देखना चाहता था। विवाह किया तो पत्नी बराबर खड़ी हो जाएगी, यह बात उसके अहंकार को स्वीकार नहीं थी। जीवन के अन्तिम क्षणों में उसने विवाह किया। और जब पत्नी बराबर आ गयी तो घण्टा भर बाद हिटलर आत्महत्या कर मर गया। दो भाई जब बराबर खड़े हो जाते हैं तो उन दो में बिखरे हुए ग्यारह से भी अधिक शक्ति होती है और जब बिखरकर ऊपर नीचे हो जाते हैं तो प्रेमचन्द के हीरा मोती की सी दुर्गति होती है। कहने का अर्थ यह कि मिले रहते हैं तो **एक और एक ग्यारह** और बिखर जाते हैं तो **बारहबाट**।

हमारे इर्द-गिर्द कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सदा दूसरों की नुक्ताचीनी करने में ही लगे रहते हैं, दूसरों के दोष ढूँढ़ते हैं, बेसिर पैर की हाँकते हैं, अनहोनी बातें करते हैं। इन सारी बातों के निचोड़ का गणित ने एक कैपसूल बना दिया **तीन-पाँच करना**। ऐसे ही तीन-पाँच छाँटने वाले व्यक्तियों को तुलसीदास ने सम्भवतः खल नाम दिया है–"जो विनु काज दाहिने बायें" मड़राया करते हैं और भगवान् राम के भी पहले तुलसीदास ने खलों की वन्दना की आड़ में भर्त्सना करते हुए कहा है "बन्दऊँ खल जस शेष सरोसा। सहस नयन निरखहिं परदोषा।।" अन्त में ऐसे

व्यक्ति के विनाश का रूपक बाँधते हुए तुलसी ने गणित और काव्य के समन्वय का लोक के सामने अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। तुलसी लिखते हैं कि "पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृसी दलि गरहीं ।।"

ऐसे व्यक्ति का बहुत जल्दी **तियापाँचा** हो जाता है। यह बात **सोलह आना** सच है। अब देखिए गणित ने सत्य निष्कर्ष के लिए एक खूँटा सा ठोक दिया–**सोलह आने** सच मुहावरे का ! जिस खूँटे से हिन्दू जीवन भी **सोलह संस्कारों** की रस्सी से जकड़ कर बँध गया। नारी को भी सोलह शृंगारों ने कामिनी बना दिया। उस पूर्ण ब्रह्म ने **भी सोलह कलाओं** से युक्त होकर भगवान् कृष्ण के रूप में अवतरित होकर, दुष्टों के **सोलह कर्म** कर दिये। मर जाने के बाद मृतकों के तर्पण के लिए समाज ने **सोलह दिनों** का श्राद्ध पक्ष बनाया। जिन सोलह दिनों में कौआ जैसे अधम जीव की भी आवभगत होती है। बिहारी ने लिखा है–जौलों काग सराद पखु, तौ लौं ही सनमान। "आदमी की जब सिट्टी–पिट्टी गायब होती है तो उसके लिए ब्रजभाषा में **सोलह खो जाना** मुहावरा प्रचलित है।

जीवन के लिए सोलह की संख्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जीवन निर्वाह के लिए रुपया और एक सेर अन्न हर आदमी के लिए आवश्यक है। और रुपया सोलह आने का तथा सेर सोलह छटाँक का होता है। चालीस सेर जब इकट्ठे हो जाते हैं तो एक मन बन जाता है और मन तथा छटाँक ने मुहावरा बनकर कविता में कैसे **चार चाँद** लगाये हैं, देखिए **'तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला मन लेउ पै देउ छटाँक नहीं।'** ब्रजभाषा में एकदम सूखी हुई वस्तु के लिए **"सूखी चालीस सेरी"** मुहावरा है। इस मन (चालीस सेर के बाँट) ने एक और कहावत बनाई कि **'न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी।"** सोचने की बात यह है कि तेल तो नौ मन क्या सौ मन और हजार टन भी हो सकता है—पर नौ मन तेल से राधा के नाचने वाली कहावत को न मालूम कितनी बार सुना और बोला है, लेकिन कभी भी इसके अर्थ पर ध्यान नहीं गया–और यदि हम ध्यान देना आरम्भ करें तो हमारे मुँह से निकले हुए लगभग पंचानवे प्रतिशत से ऊपर ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हम जानते-बोलते हैं, लेकिन मूलतः नहीं जानते। यह कहावत जब जुबान पर आई तो पता चला कि कितने पानी में हैं हम। सोचते-सोचते तहें उलटने लगीं और एकदिन अचानक विस्फोट हुआ और इस कहावत की पर्तों में से लोक की एक रस्म या रिवाज निकलकर मेरे सामने खड़ी हो गयी।

हिन्दू विवाह पद्धति में एक रस्म है कि जिस दिन विवाह होना है, उसके एक दिन पहले **मण्डप** या माढ़वा होता है और 'मंडप' के पहले 'तेल' होता है अर्थात् उस तेल के दिन सारा भोजन तेल में ही बनता है। घर के सभी लोग तेल का ही खाते हैं और मुहल्ले-पड़ौस तथा गाँव भर में अपने लेन-देन के व्यवहार के मुताबिक तेल की ही पूड़ियाँ बाँटी भी जाती हैं। शाम को स्त्रियों का नृत्य-गीत आदि का विशाल आयोजन भी होता है। जिस स्त्री पर नाचना नहीं आता, उसको भी दूसरी स्त्रियाँ नचाती हैं। ऐसी ही एक लड़की थी राधा। वह केवल दिखाऊ तीहर थी।

अर्थात् सुन्दर तो खूब थी, पर उस पर नाचना गाना नहीं आता था। बुद्धि की चतुर थी। स्त्रियों ने उसको जबरदस्ती नचाना चाहा तो उसने शर्त रख दी कि यदि नौ मन तेल में पूड़ियाँ बनेंगी. तभी मैं नाचूँगी। स्त्रियाँ ठंडी पड़ गयीं क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता। सभी जानते हैं कि तेल का पकवान अधिक नहीं खाया जाता। दो चार पूड़ियाँ, पकौड़ियाँ खाकर ही गले और पेट में जलन होने लगती है और उस तेल के दिन भी अधिक से अधिक दस, बीस सेर में तली हुई पूड़ियों को ही खपाना मुश्किल हो जाता है, फिर अन्दाज लगाइए कि नौ मन तेल में कितनी पूड़ियाँ तली जाएँगी और फिर उनका क्या होगा ? अतः नौ मन तेल को कोई न यों बर्बाद करेगा और न राधा की कलई खुलेगी कि वह नाचना नहीं जानती। इसलिए हर ऐसी शर्त के लिए, जो पूरी न हो सके, गणित की कहावत बन गयी कि न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी।

ऊपर सोलह की बात हो रही थी, सोलह में 'सुलह' भी है और बिना 'सुलह सफाई' के जीवन निर्विघ्न नहीं रह पाता। दुनिया जानती है कि जहाँ 'सुलह नहीं', वहाँ 'कलह' होती है और जहाँ 'कलह' है, वहाँ सुमति का नहीं कुमति का बासा होता है। जब कुमति आती है तो अपने साथ विपत्तियों की पूरी फौज लेकर आती है, 'जहाँ सुमति तहाँ सम्मति नाना। जहाँ कुमति तहाँ विपति निधाना॥' कुमति का पहला लक्षण है—आपस के प्रेम भाव में दरार पड़ जाना, विभाजन हो जाना, बँधी हुई झाड़ू की सींक-सींक बिखर जाना अथवा गणित की भाषा में **'तीन के तेरह हो जाना।'**

हिन्दू धर्म के अनुसार तीन की संख्या शुभ और तेरह अशुभ समझी जाती है। तीन ही देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश मुख्य हैं और तीन ही इनकी देवियाँ। सत, रज और तम तीन ही गुण हैं संसार में और सुत, वित तथा लोक तीन ही एषणाएँ। धरती आकाश और पाताल तीन ही लोक प्रमुख हैं और स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'त्रैतवाद' में ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीन ही तत्त्वों का निरूपण है। संस्कृत व्याकरण में तीन ही वचन, तीन ही पुरुष और तीन ही लिंग होते हैं, तीन ही अग्नियाँ हैं। व्याकरण के चौदह सूत्रों के जनक शंकर भी त्रिनेत्रधारी हैं। हर मनुष्य के भी तीन ही नेत्र होते हैं। तीसरा नेत्र ज्ञान का होता है, जो विरलों का ही खुलपाता है। काव्यशास्त्र में तीन ही शब्द-शक्तियाँ–अभिधा, लक्षणा और व्यंजना हैं तथा तीन ही पगों में भगवान् वामन ने तीनों लोकों को नापा था। जन्मेजय ने तीन दिनों में सारी पृथ्वी को जीता था।

"एक रात्रेण मांधाता त्रिहेणजन्मेजयः।
सप्त रात्रेण नाभाग पृथिवीं प्रतिपेदिरे॥"

तेरह का नाम सुनकर बहुत से लोग विदक जाते हैं। **न तेरह लेना** अच्छा समझते हैं और **न देना**। पंजाबी में 'तेरह' को 'तेरा' बोलते हैं और दुनिया मेरा ही मेरा कहती है, तेरा किसको अच्छा लगा है ? तीन जब तेरह हो जाते हैं अर्थात्

एकता जब अनेकता में बदल जाती है तो परिणाम बड़ा भयंकर होता है। एक मनुष्य आज अनेक जाति, वर्ग, सम्प्रदाय और धर्मों में बँटकर, हिंसा, उत्पीड़न, आतंक फैलाकर विश्व को ऐसे कगार पर ले जा रहा है, जहाँ से आगे कोई राह नहीं। ईश्वर न करे कि कहीं **तीन के** तेरह हों।

तीन. तेरह की तरह गणित की 'छत्तीस' (३६) की संख्या भी है, जो लोक में परस्पर समान लोगों के विमुख या विरोधी हो जाने के लिए मुहावरा बन गयी है। छत्तीस में जो छह (६) है, वह मूलतः जब सीधा था तो तीन (३) ही था, लेकिन अहंकार से उसके तेवर बदल गये हैं और अब अपने आपको छह कहता है। या कहें कि छह अपने साथ तीस को खड़ा कर **तीस मार खाँ** बन गया है—और यह तीन का अंक (३) बेचारा, 'जिसने ही छह (६) को बनाया, आगे चढ़ना सिखाया, वह यही कहकर अपने मनको समझाले कि जिनको सिखाया हमने चलना सँभल-सँभल के। चलते हैं आज वे ही तेवर बदल-बदल के।'

पर चले कितना ही तेवर बदल कर। हर चीज के शबाब का एक मौसम होता है, एक उमर होती है. **चार दिनों की चाँदनी फेरि अँधेरी रात**। कहते हैं कि **बारह वर्ष बाद** घूरों के भी दिन फिरते हैं और तेरह में बारह और मिला देने पर संख्या पच्चीस हो जाती है। पच्चीस की उम्र ऐसी ही होती है, जिसमें आदमी के हाल बदल जाते हैं, चाल बदल जाती है। जवानी अँधा कर देती है। हौसला **सेर का सौ मन** हो जाता है। इस उम्र में आदमी सबसे बैर-विरोध लेने के लिए हिन-हिनाता है। दुलत्ती झाड़ता है। इस उम्र के लिए गणित ने **गधा पच्चीसी** का मुहावरा दिया है। पच्चीस की उम्र तक आदमी अधिकतर गधे के समान ही होता है। साहित्यिक लक्षणा से गधे को 'वैसाख नन्दन' कहते हैं। अर्थात् प्रकृति के खिलाफ कि जब सारी दुनिया सूखती है, झुलसती है, तब गधा हरियाता है। हैंचू-हैंचू में आगा-पीछा भूल जाता है।

लेकिन, कब तक जवानी का नशा रहेगा ? यौवन और धन के समान बेवफा और कोई नहीं। यौवन का नशा कहता है कि "कोई हमसा नहीं जमाने में"। पर ब्रजभाषा में एक कहावत है कि—"मल्लन कूँ मल्ल घनेरे, घर नाएँ बाहिर बहुतेरे।" आखिर चालीस तक पहुँचते-पहुँचते कहीं न कहीं **आड़े को पाड़ा** या गणित की भाषा में **सेर को सवा सेर** मिल ही जाता है। ऊँट पहाड़ के नीचे आता है तो "हिये माथे की" खुल जाती है, बलबलाहट बंद हो जाती है।

अब जीवन का गणित करवट लेता है। गधा पच्चीसी अब **बुद्धि चालीसी** कहलाने लगती है। विगत जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों से चालीस पर पहुँचकर आदमी आत्म निरीक्षण करने लगता है। अपनी कमियों पर पछताता है और अच्छाइयों की ओर कदम बढ़ाता है। यह परिस्थिति, चालीस के बाद दो प्रकार के आदमी निर्मित करती है। एक तो वे हैं, जो जवानी के नशे में अंधे होकर 'छत्तीस' बन गये थे। सबसे बैर-विरोध मोल ले बैठे थे। इनको पहले तो कुछ अखरा न

था–जोश में, **सब धान सत्ताईस सेर या बाइस पसेरी** तोलते थे और अब होश आया है और बनी विगड़ गयी है तो हजार दुश्मन फन फुंकारे खड़े दिखाई दे रहे हैं पर "अब पछताए होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।"

अब तो बुद्धि विवेक भी साथ छोड़ गये। शरीर जवाब दे गया। अपने पराये हो गये। चेहरे पर **बारह बज गये**। अब कोई इन्हें **दमड़ी का दस सेर** भी नहीं पूछता। सीधी बातें कहते हैं तो भी गलत समझकर संतान यह कहकर उपेक्षा कर जाती है कि **सठिया गये हैं**। दूसरे वे हैं, जो सारी उमर स्याह-सफेद करने के बाद बुढ़ापे में भी **नहले पै दहला** बने रहते हैं। **अट्ठा-पंजा** लगा–लगा कर अपनी **पौ बारह** करते रहते हैं। **तीन तिकड़म** से, **चार सौ बीसी** से, **औने-पाने** कर–करा के **साठे पै पाठे** बने रहते हैं। सामान्य गृहस्थ, नौकरी–चाकरी वाले मध्यम वर्गीय लोग बेचारे "सठियाते हैं कि उनको घर से भी और बाहर से भी रिटायर कर दिया जाता है"। जबकि मन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि **साठे पै पाठे** होते हैं कि उन्हें बुढ़ापे में जवानी चढ़ती है और देश की बागडोर बूढ़ों के हाथों में थमा दी जाती है। यहाँ काव्य का गणित सिर धुनता है कि—

"बुढ़ापे पै आया है नूरे जवानी, और जवानी निचुड़ ठठरियाँ हो गई हैं।"

वे लोग जो गधा पच्चीसी से लेकर छत्तीस तक तो पहाड़ को राई और बाप को गधा समझते थे, और अपने आपको सदा सबसे **इक्कीस** मानते थे। लेकिन ये **दस नम्बरी** लोग अब अपनी गिरती में अच्छी तरह समझ गये हैं कि अब "बटेर हाथ से निकल चुकी है"। "वे जमाने लद गये जब नवाब फाख्ता उड़ाया करते थे।" कोरी अकड़ से अब कुछ नहीं होगा। यदि अब भी अकड़ बनी रही तो "बधिया बैठ जाएगी"–"लुटिया डूब जाएगी।" अब हम सबसे **इक्कीस** नहीं **उन्नीस** रह गये हैं तो झट से पाला बदल कर **तिरेसठ** बन जाते हैं। अर्थात् पहले तीन के आगे छह थे और अब छह के आगे तीन। ये चालाक, काइयाँ, धूर्त और अवसरवादी अब **उल्टा पहाड़ा** पढ़कर अपनी गोट बिठाने में लग जाते हैं। अब तो राई को पहाड़ और गधे को बाप कहने में अपना परम अहोभाग्य समझते हैं। पैंसठ और सत्तर के बूढ़े मन्त्री और मुख्यमन्त्री तीस के संजय गांधी और चालीस के राजीव गांधी के पाँव धो-धो कर पीया करते थे। ये लोग ऊपर से तो ही-ही करते, "दुम हिलाते" और **बत्तीसी दिखाते** नजर आते हैं, लेकिन भीतर से **बावन अंगुल गात** होते हैं कि दिल्ली को **तीन पैंग** में ही नाप लेना चाहते हैं।

इनकी खोपड़ी "हबिस की खोपड़ी" और पेट अरब सागर होता है। इनके मनके, मनके **निन्यानबे के फेर में** ही फिरते रहते हैं। लेकिन तृष्णा कब पूरी हुई है? असन्तोष ने किसको सुख से सोने दिया है? कहते हैं कि पहलवान का, सच्चे नेता का और गणित के हासिल का अन्त समय में ऐसा भट्टा बैठता है कि हाथ में **ढाक के तीन पात** ही रह जाते हैं। यदि ये अपना अगला–पिछला जन्म सुधारना चाहते हैं तो ध्यान दें उस पर जो संतचरण दास ने सहजोबाई से कहा था—

"चलना है रहना नहीं, चलना **बिस्वे बीस**।
चार दिना के कारने का गुँथवावै सीस ॥"

किसी चीज का ज्ञान और किसी चीज पर लिखना–दोनों भिन्न बातें हैं। लिख लेने का मतलब ज्ञान हो जाना नहीं है। मैंने यह जो कुछ लिखा है, उसे मेरा ज्ञान मत समझ लीजिए। ज्ञान के मामले में, मैं अब भी **शून्य बटा शून्य** हूँ। इस ज्ञान दम्भ के लिए मैं, गणित की ही भाषा में अब भी **तीन पाव चून और पुलपै रसोई**, मुहावरे की नोंक पर टँगा हूँ। □

२२. आँख का मनोविज्ञान

संस्कृत भाषा की 'अक्षि' लोक भाषा अपभ्रंश तक की यात्रा में लुड़कते-पुड़कते 'अक्खि' बनी और इस 'अक्खि' में हिन्दी ने अपनी मुख्य पहचान खड़ी पाई जोड़कर, कुछ काट-छाँटकर, पता नहीं कब अनुनासिकता का काजल लगाकर कमनीय आँख बना दिया ! कुछ कहा नहीं जा सकता । 'अक्षि' में वह बात कहाँ, जो आँख में है । 'अक्षि' तो जैसे एक रीती सूखी गागर सी थी, जो अनुनासिकता के रस से छलक पड़ी ! 'अक्षि' या अक्खि तो बैसाख-जेठ की एक तपती-नीरस बदली सी थी, जो अनुनासिकता के सावन से आलिंगन कर सरस पड़ी !! और 'अक्षि' तो 'मक्षिका' की तरह फूहड़ और भोंड़ी थी, जो अनुनासिकता के मधु से लिपट कर 'मधु-माँखी' हो गयी, जिसमें घनानन्द की पाँखें डूबी थीं—

"बेगि ही बूड़ि गईं पखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ।"

और येही अखियाँ हैं, जिनमें कवि डूबता है–कविता तैरती है । रस रिसता है–मद छलकता है । अमृत जीता है–जहर धधकता है । संयोग सिहरता है–वियोग विह्वल होता है । दिन जगता है–रात सोती है । प्रकाश अगवानी करता है–अँधेरा पीठ दिखाता है । दर्शन देखता है–योग समाधि लेता है । सत्य रोता है–झूठ अट्टहास करता है ।

जैसे हथेली की रेखाओं में भाग्य और भविष्य लिखा रहता है और जैसे मन में चाहतों का जाल छिपा रहता है, वैसे ही आँखों में जगत् के नाना बिम्ब और दृश्य छपे रहते हैं—

हाथों की इन रेखाओं में तकदीर लिखी रहती है–
हर टूटे दिल में चाहत की तसबीर लिखी रहती है ।
आँखों में रस, आँखों में विष, आँखों में राग, विराग–
और इन आँखों में ही उल्फत की तहरीर लिखी रहती है ।।

व्यवहार में तो स्त्रीलिंग शब्द 'आँख' ने ही व्याप्ति पायी है, लेकिन साहित्य में इसके अन्य पर्यायवाची पुंलिंग शब्दों, जैसे लोचन, नयन, दृग आदि का भी प्रयोग होता है । वैसे देखा जाए तो कोई शब्द किसी अन्य शब्द का पर्यायवाची नहीं होता । हर शब्द का अपना अलग अर्थ होता है । जैसे–स्त्री, पुरुष नहीं हो सकती और बर्फ, आग नहीं हो सकती–ऐसे ही हर शब्द के भी गुण, धर्म, अर्थ अलग-अलग हैं । दुनिया में दो, एक से नहीं होते ।

व्याकरण के अनुसार, रूप के आधार पर, आँख स्त्रीलिंग है, लेकिन दर्शन और अर्थविज्ञान के विश्लेषण से आँख के सारे गुण पुंलिंग के हैं । आँख विषय के पास जाती है । उस पर आक्रमण करती है–पोर-पोर छेदकर उसमें प्रविष्ट हो

जाती है। अच्छी स्त्री अपने आप पुरुष के पास नहीं जाती। स्त्री कभी आक्रमण नहीं करती। आक्रान्त होना ही उसका स्वभाव है, आनन्द है। दृष्टि पुरुष जैसी है, दृश्य स्त्री जैसा है। सम्भवतः इसलिए लाओत्से और उनके अनुयायी आँख को पुंलिंग बताते हैं। पता नहीं व्याकरण ने इसकी इकारान्तता के कारण ही इसे स्त्रीलिंग में रखा, या और किसी वजह से? अन्यथा इसके सारे पर्याय पुंलिंग में ही हैं और—अधिकांशतः पुरुष-प्रवृत्तियों को ही प्रतिफल करते हैं। 'लोचन' को ही देखें:

लोचन शब्द लोच् धातु से बना है। लोच् का अर्थ है देखना और लोचन वह, जिससे देखा जाता है।

लोचन में लोभ का भाव प्रधान होता है। जिस वस्तु या रूप पर ये लुब्ध हो गये, उससे फिर हटते नहीं "देखि रूप लोचन—ललचाने।"

इसी लोचन से 'आलोचना' (आ + $\sqrt{}$लोच् + णिच् + युच्) शब्द भी बना है। आलोचना करने वाले को 'आलोचक' कहते हैं और आलोचक में भी 'लोचन' और 'लुच्चा' का असर होता है कि उसमें भी लोच नहीं होती, ढील नहीं होती। वह भी बड़ी बारीकी से, खुर्दबीन की दृष्टि से, घूरकर चीजों के गुण-दोष देखता है। अस्तु,

आँख आईना है मन का: चित्र है भाव का, अभाव का! आँख ऐसा दर्पण है, जिसमें भीतर का दर्प, अहंकार, प्रेम, घृणा, विनय, कातरता, सुख-दुःख आदि यथावत् झलक मारते हैं। गरीब की आँखों में रोटी तैरती है; अमीर की आँखों में मद छलछलाता है। क्रोधी की आँखों में खून खौलता है; कामी की आँखों में कीचड़ गिजगिजाता है। ज्ञानी की आंखों में प्रकाश चमकता है; अज्ञानी की आँखों में अँधेरा सन्‌सनाता है। माँ-बाप की आँखों में वात्सल्य किलकारी भरता है; भाई की आँख में स्वार्थ लहराता है। बेटे की आँखों में लोभ लपकता है; बेटी की आँखों में सेवा सिहरती है। पत्नी की आँखों में शिकायतें तनी रहती हैं; प्रेमिका की आँखों में कमल झुके रहते हैं। वकील की आँखों में चतुराई नाचती है; नेता की आँखों में छल-कपट छिपा रहता है। अहंकारी की आँख झुकती नहीं और अपराधी की आँख उठती नहीं।

चतुर, चालाक, धूर्त, लम्पट, कूटनीतिज्ञ, नेता, अंधे और दृष्टि विकार वाले लोग अधिकतर अपनी आँखों को काले चश्मे से ढके रहते हैं कि कहीं उनकी असलियत का किसी को पता न लग जाए—कि कहीं उनकी मंशा जाहिर न हो जाए। ऐसे लोगों की आँख शब्द का अनुगमन नहीं करती। शब्दों में संवेदना का रस घोलेंगे, उनकी आँखों में झाँको तो रुखाई मिलेगी। शब्दों में सुधार का दम भरेंगे, आँखों में झांको तो बगावत मिलेगी। शब्दों में परोपकार और देशोद्धार का भाषण होगा, आँखों में झाँकों तो स्वार्थ मिलेगा। अतः आँखें ऐसी दूती हैं, जो घर के भेद को बिना वाणी के उजागर कर देती हैं। रहीम ने प्रकारान्तर से आँखों से निकलने वाले आँसुओं के बहाने, आँखों के इसी दूतीरूप को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"रहिमन अँसुवा नैन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ।।" (रहीम)

आँख बड़ी विलक्षण चीज है। सोते, जागते जो सारी दुनिया को देखती है, वह अपने आपको कभी नहीं देख पाती। यदि आँख ने कभी दूसरों की आँख को न देखा होता या दर्पण में अपना रूप न देखा होता तो सम्भवतः आँख, आँख को पहचान भी नहीं पाती और अपने विषय में कह ही नहीं पाती कि मेरा रंग कैसा है, मेरा रूप कैसा है ? इसी की तरह हम भी हैं कि दूसरों को जानने का दम्भ है पर अपने विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं—ठीक टार्च और दीपक की तरह कि बाहर प्रकाश और भीतर तथा नीचे अँधेरा।

आँख यदि निष्पलक होकर कुछ क्षणों के लिए, दूसरे की आँख में गड़ जाए तो उखाड़ना शुरू कर देती है—दूसरे के जीवन में दखल देना प्रारम्भ कर देती है। आँख. जो दूसरे की आंख पर जम गयी, वह भय फेंकती है; आतंक उगलती है; उद्विग्न करती है; धड़कनों को बढ़ाती है; विचारों को बंद करती है; भावों को झकझोर देती है। इसीलिए शीलवान् पुरुषों और स्त्रियों को प्रकृति ने ही आँखें झुकाना सिखा दिया है। लज्जा की परिभाषा आँख से उतरती है। सभ्यता की सीमा-रेखा आँख की पलक से खींची जाती है। विनयशीलता और धृष्टता का मंचन पुतलियों के मंच पर होता है। कृतज्ञता और कृतघ्नता का ज्ञापन आँख के माध्यम से मिलता है।

आँख के ज्ञाताओं (आई रीडर्स) का कहना है कि व्यक्ति की आँख पाँच सैकिंड तक लगातार टकटकी लगाकर दूसरे की आँख में देखले तो तुरन्त व्यभिचार आरम्भ कर देती है। दोनों ही ओर खलमली पैदा कर देती है। विवेक का हरण कर लेती है—वासना के बारूद में पलीता लगा देती है यह आँख।

मन में विकारों को ले आने का पहला द्वार आँख ही है। गांधी जी के तीन बंदरों की कहानी में पहला बन्दर इसी द्वार पर पट्टी बाँधे बैठा है। सम्भवतः इसी कारण, किंवदन्ती के अनुसार, सूरदास ने अपनी आँखें फोड़ी थीं। बाहर की आँखें फूट गयीं तो भीतर की खुल गयीं। बाहर की आँखों को नश्वर रूप दिखाई देता है तो भीतर की आँखों को अनश्वर अरूप। बाहर की आँखों को आकार दिखाई देता है तो भीतर की आँख को निराकार।

आँख का अन्य पुंलिग पर्याय 'नयन' है। नयन के दो अर्थ हो सकते हैं—एक शर्मा कर तुरन्त झुक जाने वाली आँखें, जिनमें नय हो—विनय हो। दूसरा हठीली, ढीठ आँखें—जिनमें तनिक भी झुकाव न हो—नय न हो, विनय न हो, नय+न=नयन। सलज्जा स्त्री की आंखें पहले अर्थ को द्योतित करती हैं और ढीठ, दुर्विनीत पुरुष की आँखें दूसरे अर्थ को।

नयन ऐसे प्रखर अदृश्य 'रामबाण' हैं कि जिनके निशाने पर आये बिना चंचल चित्त, ऋषि-मुनि कोई बच नहीं पाया। बिहारी की नायिका तो न जाने किस विद्यालय में इस धनुर्विद्या को सीखकर आयी थी कि कवि दाँतों तले उँगली दबाये अवाक रह गया—

"तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिहि भौंह-कमान।
चल चित बेझें चुकति नहिं, बंक विलोकनि बान ।। (बिहारी)

हिन्दी के एक कवि इन नयन-वाणों से ऐसे घायल हुए कि इनकी अचूकता की चुनौती ही दे गये—

"श्रीमद् वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृग लोचनि के नयन-सर को अस लागि न जाहि ।।

सारे जगत् का तिलिस्म और जादू इन नयनों के बाँकपन में छिपा है। इनके लगने पर, इनके लड़ने पर, इनके उठने पर, इनके झुकने पर इतिहास हँसे-रोये हैं। कवि-शायर कुर्बान हुए हैं। रामायण, महाभारत पैदा हुए हैं। न जाने कितनों को इन्होंने बेमौत मारा है, कितनों को जिलाया है। कितनों को तड़पाया है, कितनों को हड़काया है।

दृग भी आँख का पुंलिग पर्याय है। 'दृग' शब्द 'देखना' अर्थ में प्रयुक्त होने वाली 'दृश्' धातु से बना है, लेकिन यह देखना कोई सामान्य देखना नहीं लगता। इस शब्द के उच्चारण में जीभ को कुछ उलझन सी होती है और पूरा विम्ब कुछ ऐसा बनता है जैसे दृष्टि दृश्य में जाकर उलझ गयी हो—जैसे कोई सनकी आवेश में भर, बिना सोचे समझे, सामने वाले से, उलझ जाए और फिर सुलझ न पाये तो अपना ही माथा पीटने लगे, अपने कपड़े फाड़ने लगे। परिणाम कहीं उलझन, कहीं टूटन, कहीं ग्रंथि बंधन। बिहारी के दृगों का कमाल हिन्दी वालों ने देखा ही है—

'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति ।।" (बिहारी)

अपने सारे पर्यायों को साथ लेकर आँख यदि भावशून्य दृष्टि से देखती है तो कोई परिवर्तन नहीं, कोई प्रतिक्रिया नहीं. कोई हलचल नहीं और कोई विकार पैदा नहीं करती—अन्यथा इसके निमेष में निषेध है. निषेध में स्वीकार है, स्वीकार में प्रतिकार है, प्रतिकार में विध्वंश है—और विध्वंश में आँख का स्वभाव है. इतिहास है। विकार पैदा करना इसका प्रमुख धर्म और कार्य है।

विदेशियों की आँख भारत पर लगी,—विध्वंश हुआ। नेताओं की आँख गद्दी और वोट पर लगी—विध्वंश हो रहा है। वैज्ञानिकों की आँख प्रकृति पर लगी—विध्वंश हो रहा है। आँख, आँख से लगती है—विध्वंश होता है। आँख का पानी उतर जाता है—विध्वंश होता है। आँख में पानी आ जाता है—विध्वंश होता है। आँखों के डोरे लाल होते हैं तो विध्वंश होता है। आँख मारी जाती है तो विध्वंश होता है। आँख मिच जाती है तो विध्वंश होता है। आँख उठाई जाती है तो विध्वंश होता है।

लड़ाई-झगड़ा देखना, हिंसा की वारदातों को देखना, बुराई देखना आँखों की प्रकृति है, रस है। वहाँ आँखें रमती हैं। जहाँ सत् को देखती हैं, सार को को देखती हैं, वहाँ से आँखें भागती हैं। मारधाड़ की कोई फिल्म आ जाए तो

टिकिट नहीं मिलती। धार्मिक और कलात्मक फिल्मों में मक्खी भिन-भिनाती हैं। कोई डाकू गिरफ्तार होकर आ जाता है, तो सारा गाँव-शहर इकट्ठा हो जाता है—कोई ज्ञानी, कोई बुद्ध आ जाए—दरवाजे बन्द हो जाते हैं—ढोंग-पाखण्डी को कोई क्या देखे ! मन्दिर-मस्जिद का सार किसी की आँखों में नहीं—मन्दिर-मस्जिद के विवाद को देखने के लिए सबकी आँखें अखबारों और दूरदर्शन पर ऐसे चिपक जाती हैं जैसे गन्दगी के ढेर पर मक्खियाँ। सत्संग हो रहा है—आँख झपकने लगती हैं—कुत्ते, मुर्गे, भैंसे लड़ रहे हैं—लोग साइकिल रोककर काम-धाम भूल जाते हैं। चिल्चिलाती धूप में खड़े तमाशा देख रहे हैं।

अश्लीलता, नग्नता और कामुकता के दृश्यों को देखने के लिए ये आँखें लाज की लगाम को चबाकर, सामाजिक मान-मर्यादा के किले की दीवार को ऐसे कूद जाती है जैसे अमरसिंह राठौर का घोड़ा लालकिले की दीवार को कूद गया था। बिहारी भी कह गये कि—

"लाज-लगाम न मानहिं, नैना मोबस नाहिं।
ए मुँह जोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥" (बिहारी)

ऐसे दृश्यों को देखने से यदि जबरदस्ती इनको रोक भी लिया जाए तो कबीर की आँखों की तरह सारे घर को सिर पर उठा लेती हैं, चीखती पुकारती हैं कि—

"कै बिरहिन को मीचु दै कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मौपै सहा न जाइ॥"

क्योंकि जब वही दृश्य देखने को न मिले तो फिर संसार में क्या रखा है ? सब रस विरस हैं। सारी बातें बेमानी हैं—सब झूठ है।

"कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।"

दार्शनिक तो यहाँ तक कहते हैं कि एक ब्रह्म ही सत्य है, संसार मिथ्या है। इन आँखों को जो कुछ दिखाई दे रहा है वह है ही नहीं। सब इन आँखों का भ्रम है और इस बात को अब विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है कि सामने जो हरा पौधा दिखाई दे रहा है, वह हरा नहीं है, अपितु प्रकाश की किरणों तथा हवा के मेल से वह हरा दिखाई दे रहा है। ज्ञानियों ने बाहर की आँखों के इस धोखे को पहले ही अपनी अन्तर्दृष्टि से देख लिया था। तभी तो कबीर को जीवित लोगों का गाँव मुर्दों का गाँव दिखाई दिया था—'साधो यह मुर्दों का गाँव।'

अक्सर कहा जाता है कि आँखों देखा सच और कानों सुना झूठ। पर सच तो जब हो जब पूरा दिखाई दे—और आँख सदा अधूरे को ही देखती हैं। एक तिनका, एक मिट्टी का छोटा ढेला भी—आँख को पूरा दिखाई नहीं देता है। सामने का ही हिस्सा आँख देख पाती है, पीछे का नहीं। फिर कैसा सच देखा आँख ने ?

कभी रात में किसी झाड़ को देखकर हमें लगता है कि कोई आदमी है,

कोई जानवर है, कोई भूत है और हम डर जाते हैं। है झाड़, और आँखों को दिखाई दे रहा है भूत ! अब कहाँ गया आँखों देखा सच ! अँधेरे में पड़ी है रस्सी और आँखें देख रही हैं उसे साँप। कोई हमारा परिचित अपने भाव में डूबा, हमारे नमस्कार को न सुन सीधा चला जाता है, उसे इस स्थिति में देख हम समझने लगते हैं कि वह हमसे नाराज है। जबकि वह बिल्कुल नाराज नहीं है। अब कहाँ है आँखों देखा सच ? □

२३. जीभ का अर्थविज्ञान

दृश्य और अदृश्य इन्द्रियों के चेतन संघात का नाम मनुष्य है। इस मनुष्य के मुख में बाहर के खाद्य-पदार्थों को, वांछित स्वाद के अनुसार. मुख से पेट में सरकाने वाला तथा भीतर के अव्यक्त शब्द और विचार को, बाहर ध्वन्यात्मक-सृष्टि में, सर्वाधिक सहायता करने वाला, लगभग ढाई इंच का मांस का लचीला टुकड़ा 'जीभ' है। सभी जानते हैं कि मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन है, जो इन सभी का संचालक है, नियामक है।

जीभ उभयनिष्ठ है। दो मुँही है—ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी और कर्मेन्द्रियों के साथ भी; पुरुष भी और स्त्री भी अथवा कहें कि ऐसी सफल अभिनेत्री कि पल में पुरुष और क्षण में स्त्री! कभी आक्रामक कभी ग्राहक!! ज्ञानेन्द्रियों में मिलकर यह खाद्य-पदार्थों का स्वाद बताती है कि कोई पदार्थ खट्टा, मीठा, कडुआ आदि कैसा है? रस इसका गुण है और इसीलिए इसका नाम रसना रखा गया। कर्मेन्द्रियों में इसकी गणना इसलिए की जाती है कि भाषोत्पत्ति जैसा परम कृत्य, इसके बिना सम्भव नहीं। मानव को विधाता द्वारा प्रदत्त वरदान भाषा है। यदि जीभ न होती तो भाषा न होती और भाषा न होती तो जीवन अभिशाप बन जाता। पशु और मनुष्य का भेद भी न होता। न ज्ञान होता न विज्ञान; न वैर न झगड़ा; न संलाप होता न विलाप; न अमृत होता न जहर; न मित्र होता न शत्रु। जो हाथ नहीं बना सकते, वह हवाई पुल जीभ ही बनाती है। आकाश-पाताल के कुलावे जीभ ही मिलाती है।

जब इस पर पुरुष का पौरुष चढ़ता है तो इससे रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत आदि रस बरसते हैं; परुषा वृत्ति और ओज गुणों का तांडव होता है। कर्कशता, कठोरता, रुक्षता, उग्रता, निन्दा. अपशब्द, उपेक्षा और व्यंग्यों के बाण चलाकर यह जीभ कबीर के कथन को सिद्ध कर देती है कि "हनै पराई आतमा लिये जीभ तरबारि।" तलवार के सारे गुण-धर्म जीभ की नोंक पर सोये रहते हैं। बस एक हल्के से झकझोरे की देर और म्यान से बाहर आकर, बिना हाथ में मूठ पकड़े, घमासान युद्ध! लोहे की तलवार तो शरीर को ही काटती है, पर यह मांस की तलवार मन और आत्मा को टूक-टूक कर देती है।

वैसे जीभ, सिर्फ तलवार ही नहीं, ढाल भी है। दूसरों पर वार करके, अपने आपको पूर्ण रूप से बचाकर, इतनी जल्दी मुख-म्यान में सरक जाती है कि राम के धनुर्भंग की अतिशयोक्ति स्वभावोक्ति में बदल जाती है कि, "लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहू न लखा रहे सब ठाढ़े॥" बत्तीस दुश्मनों से सदा घिरी रहने पर भी,

सोते-जागते, हर समय इतनी सावधान कि रानी लक्ष्मीबाई को भी सबक सिखाकर अपना बाल बाँका न होने दे ।

जीभ का समूचा व्यक्तित्व बड़ा रहस्यमय और विरोधाभासी है । जो रस भरे गन्ने के एक छोटे से छिलके से छिल जाती है, उसमें पहाड़ों को भी फूँक से उड़ा देने की क्षमता है । जो अपने छोटे से घरोंदे से दो इंच भी बाहर नहीं निकल सकती, उस पर सवार होकर मन और पवन का वेग भी थक जाता है । जिस पर गरम चाय के एक घूँट से छाले पड़ जाते हैं, वह सूरज और आग को भी जलाने के मंसूबे रखती है । इससे शोले भी बरसते हैं और शबनम भी झरती है । फूल भी खिलाती है जीभ और काँटे भी उगाती है । जीभ से ही कायरता गिड़गिड़ाती है और जीभ से ही वीरता दहाड़ती है । जीभ से ही देवत्व झरता है और जीभ से ही दानवत्व टपकता है ।

एक सच्ची नारी के सारे गुण–सेवा, समर्पण, त्याग, सरसता, मधुरता, विनम्रता, संवेदना, दया, करुणा, ममता आदि जीभ की कोख से ही पैदा होते हैं । मधुवर्षिणी बदली और अमृत वाहिनी सरिता है यह ! दुःखों से दग्ध हृदय पर संवेदना के शब्दों का शीतल लेप यही करती है । ब्रज लोक जीवन में एक कहावत प्रचलित है—"जीभ सीरी मुलिक गीरी ।" इसका आशय है कि शीतल, प्रेम भरी, विनम्र और निष्कपट वाणी से संसार जीता जा सकता है । इसका समर्थन प्रकारान्तर से कबीर ने भी यह कहकर किया है—

"ऐसी बाणी बोलिए मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै औरन कौं सुख होइ ।।" (कबीर)

हृदय की सच्चाई को छिपा लेने में जीभ के बराबर और कोई पारंगत नहीं । कभी भी हृदय के सत्य को बाहर नहीं आने देती । अथवा कहें कि सत्य इतना विराट् और वजनी है कि दो इंच की इस जीभ की तुला पर वह चढ़ता ही नहीं, इसीलिए उपनिषद् के ऋषि ने कह दिया कि 'वाग् वै मनसो ह्रसीयसी ।" अर्थात् वाणी मन से छोटी है । मन से तात्पर्य यहाँ सत्य से, अर्थ से या विचार से है । सदियों में कभी-कभार किसी बुद्ध, मंसूर, सुकरात, जीसस, कबीर की वाणी सत्य को व्यक्त करने की सामर्थ्य पाती है तो संसार उस सत्य को झूठ समझता है और उनको दुत्कारता है, काटता है, जहर पिलाता है और सूली पर चढ़ा देता है ।

संसार के सारे रहस्य इसकी लार की अविरल धार में बहते हैं; मन के सारे भेद इसके एक-एक छेद में निवास करते हैं । जब यह गिरा बनकर मंथरा पर चढ़ती है तो राजा दशरथ जैसे धर्म धुरंधरों को गिरा देती है । जब यह पिशुनता बनकर शकुनियों के मुँह को घर बनाती है तो प्रख्यात वंशों के किलों का सफाया करा देती है । जब यह सरस्वती बनती है तो गणेश की तरह पूज्य श्रेष्ठ बना देती है । जब यह काली की बनती है तो—करोड़ों रक्त बीजों को जमीन नहीं पकड़ने देती । जब यह घर के—भेद [illegible] है तो [illegible] को ढहा देती है । जब यह

स्वाद के लिए लपलपाती है तो "चाकर चोर चटोर लुगाई" बनकर खजानों तक को खाकर खाली कर देती है। जब यह विषम विष ही धारण करने वाली नागिन होती है तो अपने ही विधाता को वाम कर लेती है। एक कवि ने कहा है—

"रसना सांपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सौं ताहि विधाता वाम॥"

यह जीभ न रोती है, न हँसती है अपितु रुदन और उल्लास को व्यंजित करने वाले शब्दों का निर्माण करती है, जिनको सुनकर मन का क्रंदन आँखों के पतनालों से आँसू बनकर गिरता है और मन का उल्लास गुलाबी पुतलियों की कोरों में इठलाता है। इसको न धूप तपाती है, न घाम गर्माती है। इसको न पवन सुखा पाता है, न तूफान हिला पाता है। आग उगल कर भी इस पर कभी फफोले नहीं पड़ते और सदा गीली रहने पर भी इसको कभी चर्म रोग नहीं होते। भयंकर ठण्ड में भी यह सदा पसीने से तर रहती है। यदि कभी इस पर छाले पड़ते हैं, यदि कभी खुश्क होती है या कभी बोलने में लड़खड़ाती है तो भी इसको कोई दोष नहीं देता—या तो पेट खराब है, या और कोई रोग हो गया है या जानकारी नहीं है आदि आदि बहाने बताकर इसकी विकृति दूसरों पर मढ़ दी जाती है।

यद्यपि सभी दार्शनिकों ने मन को ही सारी इन्द्रियों में समर्थ और शक्ति-शाली बताया है, लेकिन मन तो अदृश्य है। है भी और नहीं भी ! जीभ को तो यथार्थ में सभी देखते हैं। कीड़े-मकोड़े से लेकर मनुष्य तक सबमें है। मुझे तो यह सारी इन्द्रियों से प्रबल और समर्थ दिखाई देती है क्योंकि कायर मन स्वयं ओट में रहकर अपने सारे कपट-कुचक्रों की चाल इस जीभ के ही सहारे से चलता है। वैसे भी आज के युग में उसी को समर्थ कहा जाता है जो झूठ को सत्य और सत्य को झूठ बना दे और इस काम को बखूबी अन्जाम देने में जीभ का कोई जोड़ नहीं।

तुलसीदास ने रवि, पावक और सुरसरि गंगा को सर्व समर्थ बताते हुए कहा है कि ये कुछ भी कर दें, इन्हें कोई दोष नहीं देता।

"समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।
रवि पावक सुरसरि की नाईं॥" (तुलसी)

हमारे विचार से जीभ भी इनसे कम समर्थ नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा चाहे कितना ही विध्वंश हो जाए; कितने ही घर उजड़ जाएँ; कितनी ही आत्म-हत्याएँ हो जाएँ या कितने ही ऊसर उद्यान बन जाएँ अथवा उद्यान ऊसरों में बदल जाएँ—पर इस जीभ को कोई दोष नहीं जाता। 'करे कोई भरे कोई' उक्ति जीभ पर भी लागू होती है—क्योंकि अपशब्द बोलती है जीभ, और पिटाई होती है शरीर की ! ललचकर अनाप-शनाप खाती है जीभ, और बिगड़ता है पेट !! चुगली करती है जीभ, और दरारें पड़ जाती हैं मन में।

लोक व्यवहार में जीभ की अर्थच्छटाएँ अनेक हैं, निराली हैं। डाक्टर को जीभ दिखाने का अर्थ बीमारी है। शत्रु को जीभ दिखाने का अर्थ चिढ़ाना है। बच्चों को जीभ दिखाने का अर्थ हँसाना है। स्त्री का पुरुष को जीभ दिखाने का अर्थ रिझाना है। किसी वस्तु या पदार्थ के सम्बन्ध में जीभ का अर्थ ललचाना है। शक्तिशाली के सामने जीभ निकालने का अर्थ गिड़गिड़ाना है। जब यह कटु वचनों और अपशब्दों से दूसरों के हृदय को छेदती है तो 'वाण' पुंलिंग का स्त्रीलिंग 'वाणी' बन जाती है। जब यह किसी को गिराती है तो 'गिरा' बन जाती है—'गयी गिरा मति फेरी।' जब यह विषय भोगों के रस में लीन होती है तो 'रसना' कही जाती है। जब यह दूसरों की बातें काटकर अपना सिक्का जमाती है या अपनी टाँग अड़ाती है तो अंग्रेजी की 'टंग' होती है। जब यह अटलता की घोषणा करती है या ऊल-जलूल बकती है तो फारसी की 'ज़बान' होती है। जीभ चलाने का अर्थ बकवास है। जीभ उठाने का अर्थ मर्यादा भंग करना है। जुबान बंद होने का अर्थ निरुत्तर होना है। जुबान लड़ाने का अर्थ कुतर्क करना है। जबान देने का अर्थ संकल्प करना है। जबान बदलने का अर्थ बेईमानी करना है। दाँतों से जीभ दबाने का अर्थ भूल स्वीकार करना है।

स्त्रीलिंग होते हुए भी जीभ पुंलिंग के सारे गुणों अवगुणों को धारण करती है। साकार होते हुए भी जीभ निराकार की अभिव्यक्ति करती है। व्यक्त होते हुए भी यह अव्यक्त की व्यंजना करती है। व्याकरण का स्फोटवाद जीभ के बिना अधूरा है। भाषा विज्ञान में जीभ करण है। करण अर्थात् व्याकरक का साधन, करण अर्थात् दर्शन की इन्द्रिय, करण अर्थात् भाषा को उत्पन्न करने वाला चल अवयव, जिसके विना भाषा की परिभाषा ही नहीं बनती। जगत् के लिए जीभ आवश्यक है और ब्रह्म के लिए जीभ अनावश्यक है। पांडित्य जीभ से और ज्ञान मौन से आता है।

आदि कवि का आदि काव्य इसी से अवतरित हुआ। व्यास के महाभारत का भार इसी ने उठाया। शंकर, चाणक्य, मैकिया वेली और ओशो रजनीश के तर्क ज्ञान ने इसी से विश्व विजय पायी। कालिदास की उपमा को रूप देने वाली जीभ ही थी। दण्डी के पद लालित्य का लालन करने वाली जीभ ही थी। भारवि की अर्थ गरिमा को ऊष्मा प्रदान करने वाली यही थी। यही कबीर की उलटबाँसी थी और यही अंधे सूर के दृष्टिकूट। यही उद्धव का मंडन थी और यही गोपियों का खंडन! यही तुलसी की भक्ति थी और यही मीरा का प्रेम!!

जब यह बाहर (मुख में) बोलती है तो भीतर शान्ति और सन्नाटा रहता है और जब यह बाहर शान्त रहती है तो भीतर इसका संवाद चलता है। चलना इसका स्वभाव है। कंठ में इसकी मूल (जड़) है, तालु पर इसका तना है और दाँतों से इसकी फुनगी टकराती है। बस इसी ढाई तीन इंच के विकास-विस्तार से ही, विश्व के सारे पुस्तकालय, सारे विषय, तीन हजार सात सौ छियानवें भाषाएँ,

सारे लोक, सारे भुवन, निकलते हैं और इसी में समा जाते हैं। जीभ से बाहर कुछ भी नहीं। मन के सारे गुण धर्म इसमें हैं, इसलिए मन की तरह यह जीभ भी बे भरोसे की चीज है। उसका भरोसा भी क्या करना जो दूसरों पर भी थूकती हो और थूक को स्वयं भी चाटती हो। □

२४. आतंकवाद

किसी विषय पर एक निर्णय देना बहुत मुश्किल है—लेकिन यह बात लगभग साफ ही है कि उचित, नैतिक तथा लोककल्याणकारी काम को करने या मानने में तो किसी को आपत्ति या परहेज नहीं होता। परन्तु जब भी किसी के मन में अनुचित, अनैतिक, समाज, देश और विश्व को विघटित करने वाली, शान्ति, एकता और प्रगति में विघ्न उपस्थित करने वाली भावनाएँ और क्रियाएँ पैदा हुई हैं, वहीं आपत्तियाँ खड़ी हुई हैं; वहीं प्रश्न उठे हैं; वहीं विरोध हुए हैं; वहीं संघर्ष हुए हैं और वहीं रक्तपात हुए हैं। इन स्थितियों को कई नाम दिये गये हैं—कहीं क्रान्ति, कहीं विद्रोह, कहीं विध्वंस और कहीं आतंक ! इनकी अर्थभेदक रेखाओं को समझ लेना आवश्यक है।

आतम रक्षा, धर्म रक्षा, देश रक्षा, स्वतन्त्रता की रक्षा, अपने मूल अधिकारों की रक्षा के लिए तथा अन्याय के विरुद्ध न्याय की स्थापना के लिए जो साहसिक, वीरतापूर्ण आन्दोलन होता है, उसे **क्रान्ति** समझना चाहिए। उसके मूल में निर्भीकता और बलिदान की भावना होती है। 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा', 'सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है। देखना है जोर कितना बाजु-ए-कातिल में है।' आदि उत्साहित कर देने वाली उक्तियों में क्रान्ति की भावना है। शिवाजी और महाराणा प्रताप का संघर्ष क्रान्ति था, महारानी लक्ष्मीबाई और बहादुरशाह का अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह क्रान्ति था सुभाषचन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह और गांधी जी का आन्दोलन क्रान्ति था। सूझ-बूझ, विवेक और धैर्य क्रान्ति की मशाल में तेल का काम करते हैं। मन में निहित पुरानी **विद्रोह** की भावना ही एक दिन क्रान्ति में बदलती है।

किसी को बौखला देने के लिए अफवाहें फैलाना, झगड़ा बढ़ा देने के लिए छिपकर कोई असामाजिक हरकत कर देना, किसी की प्रगति और खुशहाली को देख उसके मार्ग में रोड़े अटकाना, चुगली के द्वारा मनमुटाव और तनाव पैदा करना, आग में पानी के स्थान पर घी डाल देना आदि बातें **उपद्रव** के अन्तर्गत आती हैं। उपद्रव का मूलाधार द्वेष, जलन, कपट, और क्षुद्र स्वार्थ होता है।

विध्वंस में अपने आपको भूला हुआ आदमी, हारा हुआ आदमी, चिढ़ा हुआ आदमी, बहकाया हुआ आदमी, आतमबल, चरित्रबल और मनोबल से हीन आदमी जब अपनी अनुचित, अनैतिक और अलोक कल्याणकारी माँगों को जबरदस्ती मनवाने के लिए-भय, हिंसा, तोड़-फोड़, आगजनी और लूट-पाट आदि अमानवीय कृत्यों का सहारा लेकर समाज और देश की अमन--चैनी को खंड़ित करता है तो

इन कृत्यों को आजकल अराजकतावादी गतिविधियाँ और ऐसे व्यक्ति को विध्वंस-वादी कहा जाना चाहिए ।

आतंकवाद मूलतः समस्या नहीं, मनुष्य का विकृत स्वभाव है, मनोभाव है, जो मनचाहा न मिलने पर जाग उठता है और मिलने पर शान्त हो जाता है। जहाँ भय है, वहाँ आतंक है। पशु-पक्षी, मनुष्य कोई इससे हीन नहीं। स्वच्छंद विचरण करने वाले परिंदों को पिंजड़े में बन्द कीजिए, वे पिंजड़ों को तोड़, भाग जाने की कोशिश करते हैं। घर में घुसने या निकलने के लिए कुत्ते-बिल्लियों को बर्तन–भाँड़े फोड़ते हुए सबने देखा ही है। जिस दिन मनुष्य इस धरती पर आया, उसी दिन उसके साथ आतंक का भी जन्म हो गया। माँ के नाल से जुड़ा हुआ बच्चा, जैसे ही गर्भ से बाहर आता है, झटके से उसका नाल काट दिया जाता है और बच्चा चीख पड़ता है। भय और आतंक का बीजारोपण पहले ही दिन हो जाता है जो मृत्यु में मिलकर ही ओझल होता है।

धरती में गढ़ा हुआ बीज भी जब अकुलाता है तो अपने खोल को तोड़कर धरती से बाहर अंकुरित होकर आजादी की हवा में फलता फूलता है। यह आतंक का घेरा इतना फैला हुआ है कि कौन इससे बाहर है ? मनुष्य की हर गतिविधि और क्रिया-कलाप के पीछे भय और आतंक छिपा है। भक्ति और धर्म, स्वर्ग और नरक, धनार्जन और व्यापार, सामाजिक रीति और रिवाज, प्रगति और विकास, शासन और राजनीति; बसना और उजड़ना सबके मूल में आतंक है।

भारत में शक आये, हूण आये, मुगल आये, अंग्रेज आये, बसे और आतंकित कर उन्होंने शासन किया। हमारे घर, द्वार, फाटक, ताले, पहरे इन सबके पीछे क्या है ? हमारे नाते, रिश्ते और प्रेम के पीछे क्या है ? यहाँ हर बाप आतंकवादी है, यदि सन्तान उसके विपरीत आचरण करे तो। यहाँ हर सन्तान आतंकवादी है, यदि बाप के अहंकार का पहरा उसकी साँसों पर बैठ जाए तो। यहाँ हर भाई आतंकवादी है, यदि भाई ही उसका हक छीने तो। यहाँ हर कर्मचारी आतंकवादी है, यदि उसका अफसर उस पर अत्याचार ढाए तो। यहाँ हर जूनियर आतंकवादी है, यदि उसका सीनियर उसके अस्तित्व को दबाए हो। यहाँ जनता का हर व्यक्ति आतंकवादी है, यदि राज्य उसके अधिकारों की अवहेलना करे तो। यहाँ हर पति-पत्नी आतंकवादी हैं, यदि एक दूसरा एक दूसरे पर दोषारोपण करे तो। यहाँ हर बच्चा भी आतंकवादी है, जिसका खिलौना छीना जाए या हठ पूरी न की जाए तो !!

इसलिए आजकल जिन तोड़-फोड़ करने वाले, हिंसा और लूट-पाट करने वाले लोगों को आतंकवादी कहा जा रहा है, उनके लिए यह शब्द सार्थक और उचित नहीं है। ऐसे लोगों को विध्वंसक या अराजक तत्त्व नाम देना ही औचित्य-पूर्ण है। क्योंकि आतंकवादी तो किसी न किसी रूप में हम सब हैं।

अतः आतंकवाद मन में छिपी हुई ऐसी भावना है जो दबाए जाने पर, हक छीने जाने पर, शोषण होने पर, अपने बचाव के लिए उभरती है, उग्र रूप धारण

करती है और अन्ततोगत्वा विस्फोटक भी हो सकती है लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर उसमें धर्म का, नीति का या शासन का भय कुछ न कुछ अंशों में बना रहता है। भय इसका मेरु दण्ड है। क्योंकि डरा हुआ आदमी ही दूसरों को डराता है। दबाया हुआ आदमी ही दूसरों को दबाता है और जिसे मारे जाने का खतरा है, वही दूसरों को मारने का प्रयास करता है। यदि भय मन से निकल जाए तो आतंक बहुत कम हो जाए।

कम हो जाने का अर्थ यह नहीं कि उसका विलुप्त अंश समूल नष्ट हो गया! अपितु इसका अर्थ यही है कि कुछ समय के लिए शान्त हो गया, स्थाई भावों की तरह फिर भीतर सो गया, जो परिस्थितियों के झकझोरे से फिर जग सकता है। चाहे क्रियाओं में परिणत न हो, पर भाव की तल्लीनता से, देखने की रुचि जाग्रत होने से मानव मन में सदा छिपी रहने वाली हिंसा, उपद्रव, संघर्ष, युद्ध की भावना आदि विध्वंसक वृत्तियों का पूरा पता चल जाता है। मनुष्य की जैसी भावनाएँ होती हैं, उन्हीं से मेल खाने वाली बाहर की गतिविधियों में वे रमती हैं। अन्यथा शान्त भाव से अपना काम करता हुआ आदमी, पशुओं, मनुष्यों, जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, को लड़ते झगड़ते देख, अपना काम–धाम भूलकर क्यों तमाशा देखने लगता है? जब सारा वातावरण शान्त हो, कहीं शोर गुल न हो, नारेबाजी और होहल्ला न हो, कहीं कोई वारदात न हो तो अधिकांश मुँह से क्यों ऐसी बातें निकलती हैं कि बड़ा सूना–सूना लग रहा है कि बड़ा उदास माहौल है? शान्ति का गीत गाने वाला आदमी, यदि अशान्ति और उपद्रव न हो तो बड़ा खाली-खाली, सूना–सूना अनुभव करता है। क्या है इन सब बातों के पीछे? अन्दाजा लगाइए कि किसी देश पर कोई दूसरा देश आक्रमण कर दे, कहीं साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठे या और किसी प्रकार के उत्पात हो रहे हों, तो ऐसे समय में अखबारों की, रेडियो–टेलीविजनों की बिक्री क्यों बढ़ जाती है? जो नहीं पढ़ता कभी, वह भी अखबार बाँचने लगता है। जो नहीं देखता कभी, वह भी रेडियो पर समाचारों के समय की प्रतीक्षा करने लगता है। आखिर क्या कारण है इनके पीछे?

अब तो ऐसा लगता है जैसे प्रेम, सद्भाव, शान्ति, एकता, आदि उच्चभाव जैसे कृत्रिम हैं, ऊपर से ओढ़े हुए हैं, आयातित हैं और जैसे खोखले शब्द हैं, जिनमें न गति है न जीवन!

पंजाब में, कश्मीर में, देश के अनेक अन्य भागों में, और विदेशों में जैसी आजकल तोड़-फोड़ और मार-धाड़ मची है, वह विध्वंसक ही है। और विध्वंसक वृत्ति के जगते ही उपर्युक्त उच्चभाव मानव के मन से निकल जाते हैं। फिर तो शेष बचता है आदमी का खोल ओढ़े हुए–शैतान–और फैल जाता है उसके भीतर दानव, क्रूर, नृशंस, प्रेमहीन और करुणाहीन!

भेद और अलगाव की भावना ऐसे आदमी की आँख होती है; हिंसा,

प्रतिहिंसा उसकी चिन्तन पद्धति होती है; तोड़-फोड़, लूट-पाट, मार-काट उसकी कार्य प्रणाली होती है। वह अशान्ति के हथौड़े से शान्ति का माथा कुचलता है। वह अन्याय की कुल्हाड़ी से न्याय की जड़ों को काटता है। वह अनीति की रस्सी से नीति का गला घोंटता है। वह विध्वंस की टापों से नये सर्जन और विकास के कोमल अंकुरों को रोंदता है—और एक ऐसा इतिहास लिखता है अपने राक्षसी पंजों से, जिसके हर अक्षर से खून के बबूले उठते हैं। घृणा और विद्वेष की दुर्गन्ध उठती है। भेदों और मन-मुटावों की दीवारें खड़ी हो जाती हैं।

सारांश यह कि हिंसा, संघर्ष, युद्ध, आतंक आदि विध्वंसक तत्त्वों की लपटें मनुष्य के मन के अलाव से ही उठती हैं और धीरे-धीरे इतनी प्रचंड हो जाती हैं कि अपनी आँच में सारे विश्व को लपेट लेती हैं। देख लीजिए कि इन लपटों का शिकार भारत आज गारत हो रहा है। ईराक-ईरान वीरान हो रहे हैं। सोमालिया और बार्सोनिया धूल चाट रहे हैं। रूस और अंगोला अपने ही कंधों पर अपनी अर्थी टाँगें खड़े हैं। पाकिस्तान और श्रीलंका अपनी कब्रों का नाप ले रहे हैं। अमेरिका अपनी मौत को भूलकर अट्टहास कर रहा है। आखिर क्या हो गया है इस आदमी को?

मनुष्य की मानसिकता पर पूरी तरह छाया हुआ भौतिकवाद ही सुरसा की तरह मुँह बाए, उसे लीले जा रहा है। आदमी अध्यात्म से आत्म चिन्तन से जितना ही दूर हो रहा है, उतना ही भौतिकवाद उसे अपनी ओर खींच रहा है और भौतिकवाद का पेट आतंक की खुराक खाए बिना मरता नहीं।

जब कोई समस्या बाहर से आई हो तो उसका निदान भी बाहर खोजा जा सकता है, देर अबेर भले ही हो लेकिन उसका हल कभी न कभी निकल ही आता है। लेकिन यह तथाकथित आतंकवाद या विध्वंसवाद कोई बाहर से आयी समस्या नहीं, अपितु यह तो विकृत मानसिकता की अराजक और ध्वंसात्मक प्रतिकृति है, इसलिए इस मानसिकता के रूपान्तरण से ही इससे निजात पाने में कुछ सहायता मिल सकती है। अब इस रूपान्तरण के मार्ग, मनुष्य की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग हो सकते हैं।

हमारे विचार से दो मार्ग हैं— एक तो "भय बिनु होइ न प्रीति" का, कि कोई हमारी उचित बात को न माने और उलटा ही हमारे सिर पर चढ़े तो उसे हम दूनी शक्ति से भयभीत कर ठीक राह पर लाएँ। यह मार्ग इतना चर्चित और समाज में आचरित है कि लगभग हर देश और भाषा में मुहाबरा बन गया है। अँग्रेजी में इसी मार्ग के लिए 'टिट फॉर टैट', 'एन आई फॉर एन आई' तथा 'ए सोल्जर फॉर ए सोल्जर' आदि मुहाबरे बने। हिन्दी उर्दू में इसके लिए 'जैसे को तैसा' और संस्कृत में 'सठे साठ्यं समाचरेत' मुहाबरा इसी मार्ग का प्रतिपादक है।

अधिकांश लोग इसी मार्ग पर चलकर अपनी विरोधी प्रकृति को अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं कि कोई उन्हें छींट मारदे तो वे ईंट मारते हैं कि कोई उन्हें

गाली दे तो वे गोली मार देते हैं। तभी उनके मन को संतोष मिलता है। परन्तु क्या इन उपायों से यह आतंक या विध्वंस स्थाई रूप से मिट सकता है? अनादि काल से यह विध्वंस होता रहा है और 'जैसे को तैसा' किया भी जाता रहा है, पर आतंक गया नहीं, विध्वंस मिटा नहीं। क्या कारण हैं?

इस मार्ग में कई कमियाँ दिखाई देती हैं—पहली तो यह कि यह रास्ता सिर्फ खूँखार और दबंग लोगों के लिए ही है, कमजोरों के बस की बात नहीं कि चार कदम भी इस बीहड़ डगर पर चल पाएँ, क्योंकि बड़े-बड़े नर भक्षी बाघ वहाँ बैठे हुए हैं। दूसरी कमी यह कि इस रास्ते का अर्थ है—विध्वंस से ही विध्वंस को मिटाना, और यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई कीचड़ से ही कीचड़ को धोए। क्या कभी कीचड़ से कीचड़ साफ हुई है? और यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई एक बीमारी को दूर करने के लिए दूसरी बिमारी को दवा के रूप में प्रयोग करे। क्या कभी दूर हो पाई है एक बिमारी से दूसरी बिमारी?

हाँ जब कोई हमारी शान्ति-अहिंसा की भावना को कायरता समझने लगे; जब कोई हमारे प्रेम और भाईचारे को दब्बूपन समझने लगे; जब कोई हमारे त्याग और आत्मबल को कमजोरी और मजबूरी समझने लगे तो वहाँ महाकवि दिनकर का यह कथन आचरणीय है कि—

"छीनता हो स्वत्व कोई, और तू त्याग तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।।"

कहने का सार यह है कि हमारी राह को रोके खड़ी हुई काँटों की बाड़ के लिए तो जूते आवश्यक हैं, अन्यथा हमारे ही पैर लहूलुहान हो जाएँगे। वैसे हम राह से अलग पड़े हुए काँटों को कुचलने क्यों जाएँ? यह काम उन पागलों का है "जो बिनु काज दाहिने बाएँ" रहकर किसी के सुख चैन को नहीं देख सकते। ऐसे समय में हमें सम्राट् अशोक की भावना भी याद आती है कि पहले से छेड़ेंगे नहीं, बाद में छोड़ेंगे नहीं।

अब दूसरा मार्ग विश्व के उँगली पर गिने जाने वाले उन कोहिनूरों का है, जिन पर इस विश्व को और विधाता को गर्व है और रहेगा। वह मार्ग संतों का है, फकीरों का है—जिन्होंने अपनी तीसरी आंख से इस संसार के सार को देखा, असार को देखा—तब संदेश दिया करुणा का, वसुधैव कुटुम्बकम् का, कण-कण में परमात्मा को ही देखने का, चेतना के विस्तार का, आत्मालोचन का, संकीर्णताओं के त्याग का और मन के दूषित भावों के रूपांतरण का!! □

२५. भक्ति और भगवान्

सत्य बात तो यह है कि जिस परम चेतन अस्तित्व के विषय में कुछ भी कहा न जा सके, बोला न जा सके, समझाया न जा सके, लिखा न जा सके--वही भगवान् है। मनुष्य कुछ भी हो जाए, वह अपूर्ण ही है और भगवान् को कोई माने या न माने वह पूर्ण ही है और अपूर्ण-पूर्ण के विषय में यदि कुछ कहता है तो वह सिर्फ दम्भ है, दूसरों को और अपने आपको धोखा देना है। अपूर्ण पूर्ण की व्याख्या नहीं कर सकता। दीपक सूरज नहीं हो सकता। पशु मनुष्य की भाषा नहीं बोल सकता। जब अपनी अपूर्णता का बोध होने लगे और उस बोध में पूर्ण की ओर गति आरम्भ हो तो भक्ति शुरू होती है।

जब आदमी मजबूर, विवश और अशक्त होता है, जब कर्म कुंठित होने लगते हैं, जब प्रतिकूल फल मिलने लगते हैं, जब आसपास का अनुकूल वातावरण झुलसाने लगता है, जब लौकिक सम्पत्ति नष्ट होने लगती है, जब अपने पराये होने लगते हैं, जब सोना मिट्टी होने लगता है, तब ऐसे क्षणों में या तो पागलपन या नीति-ज्ञान अथवा भक्ति पैदा होती है—मनुष्य के हृदय में भगवान् का नाम उभरता है—

"वहीं तेरा करम तेरा भरोसा याद आता है—
जहाँ मजबूर होकर आदमी कुछ कर नहीं पाता।"

और ऐसे ही क्षणों में, लौकिक सुख चैन के लिए नहीं अपितु कुछ और ही, एक अजब आध्यात्मिक बेचैनी पैदा होती है—इस बेचैनी में ही पूजा का आरम्भ है। जब गहन अँधेरों में डूबा हुआ मन जिज्ञासु बन कर अँधेरों की तह पलटना शुरू करता है– बस इस निरुद्विग्न उल्टा-पल्टी में ही ज्ञान के प्रकाश की किरण उतरने लगती है। जब बाहर की ध्वनियाँ समझ में नहीं आती हैं तो भीतर अनहद नाद सुनायी देता है। जब राम-नाम का जप भीतर छाये धरा-धाम को भूलने लगता है तो उपासना का द्वार खुलता है।

कष्ट और संकट भगवान् के दूसरे नाम हैं और इन संकटों में धैर्य पूर्ण सन्तुलन की अमिट भावना ही भक्ति कही जा सकती है—यदि हम इसे साध पायें। भगवान् के अन्य नाम काम-क्रोध भी हैं और इनके आते ही यदि हमारी तटस्थ दृष्टि पैदा हो जाए तो यही भक्ति है—यदि हम उस आँख को खोल पाएँ। भय भी भगवान् का पर्याय है और भय के कारणों की ओर आँख खोलकर जाना ही भक्ति है—यदि हम जा पाएँ। हर मनुष्य के हृदय की बात पंत जी ने इन शब्दों में कह दी है कि—

एकाकीपन का अंधकार—
दुस्सह है इसका मूक भार।" (पन्त)

क्यों घबराता है आदमी अकेलेपन से ? क्यों सहन नहीं कर पाता एकाकीपन की गठरी के भार को ? धनदौलत के भारी से भारी बोझ को तो आदमी अकेला ही ढोना चाहता है। उस समय औरों को नहीं पुकारता। किसी को उस गठरी की भनक भी नहीं लगने देना चाहता। पर वही एकाकीपन के मूक भार को असह्य बताकर रोता है, चिल्लाता है, औरों को पुकारता है। क्यों ? भगवान् तो इसी एकाकीपन की मूक गठरी में ही हैं—यदि सुवर्ण भार की तरह किसी को बिना बताये हम इसे ढो पायें। एकान्त अनन्त है और अनन्त ही भगवान्।

काम से ऊब जाना भक्ति है तो उसके बाद निष्काम हो जाने पर भगवत् प्राप्ति। उबलते क्रोध को देखकर अक्रोध की भूमिका पर सदा के लिए पहुँच जाना भक्ति है। और उसके बाद जो होगा वह परमात्म-भाव हो सकता है। भय के सम्मुख डट जाना भक्ति है और निर्भयता के उपरान्त परमेश्वर दिखायी दे सकता है।

लौकिक चिन्ता यदि अलौकिक चिन्तन बन जाए, चिन्तन यदि कर्म में बदल जाए, कर्म यदि अनासक्त हो जाएँ तो अनासक्त भाव से हर क्रिया भक्ति बन जाती है। इस प्रकार से चलना फिरना ही देव प्रदक्षिणा है। खाना-पीना ही पूजा अर्चना है। सोना ही समाधि है। कुछ भी बोलना मंत्र-जाप है।

चाहे कोई भी व्यक्ति हो, उसके जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं, जब उसे आभास होता है कि सब कुछ करते हुए, सोचते हुए, बनाते हुए, बिगाड़ते हुए कोई सत्ता ऐसी अवश्य है जो सर्वत्र व्याप्त है और जिसके इंगित से सब कुछ हो रहा है—हम कुछ नहीं करते। ऐसे भाव निर्गुण निराकार परमात्मा की ओर जाने का मार्ग खोलते हैं। इन भावों के अविरल चिन्तन-मनन से विवेक और ज्ञान की उपलब्धि होती है और परिपूर्ण बोध में ही अन्तर्यामी हैं। उस परम सत्ता से अपने आपको अलग, क्षुद्र और निरीह मानकर उसके सामीप्य का निरन्तर भावात्मक प्रयत्न 'भक्ति है'। उस परम ज्योति का अपने भीतर ही अवतरण कर लेना, उसके और अपने बीच की भिन्नता को मिटा देना ज्ञान है, और हर कर्म को उसी की आज्ञा समझकर उसी के लिए समदृष्टि और समबुद्धि के साथ करना ही कर्म है। इन तीनों के लगातार आनन्दपूर्ण प्रयत्न भक्ति और इनसे जो भी उपलब्धि हो वही भगवान्।

भक्ति साधन है और भगवान् साध्य। साध्य हमेशा साधन से बड़ा होता है, उसमें समाता नहीं। भक्ति एक राह है और भगवान् मंजिल। राहें अनेक हो सकती हैं, पर इनकी मंजिल एक ही है। उचित राह को पाना ही मुश्किल है। इन राहों का लोगों ने ऐसा जाल बिछा दिया है कि जिस पर आने से पूर्व ही दिग् भ्रम होने लगता है कि किस मार्ग को पकड़ा जाए, क्योंकि एक मन्दिर का रास्ता है, एक

मस्जिद का। एक राह गुरुद्वारे की है और एक गिरजाघर की। एक मार्ग ज्ञान का है, और एक प्रेम का। एक कर्म का मार्ग उस मंजिल तक जाता है और एक भक्ति का। ये सब ऐसे राजमार्ग हैं, जिन पर चला नहीं जाता अपितु उनमें अपने आपको खो देना पड़ता है। यह ऐसे रास्ते हैं कि किसी और के बताने पर आदमी भटक जाता है—अपने स्वभावानुसार स्वयं उसकी खोज करनी पड़ती है। खोज ही नहीं जिसको बनाना पड़ता है।

इस राह को बनाने के लिए त्याग और बलिदान के मसाले को समता के रोलर से सम करना है, परीक्षाओं के मील के पत्थर हैं जो पग-पग पर पार करने हैं। प्रतीक्षा, कामना, अपेक्षा, उपेक्षा, आशा-निराशाओं के झाड़-झंकाड़ों को जड़ से उखाड़ना है। इस राह पर चलते वक्त जो बीत जाए उसे याद नहीं करना है, आने वाली सम्भावना को जन्म नहीं देना है, और जो है सामने उसमें आसक्त नहीं होना है। इस मार्ग पर चलने के लिए साथ में–हर अशुभ के आने की उत्साहमयी प्रतीक्षा, हर अनिष्ट को देखने की साहसमयी दक्षता और हर विरोध को सहने की धीरजमयी क्षमता का सामान बाँधकर चलना होगा।

भगवान् वह नहीं है जो सामने चित्र रखा है, चित्र तो मनुष्य का बनाया हुआ मात्र एक प्रतीक है। भगवान् वह भी नहीं जो सामने मूर्ति रखी है, मूर्ति भी एक प्रतीक है उस तक पहुँचने के लिए। भगवान् चित्र में नहीं, चित्रकार में हो सकता है। मूर्ति में नहीं, मूर्तिकार में मिल सकता है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे में नहीं इनके बनाने वालों में ढूँढ़ा जा सकता है। पर विसंगति यही है कि हम चित्रकार को भूखा मार कर चित्र को पूजते हैं मूर्तिकार का महनताना मार कर मूर्ति पर फल मेवा चढ़ाते हैं और भगवान् के आने की बाट जोहते हैं। जन्म-जन्म गुजर जाते हैं, पर भगवान् से साक्षात्कार नहीं होता।

जिस समय दुःख आता है, हम कह उठते हैं कि भगवान् रूठ गया, जब अनिष्ट होता है, हम चीख पड़ते हैं, कि भगवान् ने बहुत बुरा किया पर यह नहीं सोचते हैं कि उस समय हमारी बुद्धि भ्रमित हो गई, युक्ति विकृत हो गई, कार्य प्रणाली बिगड़ गई, सोच की दिशा उलट गई, इसीलिए परिणाम गलत हो गया। भगवान् किसी का बुरा-भला नहीं करता। हमारी भक्ति सिर्फ दिखावा है।

वह भक्ति अंधी है, जिसमें ज्ञान की आँख नहीं खुलती। वह ज्ञान बैसाखियों पर टँगा है, जो कर्म नहीं कर सकता। हम ज्ञान की आँख पर पट्टी बाँधकर भगवान् को देखना चाहते हैं। दिखायी देगा इस तरह ? बैसाखियों पर लटक कर हम पहाड़ की यात्रा को निकले हैं—चढ़ पाएँगे चोटी पर ? यदि हम अपने प्रति तनिक भी ईमानदार हैं तो सच-सच बताएँ कि पूजा, उपासना करते समय हमें क्या दिखायी देता है ? क्या आता है हमारे मन-मन्दिर में ? क्या काम, क्रोध, भय और अहंकार के दुश्मन भगवान् ? तो ईमानदारी का उत्तर नहीं में ही आता है भगवान् कभी नहीं आये। यदि कभी कुछ आया भी है तो भय के कारण भगवान् का वही काल्पनिक चित्र आया है जो हमारी दीवार पर टँगा है। अन्यथा सर्वदा काम, अहंकार,

तृष्णा आदि विडम्बनाएँ ही बड़े गहरे चटकीले रंगों में आती हैं। क्योंकि यही पहले हैं, भगवान् बाद में।

हम भयभीत क्यों होते हैं ? क्योंकि भय हमारे भीतर है। बाहर किसी को देखकर हमें क्रोध क्यों आता है ? क्योंकि क्रोध हमारे भीतर है। गाली हमें इसलिए कचोटती है कि भीतर गालियों का खजाना भरा पड़ा है। जो चीज हमारे भीतर होती है, वही बाहर दिखायी दे जाती है। भगवान् हमें इसलिए दिखायी नहीं पड़ते कि उन्हें हमने अपने भीतर ओझल कर रखा है। भगवान् को पढ़ने वाली भाषा ही हमने नहीं सीखी है। चीनी भाषा हमारी समझ में नहीं आती है क्योंकि वह हमारे भीतर नहीं है। हिन्दी ससझ में आती है क्योंकि वह हमारे भीतर है। भगवान् की भाषा अपने भीतर सीखनी होगी तभी बाहर भगवान् को पढ़ा, देखा जा सकता है।

भगवान् न तो विश्वास में है और न अविश्वास में। इन दोनों से मुक्ति ही उन तक ले जा सकती है। विश्वास दूसरों की कथनी करनी को आँख बंद कर स्वीकार करने का नाम है। विश्वास हमें उकसाता नहीं जड़ता के खूँटे से बाँध देता है और भगवान् एक विचित्र अनुताप, उद्वेग और जिज्ञासा में है। भगवान् जड़ता में नहीं निरन्तर खोज में है। और हम भगवान् का कागजी चित्र सामने रखकर ठहर गये हैं। हजारों वर्ष हो गये कागज और पत्थर के भगवानों की आरती उतारते—पर भगवान् न बोलते हैं, न रोते हैं, न हँसते हैं। बस हमें विश्वास की अफीम खिलायी गयी है और हम नशे की हालत में हँसते, रोते हैं। नशा जब उतरता है तो चेतना में पूरी शक्ति के साथ हमें काम क्रोध नाचते दिखायी देते हैं।

भक्ति कोई बनी बनायी पक्की सड़क नहीं, जिस पर चाहे जो आसानी से चला जाए। वह तो ऐसी गहरी, लम्बी. अँधेरी सुरंग है, जिसमें भयंकर हिंसक पशु, विषैले जीव-जन्तु और घनघोर अँधेरा है। इस सुरंग का जब भी जहाँ कहीं अन्त होगा वहाँ भगवान् का मन्दिर मिल सकता है। इसी सुरंग से होकर अकेले द्वारा अकेले की अपने ही भीतर खोज भक्ति है। फिर मन्दिर की अभेद्य दीवारें और दरवाजे–काम, क्रोध, अहंकार आदि की ईंटों के बने हैं और दरवाजे पर मोह की किवाड़ें बन्द हैं। दीवारों से सिर रगड़–रगड़ कर दरवाजे तक पहुँचना है। उसको अपने हाथों खोलकर भीतर घुसना है। ये दीवारें और दरवाजे ऐसे चुम्बकीय पदार्थों से बने हैं, जो मनुष्य रूपी धातु को एक बार पकड़ कर छोड़ते नहीं। बस इनसे पकड़े जाने के बाद छूटने की युक्ति ही भक्ति है। यह मिल गई यदि, तो भगवान् अपने ही भीतर हैं।

संसार को देखते–देखते और भोगते–भोगते जब ऊब पैदा होगी उसके बाद अप्राप्त की जो उत्कृष्ट लालसा जगेगी—एक ऐसी चाहत जो इन सभी विषयों को देख कहेगी कि नहीं अब यह भी नहीं चाहिए, अब वह भी नहीं चाहिए, कुछ और चाहिए, क्या चाहिए ? कुछ समझ में नहीं आता। क्या देखना है ? कुछ देखना है जो दिखायी नहीं पड़ता। कुछ तड़प सी उठी है। कैसी और किसकी तड़प !

कुछ कहा नहीं जाता। कोई भूख सी है, पर भूख नहीं। कोई प्यास सी है, पर प्यास नहीं। यही दशा भक्ति के प्रारम्भ का लक्षण है।

जिस दिन हमारी अच्छे-बुरे की पहचान मिट जाए और हम सोच न पाएँ कि हमको क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा लगता है? जो सामने आ जाए वही हमें भा जाए, उस दिन रूपान्तरण का विचार जन्म लेगा, और इसका निरन्तर अभ्यास ही शायद भगवान् का अनुभव करा सके। क्रोध तो रहे पर हम क्रोधी न हो जाएँ। लोभ और काम तो रहें पर हम लोभी और कामी न हो जाएँ। तभी भगवान् को पहचानने की दृष्टि पैदा हो सकती है।

भगवान् एक अनुभव है। अनुभव एक होते हुए भी हर व्यक्ति का भिन्न-भिन्न होता है। किसी और का अनुभव हमारा अनुभव नहीं हो सकता। पराया बनाया हुआ भगवान् हमारे काम नहीं आ सकता। जैसे एक विद्यार्थी पढ़ाई-लिखाई छोड़ तिलक छापे लगा कर मन्दिर में बैठ जाए और राम-नाम का दिन-रात जप करे तो राम उसको परीक्षा में कभी भी उत्तीर्ण नहीं कर सकते।

उसका दिन-रात का पठन, मनन, चिन्तन ही उसकी भक्ति है और परीक्षा में प्रथम आकर जीविका प्राप्ति का जो आनन्द है, वही उसका भगवान् है।

एक किसान जुताई, बुवाई छोड़, खेत की मेंड़ पर धूनी रमा कर बैठ जाए और दिन-रात अपने आपको जलाए। यह तप उसके खेत में अन्न पैदा नहीं कर सकता। एड़ी-चोटी का खून पसीना एक कर उसका जो खेती करना, रखवाली करना, समय पर खाद, पानी की व्यवस्था करना है किसान की वही भक्ति है, और अन्न के भण्डार भरे घर को देख उसके हृदय का जो उछाल है वही किसान का भगवान् है।

एक रोगी नोटों को तिजौरी में बन्द कर बिना दवा और डाक्टर के पड़ा-पड़ा ॐ नमः शिवाय जपता रहे। कर्ज और मर्ज बढ़ते ही जाते हैं। उचित दवा के लिए उचित डाक्टर की तलाश और दवाखाने का जो परहेज है रोगी की वही भक्ति है और स्वास्थ्य लाभ का जो आनन्द है, वही उसका भगवान् है।

एक गृहस्थ अपने परिवार के भरण-पोषण और देख-रेख को छोड़ आँख बन्द कर उपासना करता रहे तो बच्चे बिगड़ जाएँगे और सारा परिवार एक दिन भुखमरी के कगार पर जाकर खड़ा जाएगा। परिवार के निकट रहकर उसकी निकटवर्ती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ईमानदारी से कार्य करना ही गृहस्थ की सच्ची उपासना है और इस प्रकार परिवार की जो खुशहाली आएगी, वहीं उसका भगवान् है।

एक सन्यासी के भीतर जब तक छोड़े हुए बीबी-बच्चे, छीनी गयी जमीन-जायदाद झोंकों की तरह आते जाते रहेंगे, तब तक गेरुआ वस्त्र पहने-वह कितने ही मोक्ष के उपदेश देता फिरे, मुक्ति से भेंट उसकी नहीं हो पाएगी। संसार मिटे हुए रूप में ही दिखायी देना संन्यासी का संन्यास है और आत्मज्ञान ही उसका भगवान्।

एक लेखक दस-बीस पुस्तकों के उद्धरण इकट्ठे कर कितने ही पोथे छपवा ले, वह छप सकता है, लेखक नहीं हो सकता। अनलिखी बातों को लिखने के लिए जो उसकी मौलिक खोज है—और वह खोज हर पढ़ने वाले को एक खोजी बना सके, लेखक की वही भक्ति है और उस अनलिखी को लिखने के बाद जो उसका आत्मानन्द है, वही लेखक का भगवान् है।

सदा–रूँआसी रहने वाली और हर काम को झींक-झींक कर करने वाली गृहिणी–कितनी ही सुबह सुबह नहा कर अगरबत्ती जलाए, व्रत, उपवास करे—घर को एक दिन नरक कुण्ड बना कर वह रख देगी। चतुराई और उल्लास के साथ गृहस्थ का बन्दोबस्त करना ही गृहिणी की पूजा है और सभी के हृदयों को सेवा और प्रेम से जीत लेना उसका भगवान्।

एक बुद्धिहीन और अदूरदर्शी बाप जब तक परिवार के योग्य सदस्यों की सलाह लिये बिना, अकेला ही स्याह–सफेद करता रहेगा तो निश्चित ही मरने के बाद बेटों के लिए झगड़े और भीख माँगने के कटोरे छोड़ जाएगा। अज्ञानी बाप का समझदार बेटे के हाथ में सारा लेन देन छोड़ देना ही उसका सबसे बड़ा त्याग है और उसकी आँखों के सामने घर की अमन चैनी ही उसका भगवान्।

एक देश-रक्षक और सिपाही घर के दरवाजे पर दहाड़ते शत्रु को देख, भीतर बैठकर भगवान् के चित्र के सामने रो–रो कर रक्षा की प्रार्थना करता रहे, यह उसकी सबसे बड़ी कायरता है। उस समय सब कुछ भूल शत्रु पर टूट पड़ना ही उसकी भक्ति और लड़ते-लड़ते शहीद हो जाना ही उसका भगवान् में विलय है।

सम्भवतः भारतवर्ष में भक्ति और भगवान् को लेकर जितना पाखण्ड पैदा हुआ है, उतना और किसी नाम पर नहीं। अधिकांश भक्तों के विषय में सबको पता है कि वे स्वयं रोटी कपड़ा के लिए तरसते और परमुखापेक्षी ही पाये गये हैं। क्यों होते हैं भक्त लोग दीन–हीन ? इस जन्म में भूखे मर रहे हैं और परिवार को मार रहे हैं कि अगले जन्म में सुख–समृद्धि से भरे महल तैयार मिलेंगे, कि जिनमें आँख मूँद कर वे घुस जाएँगे। ऐसी पाखण्डी भक्ति का अर्थ है जीवन से पलायन, कायरता, अकर्मण्यता, परिश्रम करने से डर कर एकान्त में आँख मूँद कर बैठ जाना और पुरुषार्थ को छोड़कर भगवान् के चित्र के सामने आँसू बहा-बहाकर "सुख सम्पत्ति घर आवै कष्ट मिटे तनका।" गा–गा कर निष्क्रियता को आहूत करना।

—जो कर्म ही नहीं करेगा, सुख-सम्पत्ति आएगी उसके पास ? ऐसे निष्क्रिय और कर्महीन व्यक्ति गरीब न होंगे तो क्या टाटा–बिड़ला होंगे ? ऐसी भक्ति, कर्महीनता और कायरता को ढकने का एक पर्दा है। ऐसे भक्त अपने दुःख-दैन्य को भगवान् की परीक्षा बताते हैं। जितने ही कर्महीन, कायर, दीन–दुखी हों और हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें—उतने ही ऊँचे भक्त हैं, और दीनता पर दीनता की पर्त चढ़ती चली जाए उतनी ही भगवान् की कृपा हो रही है ! झूठे जप से भगवान् तो नहीं आता, नींद अवश्य आ जाती है। पराई प्रार्थना रटते-रटते भगवान् तो नहीं आता, आत्मज्ञान भाग जाता है। □

२६. सम्बन्धों की असम्बद्धता

हम जिन लोगों के बीच रहते, करते, आते, जाते, पाते और देते हैं, उनके और हमारे बीच के भावात्मक जोड़ को 'सम्बन्ध' कहा जा सकता है। इन्हीं सम्बन्धों के विस्तार का नाम समाज है। जब तक हमारे मिलने-जुलने आदि की प्रक्रिया निर्विकार हृदय से बनी रहती है, तब तक सम्बन्ध कायम हैं; लेकिन जैसे ही इनमें किसी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य बाधा उपस्थित हुई कि हृदय विकृत होने लगते हैं और व्यवहार में फर्क पड़ने लगता है। यही सम्बन्धों की असम्बद्धता है।

हमारे सम्बन्ध तभी तक बने दिखायी देते हैं, जब तक कि हम स्वार्थरत हैं या अक्षम हैं, या बेसहारे हैं या अतिविनम्र और संवेदनशील हैं अथवा जब तक हम अपने पराये की भावना से मुक्त और अहंकार रहित अवस्था में हैं; किन्तु जिस दिन हमारा स्वार्थ पूरा हुआ, या उसकी पूर्ति में बाधा आयी; जिस दिन हम सक्षम हुए और किसी के सहारे की जरूरत न रही, अथवा किसी को सहारा देने से बचने लगे; जिस दिन हमारे हृदय की विनम्रता और संवेदना ढीली होकर अहंकार को खींचने लगी; उसी दिन से सम्बन्धों में दरार पड़ना शुरू हो जाती है और यह दरार, दरक जाने के बाद फिर जुड़ती नहीं। लाख प्रयासों से उसे जोड़ भी दिया जाए, तो भी संदेह और अविश्वास को जन्म दे जाती है। सम्बन्धों से पूर्व की अवस्था को देखा जाए तो आदि में असम्बद्धता ही थी और बाद में भी यही शेष बचती है। प्रकृति का नियम है कि आदिम ही उलट कर अन्तिम हो जाता है लेकिन परिवर्तन के साथ। 'सम्बन्ध' शब्द स्वयं इस तथ्य की ओर इंगित करता है।

'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ है, बँधाव। 'सम्बद्ध' का अर्थ है सम्यक् रूप से बाँधा हुआ। अर्थात् जो प्राकृतिक या सहजरूप से बँधा हुआ नहीं है, अपितु सप्रयास बाँधा गया, जोड़ा गया। जो निसर्ग से बँधा नहीं है--प्रयास से बाँधा गया है, वह मूलतः तो खुला, टूटा और बिखरा हुआ ही है, सिर्फ सामाजिकता या लोक-रीति के गोंद से चुपक कर जुड़ा हुआ दिखायी ही पड़ता है। दूध और पानी को मिला दिया जाता है तो वह एक दिखायी देता है; लेकिन जैसे ही उसमें, जरा सी कपट की खटाई पड़ी कि दूध अलग और पानी अलग; वास्तव में देखा जाए तो फिर न दूध, दूध रहता है और न पानी, पानी। दोनों का स्वरूप विकृत हो जाता है। हमारे सम्बन्धों का अन्तिम परिणाम यही होता है। तुलसीदास ने भी यही कहा—

> "जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
> बिलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥"

लेकिन तुलसी जिसे प्रीति कर रहे हैं, हमें वह प्रीति का दिखावा या स्वार्थ

का आवरण लगता है, क्योंकि कपट का खेल स्वार्थों के बीच ही होता है। प्रेम और कपट का तो उजाले से अँधेरे की तरह कभी सामना नहीं होता। प्रेम द्वैत नहीं, अद्वैत है और जब एक ही है तो कपट किसके साथ ? इसलिए दूध और पानी, इन दो का मिला हुआ रूप प्रीति नहीं, अपितु दोनों के जलने के बाद बचा हुआ एक रूप 'खोवा' या 'घी' ही प्रेम की उपमा के लायक है, जिसमें खटाई पड़े या नमक कोई फर्क नहीं आता। दो का जोड़ तो खंडित होगा ही। लगभग ऐसी ही बात रहीम ने भी कही है कि—

"रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चितलाइ।
टूटे तो फिर ना जुरै, जुरै गाँठि परिजाइ ॥"

यहाँ भी वही कहना है कि धागा प्रेम का नहीं होता, जो जुड़े और टूट जाए। धागा तो सम्बन्धों का होता है, जो स्वार्थ के कारण जुड़ता और टूटता है। सम्बन्ध प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकता है, स्रोत नहीं, जनक नहीं। वरन्, देखा जाए तो सम्बन्ध होते ही प्रेम विदा हो जाता है। प्रेम लक्ष्यहीन, दिशाहीन, निरपेक्ष, निर्बन्ध और मुक्त है। प्रेम की उपमा सिर्फ प्रेम है। वही उपमेय है, वही उपमान है। प्रेम कोई नाप-कूत की चीज नहीं और न उसमें कोई मात्रा और डिग्री का ही सवाल है। प्रेम के लिए तो इतना ही कहा जा सकता है कि वह है या नहीं है। अत; स्वार्थ, सम्बन्धों की रीढ़ है और प्रेम. सम्बन्धरहित हृदय की भावदशा।

सम्बन्धों का असली आकर्षण तो तभी तक है, जब तक कि वे जुड़े न हों और जुड़े हों तो अति निकट न आये हों। जुड़कर निकट आने पर तो टूटना अनिवार्य है क्योंकि शरीर तो जुड़कर एक दिशा में आ जाते हैं लेकिन मन विपरीत दिशाओं को चले जाते हैं और जब मन अलग हो गये तो जुड़ना कैसा ?

वस्तुतः हमारे सम्बन्धों का सार ही यह है कि जो अलग है, उसी को बाँधने के लिए हम व्याकुल होते हैं और जो बँध जाता है, वही बिखरता भी है। जो दूर होता है उसकी निकटता के लिए हम तरसते हैं और जब उसको निकट ले आया जाता है तो फिर भीतर से दूरी बनने लगती है। इसका कारण यह है कि निकटता की दृष्टि अधिकतर दोष ही देखती है और दूरी की दृष्टि अधिकतर गुणों को, और दोष अपकर्षक तथा गुण आकर्षक होते हैं। इसीलिए सम्बन्धों में न अति की निकटता भली और न अति की दूरी। सम्बन्ध आग जैसा है कि बहुत निकटता हो जाए तो तन-वदन जलने लगते हैं और थोड़ी दूरी हो तो ठंड में आराम मिलता है, भरण-पोषण होता है। घातक भी है और साधक भी है। अधिक दूरी हो जाए तो फिर आग, आग भी नहीं कही जा सकती।

हमारे सम्बन्धों का जुड़ना और टूटना उतना बाहर से दिखायी नहीं देता, जितना कि भीतर से। भीतर से सम्बन्धों के प्रति आसक्त या प्रतिबद्ध न होने से ही असम्बद्धता से बचा जा सकता है; इनके टूटने के दुःख से बचा जा सकता है।

चाहे संसार अव्यावहारिक कह कर उपेक्षित करदे या असामाजिक कहकर

समाज से बहिष्कृत, पर वही व्यक्ति सबका भला सिद्ध होगा, जो किसी का भला नहीं है। वही व्यक्ति सबका मित्र कहलाने योग्य होगा जो किसी का मित्र नहीं है। वही व्यक्ति सबका हो सकेगा, जो किसी का नहीं है, क्योंकि एक पक्ष की भलाई कहते ही दूसरे पक्ष से बुराई अपने आप बन जाती है। एक का मित्र बनते ही दूसरे का शत्रु अपने आप हो जाता है। एक का साथ देते ही दूसरों से अलगाव स्वतः बन जाता है।

सम्भवतः एक निश्चित और सीमित दायरे में, स्वार्थ-संकुल सिद्धान्तों के आधार पर अथवा हित-साधिका वृत्ति की प्रमुखता के कारण सम्बन्धों का विकास हुआ होगा और कुछ भौतिक, जैविक या मानसिक कारणों से इन सम्बन्धों का अर्थ संकेतित नामकरण किया गया होगा। ऐसा हमारा अनुमान है। जैसे जन्म के कारण माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, चाचा, दादा, नाना-मामा आदि। विवाह के कारण पति-पत्नी, सास-ससुर, साला-साली आदि। जीविका के कारण स्वामी-सेवक, अफसर-मातहत, ग्राहक-व्यापारी आदि। ज्ञान और शिक्षा-दीक्षा के कारण गुरु-शिष्य, अध्यापक-विद्यार्थी, वक्ता-श्रोता, लेखक-पाठक आदि। मनोरंजक एवं आमोद-प्रमोद के कारण मित्र-दोस्त, प्रेमी-प्रेमिका आदि। इन शब्दों में जो संकेतित अर्थ भरे गये हैं, वही सम्बन्ध है और नामित व्यक्ति यदि उस संकेतित अर्थ का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाता है तो वहीं, वह सम्बन्ध टूट जाता है, भले ही दिखावे के लिए उसे ढोते रहें। जैसे 'पिता' वह, जो पालन करे, रक्षा करे; परन्तु कोई पिता बच्चे का जनक तो हो, लेकिन उसका पालन-पोषण और रक्षा न कर सके तो आन्तरिक रूप से उसे पिता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पिता के अर्थ का वह निर्वाह नहीं कर पाया। हर सम्बन्ध के विषय में यही बात लागू होती है।

अब जितने भी हमारे पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध हैं, आज तक कोई ऐसा उदाहरण नहीं है, जो आदि से अन्त तक एक रसता में निभता चला गया हो। कुछ अपवादों को छोड़कर जैसे 'रामचरित मानस' में लिखे हुए राम-लक्ष्मण आदि चारों भाई। इन चारों भाइयों ने कई प्रश्न चिन्ह खड़े कर दिये हैं और यह किताबी आदर्श भाईचारा आज हमारे जीवन और व्यवहार की छाती पर पत्थर की तरह अड़ गया है कि न तो जिसे ढो पाते हैं और न इससे बचकर निकल पाते हैं; क्योंकि जो किताबों में है, वह जीवन में नहीं है और जो जीवन में है, वह किताबों के अनुसार गर्हित और निन्दनीय है। अतः ऐसी अमिट दुविधा की स्थिति निर्मित की है इन किताब लिखने वालों ने, आदमी को कुढ़ा-कुढ़ा कर मारने के लिए कि न तो किताब-जीवन में उतर पाती है और न जीवन किताब के भरे हुए साँचे में ढल पाता है!

पुरानी पुस्तकों में बताया गया सबसे अधिक सुखदायी, लेकिन आज के जीवन और व्यवहार में सबसे अधिक दुःखदायी जो सम्बन्ध है, वह है भाई का। 'भ्रातृ' या भाई शब्द 'भ्राज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, चमकना,

चमकाना, जो सोहे, जगमगाए। अर्थात् भाई वह, जो भाई को भाए, सुहाए, उसकी कीर्ति को बढ़ाये, कालान्तर में एक ही माँ-बाप से पैदा होने वाले दो या अधिक बच्चों के बीच 'भाई' का सम्बन्ध स्थापित किया गया होगा। उसके बाद तो चचेरा ममेरा, फुफेरा आदि अनेक भाई बना दिये गये। अतः एक ही खून-पानी भाई का रूप खड़ा करने के लिए आवश्यक नहीं है। भाई के व्यापक अर्थ के अनुसार, जो दूसरे की भलाई-बुराई को अपनी भलाई-बुराई समझें; जो सुख-दुःख दोनों में एक दूसरे के काम आएँ. वे ही भाई हैं। कहा भी गया है कि 'राजद्वारे चश्मशाने यो तिष्ठति स बांधवः।" लेकिन यह अर्थ कागजी राम-लक्ष्मणों के साथ ही बह गया और जीवन के व्यवहार के लिए अर्थादेश को जन्म दे गया। फलतः जिन पुराणकारों ने और तुलसीदास ने भाई-भाई के प्रेम और अखण्ड एकता के गीत गाये थे, शायद उसी तुलसी के नाम से अर्थादेश का एक ताजा उदाहरण, आज के भाई की अन्तिम सच्चाई को व्यक्त करने के लिए प्रचलित हो गया :—

"भाई भतीजा भानजा भाँड़ भाट भुँइहार।
तुलसी छहौ भकार ते रहै सदा हुसियार॥"

पता नहीं यह दोहा तुलसीदास ने लिखा है या किसी और ने, लेकिन छहौ भकारों की अन्तिम सच्चाई को व्यक्त कर गया है।

इस भाईचारे का संदर्भ लेकर जब हम रामायण (मानस) को देखते हैं तो वहाँ इसके दो विरोधी रूप दिखायी देते हैं। एक रूप की झलक बालि-सुग्रीव और रावण-विभीषण के जीवन और व्यवहार में मिलती है, जहाँ पूर्व का अति का प्रेम अन्त में जान लेवा दुश्मनी में बदला है; जो भाई एक दूसरे के रक्षक थे, वही भक्षक हो गये। इसका सार-सूत्र सुग्रीव की वाणी से फूटा है कि 'बन्धु न होइ मोर यह काला।' और दूसरे रूप की झलक राम-लक्ष्मण आदि चारों भाइयों के जीवन और व्यवहार से आती है कि चाहे सूरज पश्चिम में निकले, चाहे हिमालय अपनी जगह बदल दे पर भाई, भाई के खिलाफ नहीं हो सकता। इसके लिए कहा गया है कि 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।'

अब देखना यह है कि हमारे परिवार और समाज में, इन दोनों रूपों में से कौन सा रूप मर गया और कौन सा जीवित है? वस्तुतः 'रामचरित मानस' ने हमें भाईचारे-के, प्रेम के, त्याग के, समन्वय के जो सीमातीत आदर्श और सिद्धान्त दिये, वे तो हमारी कथनी की खूँटियों पर ही टँगे रह गये, लेकिन हमारी करनी और व्यवहार में रामत्व ने रावणत्व का रूप धर लिया; सैद्धान्तिक त्याग. छीना-झपटी पर उतर आया; सैद्धान्तिक प्रेम और सहिष्णुता, कलह और विघटन में बदल गयी और सैद्धान्तिक समन्वय तथा एकत्व व्यावहारिक वैषम्य और अनेकत्व बन गये। धीरे-धीरे अथवा एकदम, रामादि भाई और इनका जैसा भाईचारा— व्यवहार से विलुप्त हो गया और बालि-सुग्रीव तथा रावण-विभीषण, दूनी—ताकत इकट्ठी कर 'महाभारत' की जमीन पर आकर खड़े हो गये—और—अब

'महाभारत' सक्रिय है, व्यवहार में और रामायण के अति आदर्श सिसक रहे हैं—'व्यक्ति सम्बन्ध-हीन सिद्धान्तों' में।

सन्देह का विषय यह है कि घर-घर में और हर जबान पर रामकथा होते हुए भी फिर क्यों नहीं राम-लक्ष्मण जैसे भाई पैदा हो पाये ? हमारे सामने निर्मल आदर्श (दर्पण) होते हुए भी कैसे हमारा चहरा दगीला रह गया ? जब बीज आम के थे तो बबूल कहाँ से पैदा हो गये ? अब तो पूरा संदेह है कि क्या वही देश है, जहाँ राम और कृष्ण पैदा हुए थे ?

ऐसा है कि आदर्श (दर्पण) तो निर्मल ही था, पर समय और परिस्थितियों की गर्द उस पर चढ़ती गयी और हम उसकी सफाई किये बिना, हाथ जोड़े उसके सामने खड़े रहे; फलतः दर्पण दीवार जैसा बन गया। अब दीवार में चहरा कैसे दीखे तो फिर हमने अपने हिसाब से अपना चहरा बनाना शुरू कर दिया। इसी प्रकार बीज तो उन्नत किस्म के ही थे, लेकिन वही बीज सदियों तक बोये जाते रहे तो ऐसा होता है कि उनकी वैराइटी या किस्म इतनी निकृष्ट हो जाती है कि फिर उस फसल का पता नहीं चलता और सारा खेत खरपतवार से भर जाता है। अच्छी फसल के लिए तो बहुत कुछ करना पड़ता है, लेकिन खरपतवार तो बिना कुछ किये ही खेत को खा जाते हैं। राम-लक्ष्मण के जैसे भाईचारे के उन्नत किस्म के बीज समय बीतते-बीतते खरपतवार जैसे हो गये।

दूसरी बात, जब कोई चीज चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है तो फिर वह नीचे आने लगती है, इसको नीचे आना नहीं, गिरना कहा जाता है। ऐसे समझें जैसे एक पर्वत है. पर्वत के नीचे कोई धारा तेजी से बह रही है। या तो पर्वत है या धारा का प्रवाह। या तो पर्वत पर चढ़ें या धारा में बहें। धारा में डूब जाने से बचने के लिए कोई पर्वत पर चढ़ता चला जाए. चढ़ता चला जाए और शिखर पर पहुँच जाए; अब और ऊपर जा नहीं सकता और वहाँ भी टँगा नहीं रह सकता, क्योंकि बहुत नीचे मौत है तो बहुत ऊपर भी आदमी बच नहीं सकता। अतः उसका नीचे आना शुरू हो जाता है और आते-आते फिर उसी प्रवाह में बहने लगता है। उत्कृष्ट जीवन-मूल्यों का इसीलिए अवमूल्यन होता है।

तो तुलसीदास ने रामादि चारों भाइयों के दृष्टान्त से कुछ जीवन मूल्यों को नीचे की धारा से उठाकर इतना ऊपर, ऐवरेस्ट पर पहुँचा दिया कि उनका अवमूल्यन सुनिश्चित हो गया। शिखर है, मर्यादा और नीचे का प्रवाह है, अमर्यादा। शिखर है, प्रेम और नीचे का प्रवाह है घृणा ! शिखर है, त्याग और नीचे का प्रवाह है, छीना-झपटी। शिखर है, ज्ञान और नीचे का प्रवाह है, मूढ़ता। शिखर बन गयी रामायण और नीचे प्रवाह था, महाभारत का। ऊपर-ऊपर से हम रामायण गाते रहे और नीचे महाभारत होते रहे। रामायण हम गाते हैं, महाभारत हम नाचते हैं।

अतः जो प्रश्न है कि राम-लक्ष्मण जैसे भाई क्यों नहीं होते, तो यह प्रश्न

एकाध अपवाद को छोड़कर, शायद प्रश्न ही बना रहेगा। इसका एक कारण और समझ में आता है कि असल में ये चारों अलग-अलग भाई ही नहीं थे, उस मिट्टी से बने हुए, जिस मिट्टी से हम जैसे भाई बने हैं।

ये तो पूरी तरह और प्रामाणिक रूप से घोषित 'एक' पर ब्रह्म या महा-विष्णु के विभक्त चार अंश हैं, जो केवल दिखावे के लिए मनुष्यों की काया में अलग-अलग चार भाइयों के रूप में दिखायी देते हैं—मूलतः तो वह एक ही है, और चार रूपों में दिखायी देने वाला, जब एक ही है—वह भी अलौकिक! तो फिर चारों में कैसी विषमता? कैसा तनाव? कैसा अलगाव? कैसी घृणा और कैसी असम्बद्धता? जैसे एक व्यक्ति चार दर्पणों के बीच में खड़ा हो गया हो तो प्रतिबिम्ब ही चार बनेंगे—एक व्यक्ति, चार व्यक्ति तो हो नहीं जायेंगे। चार दर्पण होते हुए भी व्यक्ति एक ही है और यही हैं राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—एक ही अदृश्य के चार दृश्य बिम्ब! लेकिन वहीं इनकी समता के लिए चार अलग-अलग लौकिक व्यक्तियों को एक दर्पण के सामने खड़ा कर दिया जाए तो दर्पण एक होते हुए भी व्यक्ति अलग-अलग और चार ही रहेंगे और यह भी हो सकता है कि चार, चार भी न रहें—और आठ सौ हो जाएँ, क्योंकि होड़ा-होड़ी में, अपना-अपना चहरा सामने लाने के लिए धक्का-मुक्की करते हुए एक-दूसरा, एक-दूसरे पर चढ़ जाए और दर्पण हजार खंडों में बिखर जाए!

यही होता आया है और यही होता रहेगा, लौकिक भाइयों में, जिस एक घर में वे चार होंगे! अब कैसे ओढ़ा जाए राम-लक्ष्मण के भाईचारे को! दूसरी मजेदार बात यह कि इन चारों भाइयों का अवतरण भी सोचा समझा नाटक है, जो पूरी रूपरेखा बनाकर संसार के मंच पर खेला या खिलाया गया है कि कब, कैसे, कहाँ, क्या करना है? हम जैसे भाइयों को तो एक पल का पता नहीं, लेकिन इन दृष्टान्त बने भाइयों को जन्म से पहले से लेकर, मृत्यु के बाद तक, सब पता है। अतः जहाँ पहले नाटक रचकर फिर उसे जीवन में उतारा गया हो, वहाँ नीति भंग और अमर्यादा का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। कहते हैं कि जिन्दगी एक नाटक है, यह एक बारगी झूठ भी हो सकता है, लेकिन लगभग सत्य यह है कि नाटक जिन्दगी नहीं है और यहाँ जिन्दगी को नाटकीय लीला के समान बनाने के उपदेश दिये जाते हैं। बेचारा—जुगनू आकाश का सितारा कैसे बन जाए! तारा तो फिर भी दिखायी पड़ता है और उसकी जैसी चमक-दमक भी थोड़ी-बहुत जुगनू में है, लेकिन इन चारों भाइयों को तो किसी ने देखा नहीं, सिवाय किताबों के काले अक्षरों में इनकी गुराई के बढ़े-चढ़े उल्लेख के! फिर कैसे इनका अनुकरण किया जाए? उल्लेखों को पढ़ना और बात है और होना और बात। नाटक पढ़कर नाटक ही किया जा सकता, नाटक पढ़कर जीवन नहीं जीया जा सकता।

अतः ये रूपक और ये राम-लक्ष्मण के दृष्टान्त, लौकिक भाइयों को नहीं पहनाये जा सकते, क्योंकि वहाँ एक ही तत्त्व चार रूपों में है, भले ही तीन माताओं की कोख से पैदा हुआ है; जबकि यहाँ भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न स्थानों

से, भिन्न संसार, भिन्न रुचि, भिन्न आदतें लेकर आती हैं, भले ही एक माँ की कोख से पैदा हुई हों। जब तक बचपन रहता है, तब तक तो बड़ा प्रेम, बड़ी एकता रहती है; लेकिन बड़े होने के बाद जब अपनी-अपनी आदतों, रुचियों, संस्कारों ओर स्वार्थों का रंग खुलता है, तो उस प्रेम और भाईचारे की दीवार में दरार पड़ने लगती है। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि जैसे रामादि चारों भाइयों में एक ही तत्त्व है और वहाँ विषमता नहीं तो वहीं एक तत्त्व तो संसार के सभी प्राणियों और भाइयों में है फिर यहाँ विषमता और अलगाव क्यों? तो इसका सहज उत्तर यह है कि हमारे भीतर तो वह परमात्म तत्त्व राख की सैकड़ों पर्तों से ढँके अंगार की तरह है, जिसका हमें अनुभव भी नहीं होता और वह प्रत्यक्ष प्रज्वलित अंगार ही है। हम तो दूसरों से सुनकर और पढ़कर ही कहते हैं कि सबके भीतर एक ही परमात्मा है। हमें तो अपने शरीर का भी पता नहीं कि यह कैसे चलता, बोलता, देखता है? अतः कोई मनुष्य हो तो मनुष्य उसका अनुकरण करे— परमात्मा का अनुकरण कैसे किया जाए? वह पूजा की वस्तु है।

तो पैदा तो होते हैं निश्चित रूप से राम-लक्ष्मण ही, पर बड़े होकर जीते हैं, बाली-सुग्रीव, रावण-विभीषण और कौरव-पांडव ही। मर जाती है रामायण और जिन्दा रहता है, महाभारत!

सोचने की बात यह है कि सम्बन्ध बिगड़ते क्यों हैं? इसके पीछे कई स्थूल और सूक्ष्म कारण हैं। कुछ कारण तो बहुत घिसे-पिटे और सर्वविदित हैं जैसे ज़र, जोरू और जमीन; लेकिन कहीं-कहीं देखने में आया है कि इन तीनों में से कुछ भी मूल में नहीं होता और संबंध खराब हो जाते हैं। दूसरे, कोई किसी की बुराई करे, कोई किसी को चोट पहुँचाए, छीने तो भी सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं—यह स्वाभाविक है। इन स्थितियों में सम्बन्ध टूटेंगे ही-—लेकिन जब भलाई करते हुए, सुख पहुँचाते हुए, उचित सलाह देते हुए, दूसरों पर सब कुछ लुटाते हुए भी लोग, उपकार करने वाले को अन्त में बुरा बनाकर सम्बन्ध खराब कर देते हैं—इसके पीछे क्या कारण है? इन बातों के लिए समाज में कहावतें तो कई प्रचलित हैं कि 'नेकी का बदला बदी' या 'भलाई का बदला बुराई' पर इनसे पूरा समाधान नहीं हुआ कि ऐसा होता क्यों है? अन्य सम्बन्धों से भलाई के बदले बुराई मिले तो आदमी थोड़े दिनों में मन समझाकर अलग हट जाता है, सम्बन्धों की परवाह नहीं करता, लेकिन ये बातें जब भाई-भाई के बीच घटित होती हैं, तो जीवन दूभर हो जाता है। न पास रह सकते हैं और न अलग हट सकते हैं। जी की जलन सदा के लिए बन जाती है।

देखने में ऐसा आया है कि एकाध अपवाद को छोड़, कोई ऐसा बड़ा भाई नहीं होगा, जिसने अपने छोटे भाइयों की भलाई करने में, उनको प्रेम और सुविधा देने में कोई कोर कसर छोड़ी हो और एकाध ही अपवाद को छोड़, कोई ऐसा छोटा भाई न होगा, जिसने बाद में चलकर बड़े भाई को लांछित, अपमानित और निन्दित न किया हो। लगभग हर बड़ा भाई रोता, कलपता और पश्चात्ताप में आँसू बहाता

हुआ मिला है और लगभग हर छोटा भाई पीछे-पीछे बड़े की निन्दा करते और उसके अहसानों पर पानी फेरते हुए ! क्यों होता है ऐसा ?

एक तो मनोवैज्ञानिक अनुभव यह है कि अत्यधिक अहसानों का बोझ कृतघ्नता या अहसान फरामोशी के औजार से हटाया जाता है। अर्थात् जब कोई हमारे ऊपर इतने अहसान कर देता है कि हम उन्हें उतार नहीं सकते, तो विपरीत जाना शुरू कर देते हैं—भलाई के बदले बुराई देने लगते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे निर्मल जल का प्रवाह जब खाली गड्ढे को पूरा भर देता है तो फिर उल्टा पीछे को ही लौटने लगता है और पीछे लौटने में वही पवित्र जल नहीं रहता अपितु वह गड्ढा अपने कूड़े-कचरे को और उसी जल के साथ ठेल देता है तो भलाई करने वाले के पास आती तो है लौटकर भलाई, लेकिन गड्ढे के कूड़े-कचरे से लिपटी बुराई बनकर !

दूसरे, यहाँ लगभग हर स्त्री ईर्ष्या के और हर पुरुष अहंकार के धरातल पर खड़ा है और इन दोनों का स्वभाव है कि कोई किसी के गुणों और प्रशंसा को नहीं सुनना चाहता, कोई किसी से दबा रहना पसन्द नहीं करता और कोई किसी से अपनी हीनता स्वीकार करने को राजी नहीं। जिनसे हम उपकृत हो जाते हैं, उनसे कालान्तर में आत्महीनता या कुछ-कुछ अपराध-बोध जैसा अनुभव होने लगता है और यदा-कदा दूसरे लोगों के मुँह से निकले उनकी प्रशंसा के शब्द भी हमारे कानों में जहर का काम करते हैं। अतः अपनी आत्महीनता की ग्रन्थि को मिटाने के लिए और दूसरों की प्रशंसा से आहत भावना को राहत पहुँचाने के लिए दो ही उपाय हैं कि या तो अपने ऊपर किये गये उपकार के बदले में दूना उपकार करके उनकी प्रशंसा को अपनी प्रशंसा बनालें लेकिन सब ऐसा नहीं कर पाते। कुछ निहित स्वार्थ बाधा बन जाते हैं। या फिर दूसरा उपाय यह है कि उपकार करने वाले के करे-धरे पर पानी फेरदें, चारों तरफ घूम-घूम कर उसकी निन्दा करके, उसे इतना निकृष्ट सिद्ध कर दें कि फिर कभी वह अपने उपकार का नाम न ले सके और हमें बदला न चुकाना पड़े। यह उपाय बड़ा सरल है और अधिकांश लोग इसी को अपनाते हैं। इसीलिए नेकी के बदले बदी ही दिखायी देती है।

तीसरे, उपकार का परिणाम भी अन्त में इसी बात को पुष्ट करता है। उपकार करने से दो परिणाम सामने आते हैं कि या तो उपकृत व्यक्ति उठ जाता है, उपकारी से भी ऊँचा पहुँच जाता है या फिर अपने कर्म या खोटी किस्मत से उठ नहीं पाता, और बर्बाद हो जाता है। ऐसे में बहुत कम ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो किसी के उपकार से उठकर, अपनी उन्नति का श्रेय अपने उपकारी को देते हैं—अन्यथा फिर तो अपना भाग्य, अपना कर्म, अपनी बुद्धिमत्ता ऊपर उठ जाती है और उपकारी धकेल कर पीछे कर दिया जाता है और यदि भूले-भटके या उपकृत की उपेक्षा से तिलमिला कर वह कभी अपने उपकार या अहसान की याद दिला भी दे; तो उपकृत की ओर से बड़ी सस्ती उक्ति फेंक दी जाती है कि छोटों के लिए कुछ भी करना तो बड़ों का नैतिक कर्त्तव्य है, उसमें क्या अहसान ? नैतिकता दूसरों को

ही लक्ष्य बनाकर चलती है। दूसरा वह जो उठाने पर भी नहीं उठ पाया। वह तो सीधे-सीधे अपने गिरने का दोष उठाने वाले पर ही मढ़ता है—अपनी कर्महीनता को भूल जाता है, अपने दुर्भाग्य को भूल जाता है, अपनी मूढ़ता को भूल जाता है। असल में भलाई, भलाई ही कर सकती है,-किसी के भाग्य को तो बदल नहीं सकती और अभागे को जब भलाई रास नहीं आती तो उसे बुराई बताकर अपना मन समझाया करता है और दुनिया समझती है कि भलाई के बदले बुराई मिल रही है।

चौथा कारण यह है कि जो कुछ किया जाता है, बहुत गहरे में उसका प्रतिफल उल्टा होता है, भले ही प्रकट रूप में वह सीधा दिखायी दे। जैसे हम कुछ निर्माण करते हैं, अन्त में विध्वंस होता है; हम जन्म देते हैं, परिणाम मृत्यु होती है। प्रकृति का यह नियम है कि जो हो जाता है, वह चुक जाता है और जो नहीं होता है, उसके होने की बारी आ जाती है। जो दिया जाता है यदि उसी के लौट आने की अपेक्षा से हम बँध गये, तो उसका विपरीत लौटना है। जैसे, सूर्य देता है, प्रकाश, लौटकर आता है रात का अँधेरा; सर्दियाँ देती हैं ठंडक, लौटकर आती है गर्मी—हम देते हैं दूसरों को सुख, लौटकर आता है उनसे दुःख ! यहाँ कोई यह न समझें कि हमारे पास जो सुख आ रहा है, वह सुख के बदले में आ रहा है यह सुख, दुःख के ही परिणाम स्वरूप है; क्योंकि इस सुख को प्राप्त करने के लिए पता नहीं हमने अपने आपको और दूसरों को कितने दुःख दिये हैं ? कितने हम रोये हैं; कितने तड़पे हैं; कितना परिश्रम किया है ? इनके बदले में यह सुख आया है। कभी हमें सुख देने वाली चीज यों ही पड़ी मिल गयी है और हमें सुख दे रही है तो जिसकी खोयी है उसके पास दुःख पहुँच गया है। ये सारी बातें प्रतिबद्ध मन के सम्बन्धों को तोड़ने वाली ही हैं।

एक अन्य बात भी है कि जब हम किसी को सुख देते हैं तो हमारे भीतर उस सुख का कुछ न कुछ स्थान खाली होता है और जिसे हम सुख देते हैं, उसके पास पहुँचकर वह सुख अपना स्थान लेने के लिए, वहाँ से दुःख को हटाता है—अब दुःख वहाँ से हटकर कहाँ जाए ? वह हमारे भीतर सुख के खाली हुए स्थान पर आ जाता है। आना ही है उसे, क्योंकि प्रकृति किसी स्थान को रिक्त रहने नहीं देती। प्रकृति अपना काम कर रही है, अपने अटल नियम से कि वह दिन के बदले रात को ही भेजेगी, सुख के बदले दुःख को ही भेजेगी। हम लाख सिर पीटकर मर जाएँ, प्रतिबद्ध होकर कि दिन के बदले दिन ही रहे या सुख के बदले सुख ही मिले; परन्तु वह होना नहीं है। अतः प्रतिबद्ध चित्तों ने ही, प्रकृति को भूलकर, मनुष्य को दोषी ठहराने के लिए यह मुहावरा बनाया होगा कि 'नेकी का बदला बदी'।

पाँचवाँ कारण, यदि दार्शनिक गहराई से देखा जाए तो हम न दूसरे को कुछ देते हैं और न दूसरे के साथ कुछ करते हैं। हम जो कुछ करते हैं, अपने ही साथ करते हैं, अपने ही लिए करते हैं। जैसे हम किसी से सम्बन्ध बनाते हैं तो अपने लिए ही बनाते हैं; हम किसी को सुख देते हैं तो अपने ही सुख को बढ़ाने के लिए उसे इधर-उधर करते हैं और निमित्त दूसरा बन जाता है। और भी हम किसी को

सुख देकर यदि यह सोचते हैं कि हमारे दिये हुए सुख से दूसरा सुखी हो जाएगा, तो यह गलत है। सही यह है कि हमारे द्वारा दिया हुआ सुख अन्ततोगत्वा दूसरे के लिए दुःख का कारण बन जाता है—कुछ अपवादों को छोड़कर। जैसे, हम जिसे सुख-सुविधा देकर अपने आपको भला दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं, वह सुख-सुविधा दूसरे को मुफ्त और बिना परिश्रम किये मिल रहे होते हैं और आदमी का यह स्वभाव है कि जब एक बार उसे बिना परिश्रम किये कुछ मुफ्त मिल जाता है तो फिर उसके मन में बिना परिश्रम किये ही पाने की अपेक्षा बँध जाती है। शरीर आलसी और अकर्मण्य हो जाता है। कार्यक्षमता घट जाती है। स्वावलम्बन की भावना सिकुड़ जाती है। पराये सहारे जीने की आदत पड़ जाती है और "पराधीन सपनेउ सुख नाहीं।" तो हमारे द्वारा दिये हुए सुख से अधिकांश में दूसरा आदमी परोपजीवी बनकर दुःखी ही होता है। दूसरी ओर प्राप्तव्य (वस्तु या सुख) का यह स्वभाव है कि वह आदमी को मुफ्त मिलकर उसके मन में अपने प्रति लालच और आकर्षण, और देने वाले के प्रति अपेक्षा का भाव पैदाकर एकाधबार आने के बाद फिर विलुप्त हो जाता है। अर्थात् कोई चीज़ सदा ही मुफ्त नहीं मिलती रहती। उसके फिर न मिलने में सबक तो होता है—अपने आप परिश्रम करके प्राप्त करने का, दूसरों का मुँह देखा न रहने का; लेकिन आदमी इतना मूढ़, आलसी और परोपजीवी है कि इस आन्तरिक रहस्य को तो समझ नहीं पाता उल्टा दूसरे व्यक्ति से अपेक्षा की पूर्ति न होने के कारण उसके साथ विपरीत आचरण करने लगता है। अर्थात् भलाई के बदले बुराई देने लगता है और सम्बन्धों में ख़राबी आने लगती है।

वस्तुतः दूसरा विपरीत आचरण नहीं करता, दूसरे की भलाई का दिखावा—करके विपरीत आचरण कराने के बीज हम ही बो देते हैं; क्योंकि, हम जिसे दूसरों की भलाई कह रहे हैं, वह भलाई नहीं अपितु एक अर्थ में वह ऐसी बुराई है, जो दूसरों को भविष्य के लिए कमजोर, अकर्मण्य, पौरुषहीन और परोपजीवी बना रही है; हीनता की ग्रंथि पैदा कर रही है। परिणामतः दूसरों के ही द्वारा उठाये जाने के कारण व्यक्ति अपनी शक्ति को भूल जाता है; अपने उड़ने वाले परों को भूल जाता है; शक्तिहीन हो जाता है और जिस दिन सहारा नहीं मिलता, उस दिन धड़ाम से गड्ढ़े में गिरता है, तब उसकी आँख खुलती हैं। अब उसकी समझ ऐसे काम करती है कि मुझे ऊपर चढ़ाने के बहाने नीचे गिराने का षडयन्त्र किया गया है। सुख का लालच देकर मुझे दुःख में धकेला गया है। पेड़े में रखकर मुझे जहर खिलाया गया है। वह प्रेम नहीं था, जाल था, जिसमें कपट के दाने फेंक कर मुझे फँसाया गया। इन कारणों से भी भलाई, बुराई बनकर लौटती है और सम्बन्ध बिखर जाते हैं। अतः भलाई, बुराई का निमित्त बन जाती है। समान स्तर के लोगों में जो सबसे भला है, उसकी बराबरी न कर पाने के—कारण, दूसरे उसकी बुराई करने लगते हैं। किसी का योग्य और गुणवान् होना भी यहाँ दूसरों की ईर्ष्या और द्वेष जैसे दुर्गुणों का निमित्त बन जाता है और लोग उसे मिटाने या नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं। कोई अच्छा है, इसलिए वह बुरा बना दिया जाता है।

सम्बन्धों के विच्छेद का छठा कारण है, हमारे मन में दूसरों को दूसरा मान लेने का भाव। यह एक दार्शनिक सच्चाई है। यद्यपि हमारे व्यवहार में दर्शन काम नहीं आता, लेकिन दर्शन में असली जीवन का दर्शन अवश्य होता है। जीवन की गहराई, गरिमा और तत्त्व, दर्शन में छिपे रहते हैं। तो हमारा अद्वैत दर्शन कहता है कि यहाँ एक मैं ही हूँ दूसरा है ही नहीं—"एकोऽहं द्वितीयो नास्ति।" इस मैं का अर्थ अहंकारवाला मैं नहीं है, इसका अर्थ सर्वत्र अपना ही विस्तार देखना है। अर्थात् तुम भी मैं, वह भी मैं, पशु भी मैं, पक्षी भी मैं, पेड़ भी मैं, पत्थर भी मैं और जब सब कुछ मैं ही हूँ तो किसकी भलाई, किसकी बुराई? जो कुछ भी करना है, अपने ही साथ करना है और अपने साथ कोई बुरा नहीं करता। अपने साथ करके कोई बदला भी नहीं चाहता। लेकिन जहाँ हमारे मन में दूसरे का भाव आया और दूसरे को दूसरा समझकर कुछ भी किया, वहीं अनर्थ शुरू हो जाता है। जब हम दूसरे की भलाई करते हैं या कुछ देते हैं तो अवचेतन में बदले का भाव रहता है और बदले के भाव से की हुई भलाई बुराई से भी बुरी है तथा अहसान की दृष्टि से किये जाने वाला उपकार, अपकार से भी अधिक खतरनाक है। क्योंकि इनसे दुतरफा बुराई मिलती है, जैसे हम किसी के आड़े वक्त काम आये पर हमारे आड़े वक्त उसने हमारी बात न पूछी, बस हमारे मन में—उसके प्रति बुराई आ गयी और सम्बन्धों का माधुर्य समाप्त हो गया और हमारी भलाई का यदि उसने बदला भी चुकाया तो चुकाते वक्त उसका मन मैला होता है क्योंकि जिस भाव से लिया जाता है, उस भाव से दिया नहीं जाता। इसीलिए लेन-देन से सम्बन्ध बिगड़ते हैं। जब तक हम किसी से लेते नहीं, तभी तक हमारी शान है और माँगते ही यदि वक्त पर नहीं दिया तो सारा मान चला जाता है। मूल बदले का भाव है।

अतः हम दूसरे को दूसरा समझ कर न करें। बदले के भाव से न करें ऐसे करें जैसे अपने ही साथ कर रहे हैं तो भलाई-बुराई दोनों मिट जाएँगी और फिर न कोई सम्बंध होगा और न असम्बन्ध क्योंकि एक तो एक ही है। वह किससे जुड़े और किससे टूटे? काश, यह अद्वैत दर्शन हमारे व्यवहार में उतर आता तो आज भी और सदा, हमारे देश में राम-लक्ष्मण के अलावा और कोई न होता। लेकिन दुर्भाग्य, कि यह दर्शन हमारे लिए दर्शनों की ही चीज बनकर रह गया; व्यवहार में नहीं उतर पाया।

सम्बन्धों में अलगाव आने का सातवाँ कारण व्यक्तिगत एकान्त का अभाव है। मनुष्य का स्वभाव है कि कुछ आमोद-प्रमोद के क्षणों को छोड़, रहन-सहन एवं अन्य क्रिया-कलापों में उसे व्यक्तिगत एकान्त चाहिए। एकान्त में ही हमारा मन फुलवार होता है। अकुंठ और तनाव रहित रहता है, लेकिन जहाँ दो चार हुए कि मन स्वतः ही उद्विग्न होने लगता है। एकान्त का अभाव विक्षिप्तता और विचार-भिन्नता का जनक है। वैज्ञानिकों ने शेरों, चूहों और पौधों पर प्रयोग किये हैं। परिणाम निकाला है कि इनके नियमित व्यक्तिगत जीवन में थोड़ी दूरी

आवश्यक है। कहते हैं एक शेर को अपने—अकेले के लिए दस मील का जंगल चाहिए। इसीलिए यह कहावत बनी कि एक जंगल में दो शेर और एक म्यान में दो तलवारें नहीं समातीं। यदि एक जंगल में दो शेर और एक म्यान में दो तलवारें ठूँस दी जाएँ तो जंगल और म्यान का क्या हाल होगा? यह बताने की आवश्यकता नहीं। शेरों को भले ही न देखा हो सबने, लेकिन चूहों को तो सभी ने देखा है। जहाँ घर में दस-पाँच इकट्ठे हुए कि रातभर घर में वह नौटंकी होती है कि कहीं बर्तनों के तबले बजते हैं, कहीं बक्सों के मृदंग! फर्श और बिस्तरों पर इनका संगीतमय, गुत्थम गुत्था—छछेरी नाच, कानों में रात जगा देता है। दो चार पौधे पास-पास लगा दिये जाएँ तो सारे के सारे बीमार बने रहेंगे, कोई भी स्वस्थ फल-फूल देने लायक न होगा।

ठीक यही हाल भाई-भाई या परिचित, या सम्बन्धी या समान स्तर पद, या जाति वालों का है। लेकिन समान स्तर वालों में ही फासले का अभाव सम्बन्ध बिगाड़ने का कारण है, असमान स्तर वालों में नहीं। प्रतिस्पर्धा, जलन, ईर्ष्या, द्वेष, तनाव, भितरघात, चुगली आदि बातें समान स्तर के लोगों में ही होती हैं। जहाँ स्तर में फासला अधिक है, वहाँ बहुत कम। जैसे अफसर और चपरासी के बीच नहीं होती, लेकिन साथ-साथ रहने वाले दो अफसर और दो चपरासी—इनसे मुक्त नहीं रह सकते। पिता-पुत्र के बीच में बातें नहीं होतीं, लेकिन—भाई-भाई के बीच नहीं रुक सकतीं। अमीर और गरीब के बीच नहीं होतीं, लेकिन दो अमीर और दो गरीब, मरखने साँडों की तरह एक दूसरे को देख नहीं सकते। दो कर्मकाण्डी ब्राह्मण, दो कुत्ते, दो नाऊ बिना घुन्नाए-मन्नाए एक जगह नहीं रह सकते। ब्रजभाषा में एक कहावत प्रचलित है—

'बाम्हन कुत्ता नाऊ, जाति देखि घुर्राऊ।'

जिस घर में काफी समय तक एक ही बच्चे को लाड़ प्यार मिला हो और फिर उसके पास दो चार बच्चे और आकर रहने लगें तो अधिकाँश में ऐसा बच्चा चिड़चिड़ा और लड़ने झगड़ने वाला हो जाता है। हम उसे 'इकलखुरा' कहकर डाटते-फटकारते हैं, लेकिन बच्चा नहीं सुधरता। यहाँ बच्चे का दोष नहीं है, यह प्रकृति है। संयुक्त परिवारों के टूटने का भी यही कारण है। हिन्दू—मुसलमानों के झगड़े का भी यही कारण है। कितने ही हम धर्मनिरपेक्षता के भाषण दें और कितने ही साम्प्रदायिक सौहार्द के गीत गाएँ, मनों के मैल नहीं निकल सकते; क्योंकि एक ही घर में दो-दो के पैर फँसे हुए हैं। उस बाप की बुद्धिमानी को क्या कहा जाए, जिसने दो बेटों का बटवारा तो किया लेकिन एक दूसरे के घर में एक दूसरे का दखल बना रहने दिया! यह कैसा बटवारा?

आठवाँ कारण दो के बीच सम्बन्ध खराब करने में, तीसरा व्यक्ति भी होता है। तुलसीदास के हिसाब से ये वे हैं जो "देखि न सकहिं पराइ बिभूती।" और बिहारी ने भी ऐसे लोगों को 'दुरजन' कहकर इनके मन की 'गाँठ' का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है 'परति गाँठि दुरजन हिए दई नयी यह रीति।' ऐसे लोग हमारे

समाज में चुगल, घरफोड़, माहिल, गद्दार, नमकहराम, कुल-द्रोही, देशद्रोही आदि अनेक नामों से ख्याति लब्ध हैं। ये हमारे परिवार से लेकर, गाँव, ब्लाक, तहसील, जिला, प्रान्त, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय धरातल तक नाना रूपों में दृश्य, अदृश्य रहकर सम्बन्धों को तोड़ने के काम में घुन की तरह दिन-रात लगे हुए हैं।

इनकी वाणी मिस्री से मीठी, इनकी दलीलें दिल लुभाने वाली, इनकी चालें रामबाण, इनका लक्ष्य अचूक, इनका तर्क अकाट्य। इनकी दृष्टि पड़े तो लहलहाते तरु सूख जाएँ; इनके चरण पड़ें तो महल खंडहर हो जाएँ; इनके हाथ लगें तो चमन ऊसर हो जाएँ। इन्हीं की वजह से चोरी, कत्ल, फौजदारी, मुकदमा, आतंक, अलगाव, मनमुटाव आदि होते हैं।

सम्बन्धों में फर्क आने का नौवाँ कारण साथी की प्रगति भी होता है। जब दो या अधिक लोग साथ रहते हैं तो परस्पर एक ही दशा, एकही स्थिति, चाहे वह अभाव की हो या प्रभाव की. में जीने के अभ्यस्त हो जाते हैं, लेकिन प्रकृति तो एकसी न कभी रहती है, न किसी को रहने देती है। फलतः एक जरा भी आगे निकला कि पीछे रह जाने वाले में दो मनोभावों का उदय होता है—एक दुःख, दूसरा द्वेष या डाह। दुःख की कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। दुःख अपने आपको आगे बढ़ाने का प्रेरक भी बन सकता है और कुढ़न पैदा कर निष्क्रिय भी कर सकता है। दुःख आगे बढ़ जाने वाले साथी के प्रति हमदर्दी भी जगा सकता है और उसके प्रति वियोगजन्य करुणा का भाव जगाकर उसकी रक्षा और मंगलकामना भी। दुःख अपने आपसे आगे बढ़ जाने वाले साथी के प्रति श्रद्धा और आदर जगाकर उससे पाठ सीखने की प्रेरणा भी दे सकता है। लेकिन ऐसे उदाहरण विरले ही होते हैं। अधिकांशतः साथी के आगे निकल जाने पर ईर्ष्या, द्वेष और डाह ही पैदा होते हैं। यद्यपि ये दुर्गुण आगे बढ़ जाने वाले को पीछे नहीं खींच सकते, लेकिन पीछे रह जाने वाले को प्रिय से अप्रिय, अपने से पराया, मित्र से शत्रु, प्रशंसक से निन्दक, रक्षक से घातक और विश्वासी से धोखेबाज अवश्य बना देते हैं। और सम्बन्ध ऐसा न दिखायी देने वाला धागा है, जो जोड़ने पर तो जुड़ता है, पर बिना तोड़े टूट जाता है।

कुछ सीधी बातें हैं, जो उल्टी लगती हैं। कुछ उल्टी बातें हैं, जो सीधी होती हैं। हमारे जीवन के सम्बन्धों का गणित ऐसा ही है। यहाँ भलाई करने वाला बुरा हो जाता है और बुराइयों का चलता फिरता संग्रह अभिनन्दन का पात्र बन जाता है "बसे बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।" जीवन के गणित में, जोड़ो तो घट जाता है और घटाओ तो जुड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि जोड़ने का काम आदमी तभी करता है, जब भीतर रिक्तता अनुभव होती है, खालीपन होता है, अभाव होता है और भीतर का अभाव, कितना ही भरा जाए, पूरा होता ही नहीं। दूसरी ओर, जिसे हम घटाना (बाँटना, देना) कहते हैं, वह तभी शुरू होता है, जब भीतर अक्षय भंडार भरा लगता है—फिर कितना ही घटाएँ, घटता नहीं। घटे कैसे, जब मन भरा है और जुड़े कैसे, जब मन खाली है। सम्बन्धों की भी यही बात है। बाहर

जभी हम सम्बन्ध बनाते हैं, जब भीतर अकेलापन, सूनापन महसूस करते हैं, लेकिन जो महसूस किया जाता है, अकेलापन, निरपवाद रूप से अन्तिम सच्चाई वही है कि हम अकेले थे, हैं और रहेंगे—भले ही बाहर के कृत्रिम सम्बन्धों से कितना ही इसे भरें। बाहर के सम्बन्ध लोहे के ढाँचे पर चुपकाये गये मोम के हाथ पैर हैं कि ढाँचा शीतल हुआ, वे चुपके रहेंगे; ढाँचा गरम हुआ, वे पिघल कर अलग हो जाएँगे। धूप-छाँह तो आएँगी और जाएँगी।

सम्बन्ध दूसरों के कारण बहुत कम टूटते हैं, अधिकतर वे हमारे ही कारण टूटते हैं; क्योंकि उनके जोड़ने वाले हम ही हैं। लेकिन उनके टूटने के कारणों को हम दूसरों पर आरोपित कर देते हैं। यह भूल जाते हैं कि कार्य-कारण अलग-अलग नहीं होते—जहाँ कार्य होता है, वहीं अदृश्य रूप में उसका कारण छिपा रहता है। हाँ उसका प्रतिफलन अलग दिखायी दे सकता है। प्रेम बाहर होने से पहले अपने मन में हो जाता है। शत्रुता बाहर होने से पहले अपने मन में हो जाती है—सिर्फ इनका प्रतिबिम्ब निर्दिष्ट आलम्बन में दिखाई देता है। संसार और सम्बन्ध हमारे भीतर के बिम्ब के बाहरी प्रतिबिम्ब ही हैं। हमारी ध्वनि न होगी तो प्रतिध्वनि भी सुनायी न देगी।

हर पल सब कुछ बदलता जा रहा है तो सम्बन्ध कैसे स्थिर रहें? लेकिन हमारी दृष्टि प्रतिबद्ध होकर जड़ हो गयी है, इसलिए बदलाव टूटन दिखायी देता है। टूटता कुछ नहीं, बदलता सब कुछ है। लोग दल बदलुओं को बेभरोसे के या बेपेंदी के लोटा कहकर उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं, उन पर विश्वास नहीं करते। लेकिन दल बदलू, जीवन की बहुत गहरी सच्चाई का नमूना प्रस्तुत कर देते हैं यद्यपि जानते वे भी नहीं कि हमारे इस कुकृत्य से जीवन का एक गंभीर रहस्य व्याख्यायित हो रहा है और जीवन का रहस्य है परिवर्तन तथा परिवर्तन का रहस्य है कि जो है, वह नहीं रहता है और जिसकी कल्पना भी नहीं है, वह होना है। सूरज, चाँद, सितारे, रात-दिन, मौसम, साथी, भाव, विचार, भाषा, अर्थ सभी तो दलबदलू हैं और इसी रहस्य का पर्दाफाश कर रहे हैं कि यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। सब कुछ गतिशील है। सब अनुकूल प्रतिकूल और प्रतिकूल अनुकूल बनने वाला है—एकही साँचे में अपने आपको मत ढालो, वरना बिखर जाओगे। जो है, उसी को पूरा मत मानो नहीं तो धोखा खाओगे, उसमें विपरीत को भी छिपा समझो। 'तदेजति तन्नैजति' (ईशाकस्य) कहकर उपनिषद् के ऋषि ने इसी सत्य का उद्घाटन किया था कि वह चलता है, नहीं भी चलता। वह पदार्थ भी है, वह ऊर्जा भी है। वह मित्र भी है, वह शत्रु भी है। हमारे मन की आँख जो भी देख पाये! दूसरा जिम्मेदार नहीं है। जो घूम रहा है, तेजी से, वह स्थिर और एक दिखायी देता है और जो स्थिर हो गया, वह खंड-खंड और पोर-पोर बिखरा, असंबद्ध दिखायी देता है।

अतएव हमारे सम्बन्धों के टूटने का दसवाँ कारण प्रतिबद्धता भी बन जाती है। यही हमारी सबसे बड़ी कठिनाई है कि हम किसी एक भाव, एक सम्बन्ध, एक व्यक्ति, एक परिस्थिति से ही बँध जाते हैं। एक ही खाँचे में अपने आपको भर

लेते हैं। यह जरा भी नहीं सोचते कि जो हो चुका, वह हो चुका—अब उसके विपरीत होना है। भलाई तो हो चुकी, अब बुराई होती है—चाहे इधर से हो या उधर से! मित्रता तो होते ही हो चुकी, अब शत्रुता होनी है—चाहे निमित्त मैं बनूँ या वह बने? मिलन तो हो चुका, अब बिछुड़ना है—साथ पहले वह छोड़े-या मैं छोड़ूँ? जन्म तो हो चुका, अब मृत्यु होनी है—चाहे आज हो या कल?

प्रतिबद्धता का अर्थ है धारणाओं को धारण करके चलना, मान्यताओं को मानकर गाँठ बाँध लेना; सिद्धान्तों का कवच बनाकर पहन लेना; रीति-रिवाजों के साँचों में जीवन को भर देना! और इन्होंने हमें बाहर से जोड़कर भीतर से तोड़ डाला है। हमारा सामाजिक जीवन इन्हीं पर टिकाया गया है। सदियों पुराने युग के नाप के अनुसार बने हुए पैमानों से हम नाप रहे हैं। जैसे, दस पीढ़ी पुराने परदादा के परदादा के बचपन के वस्त्रों को हम आज जवानी में पहन कर चलें और आधुनिक होने का दावा करें।

यहाँ कुछ भी निश्चित नहीं है। पात्रों का भेद है। जो कहा जाता है, वह सुना नहीं जाता। जो सुना जाता है, वह समझा नहीं जाता। इसलिए कहा-सुनी हो जाती है।

इन सम्बन्धों के सार को ध्वनित करती हुई एक बार मेरे अन्तःकरण से स्पष्ट आवाज आयी। कोई बोला कि हे मेरे मित्रवत् शत्रु और शत्रुवत् मित्र, हे मेरे भाईवत कसाई और कसाईवत भाई, हे मेरे पितावत् पुत्र और पुत्रवत् पिता, हे मेरी मातृवत् पत्नी, हे मेरे गुरुवत् शिष्य और शिष्यवत् गुरु! तुम मेरे सब कुछ हो और कुछ भी नहीं हो। तुम्हें ये बातें अनर्गल और असंगत लगेंगी, लेकिन यही संगत हैं। मैं तुम्हारी निन्दा भरी प्रशंसा करता हूँ और उचित सलाह के साथ पूरी तरह भटकाकर आँख के कान से सच्चा झूठ दिखाता हूँ और कान की आँख से झूठा सत्य सुनाता हूँ। देख और सुन कि जो है, वह नहीं है और जो नहीं है, वह है। इसलिए तू देखकर अनदेखा रह; तू सुनकर अनसुना बन; तू बँधकर मुक्त हो; तू सोता हुआ जाग और जागा हुआ सो; तू चलता हुआ ठहर और ठहरा हुआ चल; तू बोलता हुआ चुप रह और चुप रहता हुआ बोल। तू ना समझ समझदार है, इसलिए न समझते हुए समझने का प्रयास कर कि तू सिर्फ परिवर्तन है।

डा० दरवेश सिंह
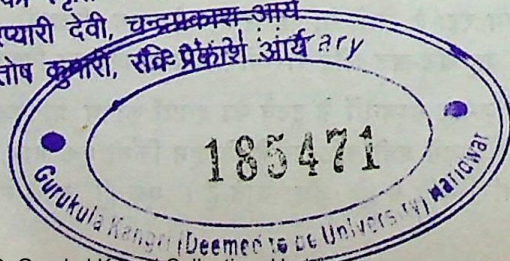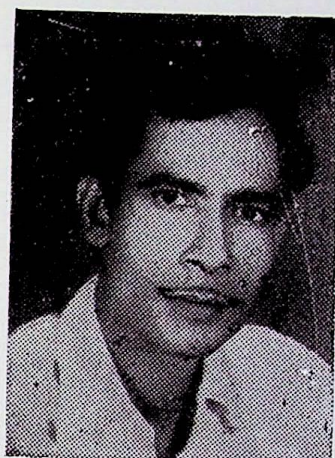
जन्म तिथि:–९–९–१९४४ (हाई स्कूल प्रमाण पत्र में) फरवरी १९४८ (वास्तविक)

जन्म स्थान:–मुकुटपुर, तहसील खैर, जिला अलीगढ़।

पिता:–श्री ठा० डम्बर सिंह।

माता:–स्वर्गीया श्रीमती लौंगश्री देवी।

शिक्षा:–एम०ए० (हिन्दी) १९६९ ई० में अ०मु० विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में, प्रथम स्थान, स्वर्ण पदक प्राप्त।
पी–एच०डी० (१९७३ ई०)

साहित्यिक उपलब्धि:–
मूलत: निबन्ध–लेखक। अब तक लगभग १५० निबंध (विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिव्यंजक एव ललित) लिखे जा चुके हैं, जिनमें से लगभग ५० निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। पुस्तकाकार में यह पहला संग्रह है।

निबंधों के अतिरिक्त कविताएँ और समीक्षाएँ भी लिखी हैं और पत्रिकाओं में छपी हैं। दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान और भाषा–विज्ञान में विशेष अभिरुचि।

संप्रति:–जवाहर लाल नेहरू स्मारक पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, महाराजगंज में हिन्दी प्राध्यापक।

वर्तमान पता:–८/१०२, सिविल लाइन्स, महाराजगंज, जिला महाराजगंज–२७३३०३ (उ०प्र०)

कुसुम प्रकाशन की महत्वपूर्ण पुस्तकें

पुस्तक	लेखक	मूल्य
☐ आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और उनका हिन्दी–भाषा व्याकरण	–डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	रु० ८-००
☐ गोरखनाथ की भाषा का अध्ययन	–डा० कमल सिंह	रु० ६५-००
☐ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनके उत्तराधिकारी	–डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	रु० ११-००
☐ यशपाल के कथा–साहित्य का समाज सापेक्ष अध्ययन	–डा० सुरेन्द्र सिंह अत्रीश	रु० ८०-००
☐ भाषा–चिन्तन	–डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	रु० ५०-००
☐ हिन्दी रिपोर्ताज	–डा० वीरपाल वर्मा	रु० ४५-००
☐ नयी कविता : एक मूल्यांकन	–शम्भूदत्त पाण्डेय	रु० ६०-००
☐ गोरखनाथ और उनका हिन्दी साहित्य	–डा० कमल सिंह	रु० ७०-००
☐ विष्णु प्रभाकर	–सं० डा० विश्वनाथ मिश्र –डा० कृष्णचन्द्र गुप्त	रु० २००-००
☐ चक्रव्यूह (उपन्यास)	–डा० सुखपाल सिंह	रु० ४०-००
☐ सामान्य हिन्दी भाषा	–डा० कमल सिंह –डा० सुखपाल सिंह	रु० ५०-००
☐ नयी कविता में बिंब–विधान	–मृदुल जोशी	रु० १००-००
☐ कृष्ण बुद्ध गांधी	–मुसद्दीलाल कम्बोज	रु० २००-००
☐ हिन्दी साहित्य की भ्रांतियाँ और उनका निराकरण	–वेदप्रकाश गर्ग	रु० १७०-००
☐ नाटक का रंग-विधान	–डा० विश्वनाथ मिश्र	रु० ३००-००
☐ दैनिक जीवन में विज्ञान	–डा० सरोज भाटिया	रु० ७०-००

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)–२५१००१